महान श्रुतधर वाचकश्रेष्ठ उमास्वातिविरचित

प्रशमरति

भाग–२

[श्लोक-अर्थ विवेचन सहित]

विवेचनकार
पन्यासप्रवर श्री भद्रगुप्तविजयजी गणीवर

अनुवादक
भद्रबाहुविजय

प्रकाशक : श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट, कम्बोईनगर के पास
मेहसाना . 384 002 (Gujarat)

प्रथम संस्करण : प्रति २०००, वि सं. २०४२, श्रावण

मूल्य : २०/–रु.

मुद्रक : सुरेख प्रिन्टर्स, १७७/१, जी. आई डी सी मेहसाना-३८४००२

न्यायविशारद जिनशासनशणगार
वर्धमान आयंबिल तप की १०८ ओली के
अप्रमत्त आराधक, हजारों नवयुवकों में
शील, संस्कार और धर्मभावना को भरनेवाले
पूज्यपाद गुरुदेव आचार्यभगवंत श्री
विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराजा
के करकमलों में
आदरसहित/बहुमानसहित

शिशु
भद्रगुप्तविजय

सुकृत के सहयोगी

श्री सभवनाथ जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सघ विजयवाडा (आन्ध्र प्रदेश) के ज्ञानखाते मे से इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे हमारे ट्रस्ट को सुन्दर आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। हम श्री सघ के सुकृत की हार्दिक अनुमोदना करते है।

मेहसाना
श्रावण सुदी १२
वि सं २०४२

जयकुमार वी परीख
मेनेजिग ट्रस्टी

प्रशमस्थेन येनेयं कृता वैराग्यपद्धतिः ।
तस्मै वाचकमुख्याय नमो भूतार्थभाषिणे ।।

अज्ञात टीकाकार महर्षि ने इस श्लोक के माध्यम से वाचकश्रेष्ठ को नमस्कार किया है। मैं भी इसी श्लोक से भावपूर्ण हृदय से उन पूर्वधर महर्षि के चरणों में नमस्कार करता हूँ।

श्रमणजीवन के शैशवकाल में जब आंतरशान्ति और वैराग्यपरिणति के लिए 'ज्ञानसार' और 'प्रशमरति' जैसे उत्तम ग्रंथों का रात्रि के समय अकेले-अकेले स्वाध्याय करता था तब कितना आंतरिक आनंद अनुभव करता था! व्यावहारिक जीवन के अनेक द्वन्द्वों के बीच उस समय निर्द्वन्द्व आत्मानंद की अनुभूति होती थी। वर्षों तक इन ग्रंथों ने मेरे मन को शान्ति प्रदान की है, रसायन दिया है, अमृतपान कराया है।

मेरे भावप्राणों को नवपल्लवित करने वाले ये ग्रंथ जब तक मुझे संसार में जन्म लेना पड़े तब तक मिलते रहें—मेरा हृदय ऐसी कामना करता रहता है। 'ज्ञानसार' के रचयिता न्यायाचार्य न्यायविशारद उपाध्याय श्री यशोविजयजी को और 'प्रशमरति' के रचयिता वाचकश्रेष्ठ पूर्वधर महर्षि उमास्वाति को मेरी भावपूर्ण वन्दना हो।

इन ग्रंथों के अनुशीलन में मैंने जो आनन्द अनुभव किया, वैसा आनन्द सभी मुमुक्षुओं को प्राप्त हो, इस भावना से मैंने अनुचिन्तन लिखना शुरू किया, और दोनों ग्रंथों पर विवेचना लिखने का कार्य पूर्ण हुआ।

वि.सं. २०५३ का चातुर्मास पाटन [गुजरात] में हुआ था। उस समय 'प्रशमरति' का अच्छा मनन-चिन्तन हुआ। मैंने पहले इस ग्रंथ पर श्री हरिभद्रसूरिजी [याकिनीमहत्तरासूनु नहीं दूसरे] की टीका पढ़ी थी। पाटन के ज्ञानभण्डार में से दूसरी भी टीका मिली। भावनगर [सौराष्ट्र] की श्री जैनधर्म प्रसारक सभा की ओर से वि.सं. १९६६ में मुद्रित हुई वह टीका है। टीका

है, परन्तु टीकाकार का नाम नहीं है । उस प्रति मे 'अवचूरी' भी छपी हुई है, परन्तु लेखक का नाम नही है । जब मैंने उस अज्ञात टीकाकार की टीका पढी, मुझे अपार आनन्द हुआ । आर्हत श्रुत का दिव्य प्रकाश प्राप्त हुआ । पाटन के उस चातुर्मास मे दोनो टीकाओ का सहारा लेकर प्रशमरति का स्वाध्याय किया । उस समय ही 'मुझे प्रशमरति पर विवेचन लिखना है,' वैसा विचार आ गया था ।

विवेचन लिखने मे मैंने उपलब्ध दोनो टीकाओ का सहारा लिया है । दोनो टीकाग्रन्थो ने मुझे तत्त्वानुप्रेक्षा मे हर समय मार्गदर्शन दिया है । मैं उन दोनो टीकाकार महर्षिओ के चरणो मे भावपूर्ण वदना करता हू ।

मैंने यह विवेचन गुजराती भाषा मे लिखा है । हिन्दी रूपान्तर किया है मेरे अन्तेवासी मुनि भद्रबाहु ने । हिन्दीभाषी जनता के लिये अब यह ग्रथ उपलब्ध हो रहा है । दो भागो मे यह ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है ।

विवेचन की रसमयता बनी रहे, इस हेतु से तात्त्विक विषयो का विवेचन अलग परिशिष्टो मे दिया गया है । सारे परिशिष्ट एक साथ दूसरे भाग मे दिये गये है । 'प्रशमरति' का अध्ययन करने वालो के लिए परिशिष्ट बहुत उपयोगी सिद्ध होगे ।

सभी जीव अन्त करण की शान्ति प्रशम, उपशम प्राप्त करें और निरवधि आनन्द की अनुभूति करे—यही कामना है । मेरे मद क्षयोपशम से और मेरी अल्प बुद्धि से कुछ भी विसवादी लिखा गया हो, तो 'मिच्छामि दुक्कड' ।।।

कोयम्बतूर
श्रावण सुदी १२
वि. स २०४२

— भद्रगुप्तविजय

प्रकाशकीय

निवेदन करते हुए अति आनन्द होता है कि हम वाचकश्रेष्ठ श्री उमास्वाति विरचित 'प्रशमरति' ग्रंथ के द्वितीय भाग का प्रकाशन कर रहे हैं।

हिन्दी मासिक पत्र 'अरिहंत' में दो वर्षों से क्रमशः 'प्रशमरति' का विवेचन प्रकाशित हो रहा था। इस तात्त्विक विषयों को भी जिज्ञासा से एवं रसपूर्वक पढ़नेवाला विशाल हिन्दी भाषी वर्ग है—यह जानकर हमने पुस्तक रूप में [दो भागों में] इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने का निर्णय किया और प्रथम भाग पाठकों के करकमलों में प्रस्तुत करने के पश्चात अब द्वितीय भाग भी प्रस्तुत है।

द्वितीय भाग के प्रकाशन में हमें विजयवाड़ा—श्री संभवनाथ जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ का सुन्दर आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। हम श्री संघ के प्रति कृतज्ञभाव प्रगट करते हैं।

हिन्दी साहित्य का प्रकाशन विशेष रूप से करने की हमने योजना बनायी है। दो वर्ष में पन्द्रह से भी ज्यादा पुस्तकों का प्रकाशन करना हम चाहते हैं। पूज्य गुरुदेवश्री की प्रेरणा एवं मार्गदर्शन में हमारी साहित्य प्रकाशन की यात्रा निरंतर चल रही है।

दो भागों में प्रशमरति प्रकाशित होने के बाद हम 'ज्ञानसार' विवेचन को भी प्रकाशित करेंगे। जैन तत्त्वज्ञान के ये दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। जिज्ञासु मुमुक्षु लोग इन ग्रंथों का स्वाध्याय कर सकें, अध्ययन मनन चिंतन कर सकें और अपनी आत्मा को निर्मल करते रहें—इसी भावना से इन ग्रंथों का प्रकाशन कर रहे हैं। त्रुटियों के लिए क्षमाप्रार्थी हैं।

मेहसाना

ट्रस्टीगण

श्री वि. क. प्र. ट्रस्ट

'प्रशमरति' के २२ विषय

१ पीठबंध
२ कषाय
३ रागादि
४ कर्म
५ करण
६ अर्थ
७ मदस्थान
८. आचार
९ भावना
१० धर्म
११ कथा
१२ जीवादि
१३ उपयोग
१४ भाव
१५ द्रव्य
१६. चरण
१७ शीलाग
१८ ध्यान
१९ श्रेणी
२० समुद्घात
२१ योगनिरोध
२२ शिवगमन

प्रथम भाग मे १ से ११ विषय दिये गये है।
द्वितीय भाग मे १२ से २२ विषय दिये गये है।

विषयानुक्रम

'प्रशमरति' के २२ विषय

१ पीठबन्ध
२ कषाय
३ रागादि
४ कर्म
५ करण
६ अर्थ
७ मदस्थान
८ आचार
९ भावना
१० धर्म
११ कथा
१२ जीवादि
१३ उपयोग
१४ भाव
१५ द्रव्य
१६ चरण
१७ शीलांग
१८ ध्यान
१९ श्रेणी
२० समुद्घात
२१ योगनिरोध
२२ शिवगमन

प्रथम भाग मे १ से ११ विषय दिये गये है ।
द्वितीय भाग मे १२ से २२ विषय दिये गये है ।

विषयानुक्रम

प्रशमरति परिशिष्ट



वाचकश्रेष्ठ उमास्वातिविरचित

प्रशमरति

द्वितीय भाग

विवेचनकार

पन्यासप्रवरश्री भद्रगुप्तविजयजी गणीवर

श्लोक जोवाजीवा पुण्य पापास्रवसवरा सनिजरणा ।
बन्धो मोक्षश्चते सम्यक चिन्त्या नवपदार्था ॥१८६॥

अर्थ जीव अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर निजरा बध एव मोक्ष—इन नौ पदार्थों का अच्छी तरह चितन करना चाहिए।

विवेचन आध्यात्मिक क्षेत्र मे प्रवेश पाने के लिये मुमुक्षु आत्माओ को चाहिए कि वे नौ तत्त्वो को जाने। उनका भलीभाति चिन्तन-मनन करें। सर्वज्ञ के धर्मशासन के ये मूलभूत बुनियादी तत्त्व हैं। सभी शास्त्र सभी आगम व ग्रथ इन्ही नौ तत्त्वो का विस्तृत फैलाव है। यहा पर ग्रथकार ने इस कारिका मे नौ तत्त्वो के नाम बतलाये हैं और वे अनुरोध कर रहे हैं कि—इन नौ तत्त्वो का चिन्तन बारीकी से करना, गहराई से सोचना इन तत्त्वो पर !

नौ तत्त्वो की सक्षिप्त व्याख्या समझ लें

[1]१ जीव– आयुष्य कर्म के योग से जो जीव जीते हैं एव जियेंगे उन्हे जीव कहा जाता है।

[2]जो प्राणो के (बल, इन्द्रिय, आयुष्य, श्वास-उच्छ्वास) आधार पर जिये हैं जी रहे हैं—एव जियेंगे—उन्हे 'जीव' कहा जाता है। बल, इन्द्रिय, आयुष्य एव श्वासोच्छ्वास 'द्रव्य प्राण' कहे जाते हैं। जबकि ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग 'भाव प्राण' कहे जाते हैं।

२ अजीव– जिसमे द्रव्यप्राण व भावप्राण न हो उसे अजीव कहा जाता है।

३ पुण्य– जिसका उदय शुभ होता है वैसी ४२ कर्म प्रकृतिया।

४ पाप– जिसका उदय अशुभ हो वैसी ४२ कर्म प्रकृतिया।

५ आस्रव– शुभ-अशुभ कर्मों को ग्रहण करने के हेतु।

६ सवर– आस्रवो का निरोध।

---

1 जीव प्राणधारणे—अजीवन जीवन्ति जीविष्यन्ति आयुर्योगतति जिवत्वयाज्
जीवा । —जीवविचार टीकायाम्
जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा जीव । —पचास्तिकाय टीकायाम्

2 पाणेहि चदुहि जीवदि जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्व ।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाऊ-उस्सासो ॥३०॥ —पचास्तिकाये

७ निर्जरा– पूर्वबद्ध कर्मो का तपश्चर्या से या भोगने से होने वाला नाश ।

८ बंध– कर्म-पुद्गलो के साथ जीवप्रदेश का एकात्म सबंध ।

६ मोक्ष– सर्व कर्मो का नाश एव आत्मा का आत्मा मे अवस्थान ।

इन नौ तत्वो का—पदार्थो का विस्तृत एव गहरा ज्ञान ग्रन्थकार स्वय आगे के श्लोको मे करवा रहे है। सबसे पहले जीव पदार्थ के भेद [प्रकार] बतला रहे है :

जीव तत्त्व

श्लोक . **जीवा मुक्ताः ससारिणश्च, संसारिणस्त्वनेकविधाः ।**
लक्षणतो विज्ञेया द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-षड्भेदाः ॥१६०॥

अर्थ : जीव दो तरह के होते है—मुक्त जीव एव ससारी जीव । ससारी जीव दो-तीन-चार-पांच-छह वगैरह अनेक तरह के होते है । उन जीवो को लक्षण से जानने चाहिए ।

विवेचन : जीवो के मुख्य दो भेद है · मुक्त जीव एव ससारी जीव । आठ कर्मो के बधन से जो छूट जाते हैं, उन्हे मुक्त जीव कहे जाते हैं । एक बार मुक्त हुए जीव फिर कभी भी वापस कर्मो से बधते नही हैं । वे कर्मो से लिप्त नही बनते है, कर्मो से आवरित नही बनते है...। मुक्त आत्मा कभी भी ससारी नही होती । इसलिये मुक्तात्मा की स्थिति सादि अनंत कही जाती है । सादि = प्रारंभयुक्त, अनत = अंतरहित ।

मुक्त का समानार्थी शब्द है सिद्ध । सिद्ध आत्माओ का स्वरूप-दर्शन 'आचराग सूत्र' मे इस तरह करवाया गया है वे न तो दीर्घ हैं. . न ह्रस्व है...न गोल हैं...न त्रिकोण हैं...चतुष्कोण नही हैं...परिमडलात्मक नही है । न लाल हैं...न हरे है...न शुक्ल है । कृष्ण नही हैं... नीले नही हैं । दुर्गन्ध नही है...सुगन्ध नही हैं । न तीखे है... न चरपरे है । कडवे नही है...न खट्टे हैं। कापायी नही है...मधुर नही हैं...मृदु नही है । कर्कश नही हैं । भारी नही है...हल्के नही हैं । शीतल नही है. उष्ण नही है । स्निग्ध नही हैं. रुक्ष-खुरदरे नही है. । शरीरी नही है । रोहक नही हैं. । स्त्री भी नही, पुरुष भी नही, न ही वे नपु सक हैं ।

मुक्त जीवात्मा अशरीरी होने से तमाम धर्मों से मुक्त हैं। सारे धर्मों से मुक्त होने के कारण, कर्मजन्य प्रभाव से मुक्त होते हैं।

वे अनत ज्ञानी होते हैं। अनत दर्शनी होते हैं। क्षायिक चारित्री होते हैं। अनत सुखी होते हैं। अनत वीर्यवान होते हैं। अक्षय स्थिति वाले होते है। अमूर्त होते हैं। अगुरुलघु पर्यायवाले होते हैं।

हालाकि, मुक्त जीवो में 'जीव की यह परिभाषा 'आयुष्य कर्म के योग से जो जिये हैं जी रहे हैं और जियेंगे उन्हे जीव कहा जाता हैं', यह बराबर नही घटेगी। 'प्राणो के आधार पर जो जिये हैं' यह परिभाषा भी उपयुक्त नही लगेगी। चूकि मुक्त जीवो को 'आयुष्य कर्म' नही होता है एव वल इन्द्रिय वगरह द्रव्य प्राण भी नही होते हैं। मुक्त जीवा का अस्तित्व उनके भावप्राण ज्ञानउपयोग एव दर्शनउपयोग से होता है। यानी उनकी चेतना ही उनका अस्तित्व है। 'चेतना लक्षणो जीव' यह परिभाषा मुक्त जीवो मे बराबर घटेगी।

मुक्त आत्माओ का सुख कसा होता है ? उनका आनन्द कसा होता है ? वगरह अतीन्द्रिय बातें तो वसे योगी पुरुष ही जान सकते हैं कि जिनके कषाय उपशात हो, जिनको आत्मपरिणतिरूप ज्ञान प्राप्त हुआ हो, जो लम्बे समय तक परमतत्वो के ध्यान म लीन-तल्लीन बने रहते हो!

ससारी जीवो के अनक प्रकार हैं। ससार की चार गतिया मे परिभ्रमण कर रहे जीवो के दो तीन चार पाच व छह प्रकार और उनके अवान्तर अनेक प्रकार ग्रथकार स्वय अब आने वाले श्लोको के जरिये स्पष्ट कर रहे हैं। उनके लक्षण भी बता रहे हैं।

जीव के प्रकार

श्लोक द्विविधाश्चराचराख्यास्त्रिविधा स्त्रीपुनपुसका ज्ञेया ।
नारकतिर्यग्मानुषदेवाश्चतुर्विधा प्रोक्ता ॥१९१॥
पञ्चविधास्त्वेकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाश्च निर्दिष्टा ।
क्षित्यम्बुवह्निपवनतरवस्त्रसाश्च षड्भेदा ॥१९२॥

अर्थ (ससारी जीव) चर (त्रस) और अचर (स्थावर) नामक दो तरह के बताये गये हैं। स्त्री-पुरुष नपुसक-तीन प्रकार के हैं। नारक

तिर्यंच, मनुष्य एव देव–यह चार प्रकार के कहे जाते हैं।
एकेन्द्रिय-बेइन्द्रिय-तेइन्द्रिय चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय–इस प्रकार से जीव गिने गये हैं। पृथ्वी-पानी-वायु-वनस्पति एवं त्रस, ये भेद बतलाये गये हैं।

विवेचन : [1]संसरण—परिभ्रमण यानी संसार। संसारी यानी चार गति मे परिभ्रमण करने वाला।

दो प्रकार—सांसारिक जीवों के मुख्य दो भेद बताये गये हैं : चर एव अचर। चर जीवों को त्रस कहा जाता है, अचर जीवों को स्थावर कहा जाता है।

[2]इच्छापूर्वक या अनिच्छया जो जीव ऊपर-नीचे या तिरछी गति कर सकता है, उस जीव को त्रस-चर कहा जाता है। जो जीव शीत-गर्मी आदि उपद्रव होने पर भी अपना स्थान छोड़ न सके, इच्छा से या अनिच्छा से गति न कर सके, उन जीवों को स्थावर-अचर कहा जाता है।

तेजस्काय, वायुकाय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, व पंचेन्द्रिय जीव [3]चर हैं। पृथ्वीकाय, अप्काय, एव वनस्पतिकाय–ये स्थावर जीव हैं।

तेजस्काय व वायुकाय के जीव 'गतित्रस' कहे जाते हैं। इसके अलावा बेइन्द्रिय वगैरह जीव 'लब्धित्रस' कहे जाते हैं। अग्नि व वायु की मात्र ऊंची-नीची-तिरछी गति होती है इच्छा अनुसार गति नही होती। जबकि बेइन्द्रिय वगैरह जीवों की गति इच्छा से होती है, इसलिये उन्हे 'लब्धित्रस' कहा जाता है। इच्छा–एक तरह की लब्धि है।

तीन प्रकार—[4]संसारी जीव जब तीन तरह के बताये जाते हैं, तब उन जीवों के तीन प्रकार होते हैं :

---

1 संसरणं–भ्रमणं संसार, स एवास्त्येषामिति संसारिण।
—जीवविचार-टीकायाम्

2 अभिसन्धिपूर्वकमनभिसन्धिपूर्वकं वा ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् चलन्तीति त्रसा।
उष्णाद्यभितापेऽपि तत्स्थानपरिहारासमर्था. सन्तस्तिष्ठन्ति इति एवशीला: स्थावरा.।
—जीवाभिगम-टीकायाम्

3 से किं त थावरा? थावरा तिविहा पन्नत्ता, त जहा पुढविकाइया, आउक्काइया, वणस्सईकाइया।
—जीवाभिगमे। सूत्र–१०

4 तत्थ जे ते एवमाहसु तिविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता ते एवमाहसु, त जहा इत्थि पुरिसा णपुंसका।
—जीवाभिगमे। सूत्र–४८

१ स्त्री २ पुरुष ३ नपुंसक

⊛ स्त्री वेद (मोहनीय कर्म) के उदय से स्त्री का जीवन मिलता है।

⊛ पुरुष-वेद (मोहनीय कर्म) के उदय से पुरुषत्व मिलता है।

⊛ नपुंसक-वेद (मोहनीय कर्म) के उदय से नपुंसकत्व मिलता है।

उन उन वेदोदय के अनुरूप जीवात्मा का शरीर, स्वभाव, भावना, वगैरह की प्राप्ति होती है। श्री जीवाभिगम सूत्र में टीकाकार आचार्यश्री ने एक एक श्लोक से स्त्री-पुरुष एवं नपुंसक का स्वरूप समझाया है[1]।

स्त्री—स्त्री के शरीर के सात लक्षण है। योनि मृदुता अस्थिरता, मुग्धता, अबलता, स्तन एवं पुरुषकामिता।

पुरुष—पुरुष के सात लक्षण हैं पुरुषचिह्न, कठोरता, दृढ़ता पराक्रम, श्मश्रु, धृष्टता एवं स्त्रीकामुकता।

नपुंसक—मोहाग्नि की प्रबलता, स्त्री पुरुष के लक्षण कुछ हो, कुछ न हो न स्त्री हो न पुरुष हो।

चार प्रकार संसारी जीवों की पहचान जब चार प्रकार में रूप में की जाती है तब १ नारक, २ तिर्यच, ३ मनुष्य एवं ४ देव इस तरह चार प्रकार होते हैं।

नरक	नाम	गोत्र
पहली	घमा	रत्नप्रभा
दूसरी	वंशा	शर्कराप्रभा

1 योनिर्मृदुत्वमस्थैर्यं, मुग्धताऽबलता स्तनौ।
पुंस्कामितेति लिङ्गानि, सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते॥
मेहनं, खरता दार्ढ्यं, शौण्डीर्यं श्मश्रु धृष्टता।
स्त्रीकामितेति लिङ्गानि सप्त पुंस्त्वे प्रचक्षते॥
स्तनादिश्मश्रुकेशादि भावाभाव समन्वितम्।
नपुंसकं बुधाः प्राहुर्मोहानलसुदीपितम्॥

2 तत्थ जे ते एवमाहंसु चउव्विहा संसारसमावन्नगा जीवा पन्नत्ता ते एवमाहंसु तं जहा—नेरइया, तिरिक्खजोणिया मणुस्सा देवा।

—जीवाभिगमे। सूत्र–६५

नरक	नाम	गोत्र
तीसरी	शैला	वालुकाप्रभा
चौथी	अंजन	पंकप्रभा
पाँचवीं	रिष्टा	धूमप्रभा
छट्ठी	मघा	तमःप्रभा
सातवीं	माघवती	तमःतमःप्रभा

प्रश्न : नाम एवं गोत्र में भेद क्या है ?

उत्तर [1]नाम अनादिकाल–सिद्ध हैं और अर्थरहित हैं। गोत्र अर्थयुक्त हैं। जैसे–पहली नरक का नाम 'घर्मा' है। जिसका अर्थ नरक के साथ तनिक भी संबंधित नहीं है। परन्तु अनादिकाल से यही नाम है एवं अनन्तकाल-पर्यंत यही नाम रहेगा। गोत्र का नाम है रत्नप्रभा। यह 'प्रभा' का अर्थ है बहुलता-अधिकता यानी रत्नप्रभा–पहली नरक में रत्न काफी है। उसी तरह शर्कराप्रभा यानी जहाँ शर्करा की बहुलता है।

तिर्यंचों के पाँच प्रकार—[2]एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय। ये तिर्यंच तीन विभाग में विभाजित हैं। जलचर (पानी में चलने वाले) स्थलचर (जमीन पर चलने वाले) खेचर (आकाश में उड़ने वाले)

❀ जलचर—बड़े बड़े मत्स्य, मछलियां, कछुआ, घड़ियाल, जलघोड़ा वगैरह..

❀ स्थलचर—चतुष्पद–गाय वगैरह, उरपरिसर्प–सांप वगैरह, भुजपरिसर्प–नेवले वगैरह।

❀ खेचर—रोमज (रोयें के पंखवाले–तोता, कौआ वगैरह) चर्मज (चमड़े के पंख वाले चमगादड़ वगैरह)

1. तत्र नामगोत्रयोरयं विशेष–अनादिकालसिद्धमन्वर्थरहितं नाम, सान्वर्थं तु गोत्रम्।
—जीवाभिगम टीकायाम्

2. से किं तं तिरिक्खजोणिया ? तिरिक्खजोणिया पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा एगिंदियतिरिक्खजोणिया, बेइंदियतिरिक्खजोणिया, तेइंदियतिरिक्खजोणिया, चउरिंदियतिरिक्खजोणिया, पंचिंदियतिरिक्खजोणिया।
—जीवाभिगमे। सूत्र ९६

[1]मनुष्य के तीन प्रकार—कर्मभूमि के १५ (भरत-५, ऐरवत-५, महाविदेह-५=१५)

अकर्मभूमि के ३० (हैमवत-५, एरण्यवत्त-५, हरिवर्ष-५, रम्यक्-५ देवकुरु-५, उत्तरकुरु-५,=३०) अंतरद्वीप के ५६

प्रश्न कर्मभूमि किसे कहते हैं ?

उत्तर जिस भूमि में हथियार, लेखन व कृषिकर्म से व्यवहार चलता हो उसे कर्मभूमि कहा जाता है।

प्रश्न अकर्मभूमि किसे कहते हैं ?

उत्तर जहां पर हथियार, लेखन व कृषि के बिना ही व्यवहार चलता हो उसे अकर्मभूमि कहते हैं।

प्रश्न अंतरद्वीप किसे कहते हैं ?

उत्तर इस जम्बूद्वीप में 'हिमवत' व 'शिखरी' नामक दो पर्वत हैं। ये पूर्व एवं पश्चिम में लम्बे विस्तृत हैं। उनके दोनों छोर दो विभाग में लवण समुद्र से मिले हुए हैं। अतः कुल आठ छोर हुए। प्रत्येक छोर पर सात-सात द्वीप हैं। इससे कुल ५६ द्वीप होते हैं। इन ५६ अंतरद्वीपों में युगलिक मनुष्य एवं तिर्यंच रहते हैं।

[2]देवों के चार प्रकार — १ भवनपति २ व्यंतर—वाणव्यन्तर ३ ज्योतिषी, ४ वैमानिक।

भवनपति के १० प्रकार

१ असुरकुमार २ नागकुमार, ३ सुवर्णकुमार, ४ विद्युतकुमार ५ अग्निकुमार, ६ द्वीपकुमार, ७ उदधिकुमार, ८ दिशाकुमार, ९ पवन कुमार १० मेघकुमार।

व्यंतर के ८ प्रकार

१ पिशाच, २ भूत ३ यक्ष, ४ राक्षस, ५ किन्नर, ६ किंपुरुष ७ महोरग, ८ गंधर्व।

1 से किं तं गब्भवक्कंतियमणुस्सा ? गब्भवक्कंतियमणुस्सा तिविहा पण्णत्ता तं जहा कम्मभूमगा, अकम्मभूमगा अंतरदीवगा। —जीवाभिगमे। सूत्र-१०३

2 से किं तं देवा ? देवा चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा भवणवासी वाणमंतरा जोइसिया वेमाणिया। —जीवाभिगमे। सूत्र-११४

वाणव्यंतर के ८ प्रकार—१ अणपन्नी, २ पणपन्नी, ३ इसीवादी, ४ भूतवादी, ५ कदित, ६ महाकदित, ७ कोहंड, ८ पतंग।

ज्योतिष के ५ प्रकार— १ सूर्य, २ चन्द्र, ३ ग्रह, ४ नक्षत्र, ५ तारा।

वैमानिक के २६ प्रकार :

कल्पोपपन्न १२— १ सौधर्म, २ इशान, ३ सनत्कुमार ४ माहेन्द्र, ५ ब्रह्मलोक, ६ लान्तक, ७ महाशुक्र, ८ सहस्रार, ९ आनत, १० प्राणत, ११ आरण, १२ अच्युत।

कल्पातीत : १४ प्रकार :

ग्रैवेयक ९— १ सुदर्शन, २ सुप्रतिबद्ध, ३ मनोरम, ४ सर्वतोभद्र, ५ सुविशाल, ६ सुमनस, ७ सौमनस, ८ प्रियकर, ९ नंदीकर !

अनुत्तर ५— १ विजय, २ वैजयत, ३ जयंत, ४ अपराजित, ५ सर्वार्थसिद्ध।

[1]पांच प्रकार :

ज्ञानी पुरुषो ने पाच प्रकार से भी जीवो की विवेचना की है। जैसे कि– १ एकेन्द्रिय, २ बेइन्द्रिय, ३ तेइन्द्रिय ४ चतुरिन्द्रिय, ५ पचेन्द्रिय। इन पाच प्रकारो मे समग्र जीवसृष्टि का समावेश हो जाता है।

एकेन्द्रिय जीव—पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय एवं वनस्पतिकाय।

बेइन्द्रिय जीव—शख-कोडी, कृमि, सूक्ष्म जलजतु, केंचुआ वगैरह।

तेइन्द्रिय जीव—खटमल, जू, कीडी-मकोड़े वगैरह।

चउरिन्द्रिय जीव—बिच्छू, भ्रमर, मक्खी, मच्छर, कसारी वगैरह।

पचेन्द्रिय जीव—देव, नारक, मनुष्य और तिर्यच (कुछ)

परिचय—मात्र स्पर्शन-इन्द्रिय हो वे जीव एकेन्द्रिय कहे जाते हैं। जिन जीवो को स्पर्शन के उपरांत रसना-इन्द्रिय भी हो उन्हे बेइन्द्रिय (दोइन्द्रिय) कहे जाते हैं। स्पर्शन, रसना के उपरात घ्राण-इन्द्रिय भी हो उन्हे कहते है तेइन्द्रिय। इन तीन के उपरात चक्षु-इन्द्रिय हो उसे

1 तत्थ जे ते एवमाहसु पचविहा ससारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता ते एवमाहसु त जहा–एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पचिंदिया।

—जीवाभिगमे। सूत्र–२२४

चउरिन्द्रिय कहते है और जिन्हें स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु एवं श्रवण-इन्द्रिय भी हो उन्हें पचेन्द्रिय जीव कहे जाते हैं।

[1]छह प्रकार

समग्र जीव-सृष्टि का आकलन छह विभागों में भी होता है। छह विभाग हैं

१ पृथ्वीकाय २ अप्काय ३ अग्निकाय ४ वायुकाय ५ वनस्पति-काय एवं ६ त्रसकाय।

१ पृथ्वीकाय–स्फटिक, मणि, रत्न, पारा, सोना, चादी, मिट्टी-पत्थर, नमक, अभ्रख वगैरह।

२ अप्काय–कुए का पानी, बारिश का पानी, बरफ, हिम, ओले, ओस, कुहरा वगैरह।

३ अग्निकाय–अगारे, ज्वाला, गरम राख वगैरह।

४ वायुकाय–हवा, झझानिल, तूफान, घनवात, तनवात वगैरह।

५ वनस्पतिकाय–हर एक तरह की वनस्पति, हरियाली।

६ त्रसकाय–नरक, मनुष्य, तिर्यंच, देव, जलचर तिर्यंच, स्थलचर, खेचर तिर्यंच वगैरह।

इस तरह ग्रथकार ने दो तरह के, तीन तरह के, चार तरह के, पाच तरह के व छह तरह के ससारी जीवो की सृष्टि का प्रतिपादन किया है।

एक-एक प्रकार के अनन्त पर्याय

श्लोक 	एवमनेकविधानामेकैको विधिरनन्तपर्याय ।
प्रोक्त 	स्थित्यवगाहज्ञानदर्शनादिपर्याय ॥१९३॥

अर्थ 	स्थिति, अवगाहना, ज्ञान, दर्शन इत्यादि पर्यायो की अपेक्षा से इस तरह अनेक भेदो का [जीवो का] एक एक भेद (मूल भेद) अनत-अनत पर्याययुक्त कहा गया है।

विवेचन 	इस तरह (दो प्रकार, तीन प्रकार, छह प्रकार से) जीवो के अनेक प्रकार है। श्री देवानदसूरि विरचित 'समयसार' प्रकरण मे दूसरी तरह से भी जीवो के प्रकार जानने को मिलते है। जैसे कि—

1 तत्थण जे ते एवमाहसु छव्विहा ससारसमावण्णगा जीवा ते एवमाहसु, त जहा–पुढविकाइया, आउक्काइया तेउक्काइया, वाउक्काइया, वणस्सतिकाइया तसकाइया। —जीवाभिगमे। सूत्र–२२८

दो प्रकार–१. व्यवहार राशि के जीव एवं २ अव्यवहार राशि के जीव।

तीन प्रकार–(१) १. सयत २. असयत ३. सयतासयत
(२) १. भव्य २ अभव्य ३. जातिभव्य

सात प्रकार–१ कृष्ण लेशी २ नील लेशी ३ कापोत लेशी ४ तेजो लेशी ५. पद्म लेशी ६ शुक्ल लेशी ७. अलेशी।

[1]**आठ प्रकार**–१ अडज २. पोतज ३. जरायुज ४ रसज ५. सस्वेदज ६ समूच्छिम ७ उद्भेदज ८ उपपातज।

इस तरह चौदह प्रकार (चौदह गुणस्थानक की अपेक्षा से) के जीव भी बताये गये है।

इस तरह अनेक प्रकारो मे जीवसृष्टि का विभाजन हो सकता है, और इस एक एक भेद के अनत प्रकार भी हो सकते है। वे अनंत प्रकार कैसे हो सकते हैं, यह भी ग्रन्थकार ने समझाया है।

हर एक द्रव्य के अनत पर्याय होते हैं। पर्याय यानी अवस्था! एक-एक जीवद्रव्य के अनत-अनत पर्याय होते है। यहा प्रस्तुत विषय मे चार अपेक्षाओ से पर्यायो की अनंतता बतायी गई है। १ स्थिति की अपेक्षया, २ अवगाहना की अपेक्षया, ३ ज्ञान की अपेक्षया और ४. दर्शन की अपेक्षया।

स्थिति यानी आयुष्य। अनादिकालीन ससार मे जीव ने अनत अनत भव किये है। प्रत्येक भव मे आयुष्यकर्म की स्थिति तो होती ही है। उस अपेक्षा से जीव के पर्याय भी अनत है।

अवगाहना यानी शरीर का नाटा-लम्बा कद। शरीर रहता है अवकाश प्रदेशो की अवगाहना करके। छोटे-लम्बे शरीर के कारण व अनत भवो मे जीवात्मा ने अनत अनत शरीर धारण किये होने से

1 अडज (अडे मे से पैदा होने वाले पक्षी) पोतज (पोतयुक्त उत्पन्न होने वाले हाथी वगैरह) जरायुज (जरायुक्त पैदा होने वाले पशु–गाय वगैरह) रसज (चलित रस मे व शराब वगैरह मे पैदा होने वाले बेइन्द्रिय जीव) सस्वेदज (पसीने मे से पैदा होने वाले जीव–खटमल वगैरह) उद्भेदज (जमीन को तोडकर पैदा होने वाले तीड वगैरह) समूच्छिम (मनुष्य के १४ स्थानो मे पैदा होनेवाले जीव) उपपातज (नरक एव देवलोक के जीव)

अवगाहना भी अनत प्रकार की होगी। इस अपेक्षा से जीव के अनत पर्याय हैं।

सूक्ष्म निगोद के जीव के ज्ञान से लगाकर केवलज्ञान तक ज्ञान के अनत भेद हैं। एक ही जीवात्मा की अपेक्षया, निगोद से निर्वाण तक की यात्रा म ज्ञान के अनत पर्याय हो जाते हैं। इस तरह दशन (सामान्य उपयोगरूप) भी अनत पर्याययुक्त हो सकता है। इस पहलू मे जीवात्मा के पर्याय अनत होते हैं।

यो अनत अनत जीवो मे, एक एक जीव के अनत भेद होते ह। जीवसृष्टि के चितन मनन मे ये सारी अपेक्षाए, ये सारे पहलू काफी उपयोगी बनते ह। गहरा एव व्यापक चितन करने वाले चितक के लिये, चितन की यह पगडडी आनदप्रद बन जाती हैं।

जीव का लक्षण

श्लोक सामान्य खलु लक्षणमुपयोगो भवति सवजीवानाम्।
साकारोऽनाकारश्च सोऽष्टभेदश्चतुर्धा तु ॥१९४॥

अर्थ सभी जीवो का सामान्य लक्षण होता है उपयोग। उस उपयोग क दो प्रकार ह साकार एव अनाकार। साकार उपयोग क आठ प्रकार है व अनाकार उपयोग क चार प्रकार हैं।

विवेचन समग्र विश्व म जीव एव जड तत्त्वो का समिश्रण है। 'यह जीव हैं, जड नही है।' ऐसा निणय करने के लिए कोई निर्णायक तत्त्व भी तो चाहिए न ? वह निर्णायक तत्त्व है लक्षण। लक्षण से लक्ष्य का निश्चय हो सकता है। लक्षण का ऐसा नियम होता है कि वह—

- लक्ष्य मे ही रहता है।
- लक्ष्य से इतर मे नही रहता।
- लक्ष्य म सवत्र रहता है।

जिस तरह ज्ञानी पुरुषो न जीव का लक्षण बताया है उसी तरह अजीव का लक्षण भी बताया है। प्रस्तुत म 'सभी जीवो का जो लक्षण बताया गया है, वह है उपयोग। यह 'उपयोग' शब्द जन तत्त्वज्ञान की परिभाषा का शब्द है। ससार-व्यवहार के अथ म इस शब्द को नहीं

1 उपयोगो लक्षणम् —तत्त्वार्थ/अ २, सूत्र ८

समझना है। जैसे कि 'मैं बारिश मे इस छाते का उपयोग करता हूँ' 'इन ऊनी कपडो का उपयोग मै जाड़े मे करता हूँ....।' यहा 'उपयोग' शब्द ससार-व्यवहार मे प्रयोजित हुआ है। प्रस्तुत मे 'उपयोग' शब्द 'बोधरूप व्यापार' अर्थ मे प्रयोजित है।

प्रश्न : बोधरूप व्यापार आत्मा मे ही क्यो होता है ? जड मे क्यो नही होता ?

उत्तर : बोधरूप व्यापार चेतनाशक्ति का कार्य है। चेतनाशक्ति ही बोधरूप व्यापार का कारण है। जड़ में चेतना शक्ति नहीं है, इसलिये उसमे बोधरूप व्यापार नही होता है।

प्रश्न : आत्मा मे तो अनंत गुण होते है...तब फिर 'उपयोग' को ही क्यो लक्षण कहा गया ?

उत्तर बिल्कुल ठीक ! आत्मा मे गुण तो अनंत है ही, पर सभी गुणो मे प्रधान कारण तो उपयोगी ही है। चूंकि उपयोग स्वपर प्रकाशरूप गुण है। इसलिए उपयोग ही स्व एवं पर का बोध करवाता है... ज्ञान करवाता है। 'यह अच्छा...यह बुरा, यह है, यह नही है...यह ऐसा क्यो ? यह ऐसा क्यो नही ? इत्यादि 'उपयोग' के कारण ही जाने जाते हैं।

और फिर, लक्षण तो ऐसा होना चाहिए कि समूचे लक्ष्य मे हमेशा वह रहे। आत्मा लक्ष्य है...उपयोग लक्षण है...आत्मा मे सभी जीवात्माओ मे यह लक्षण सदा देखने के लिये मिलता है, इसके अलावा दूसरे गुण कभी प्रकट हो...कभी न भी हो। जबकि उपयोग तो निगोद के जीवो मे भी प्रकटरूप होता है। 'नन्दीसूत्र' मे कहा गया है कि [1]सव्वजीवाणं पि णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडियओ।' सभी जीवो मे अक्षर का अनतवाँ भाग (यही उपयोग) हमेशा प्रस्फुट होता है।

इस उपयोग के दो प्रकार है . ज्ञानोपयोग (विशेष बोध) एव दर्शनोपयोग (सामान्य बोध)। यह उपयोग लक्षण

१ लक्ष्य—आत्मा मे ही रहता है।
२ लक्ष्य से इतर मे—जड़ मे नही मिलता।
३ सभी लक्ष्य मे—सभी आत्माओ मे रहता है।

1 नदीसूत्र/सूत्र ४२

साकार उपयोग के आठ व अनाकार उपयोग के चार प्रकार हैं, वे प्रकार ग्रन्थकार स्वयं बता रहे हैं आगे के श्लोक में

उपयोग [१] साकार [२] अनाकार

श्लोक ज्ञानाऽज्ञाने पञ्चत्रिविकल्पे सोऽष्टधा तु साकारः ।
चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनविषयस्त्वनाकारः ॥१९५॥

अर्थ पांच प्रकार का ज्ञान और तीन प्रकार का अज्ञान—यह आठ प्रकार का साकार उपयोग है। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन एवं केवलदर्शन यह चार प्रकार का अनाकार उपयोग है।

विवेचन ज्ञान की शक्ति, चेतनाशक्ति प्रत्येक आत्मा में समान होती है, परन्तु बोधव्यापार-उपयोग एक सा नहीं होता सभी का। इस कारण जीवों में उपयोग का वैविध्य नजर आता है। उपयोग की विविधता, जीवात्मा के बाह्य आंतर कारणों की विविधता पर अवलम्बित है। बाह्य कारण जैसे कि—इन्द्रिय, विषय, देश-काल इत्यादि की प्राप्ति हर एक जीवात्मा को समान रूप से नहीं होती। इसी तरह आंतरिक कारणों में कर्मों के आवरण का वैविध्य मुख्य रहता है। आंतरिक उत्साह वगैरह की विविधता भी होती है। इन सबके कारण जीवात्मा अलग अलग समय पर अलग अलग बोधक्रियाएं करता है। बोध की विविधता अपने भी अनुभव करते हैं।

[1]इस बोधक्रिया के वैविध्य का वर्गीकरण आठ एवं चार विभागों में किया गया है। मुख्य दो भाग किये गये हैं

१ साकार उपयोग।
२ निराकार उपयोग।

साकार उपयोग के दो विभाग किये गये हैं १ ज्ञान और २ अज्ञान।

ज्ञान के पांच भेद इस तरह हैं

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान।

अज्ञान के तीन भेद हैं मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, अवधिअज्ञान।

निराकार उपयोग के चार विभाग हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन।

1 स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः। —तत्त्वार्थ/अ २, सूत्र-९

प्रश्न साकार उपयोग का अर्थ क्या है ?

उत्तर : जो बोध ग्राह्य पदार्थ को विशेष तौर पर जाने, उसे साकार उपयोग कहा जाता है। साकार को ज्ञान कहा जाता है, सविकल्प बोध भी कहा जाता है[1]।

प्रश्न निराकार उपयोग का अर्थ क्या है ?

उत्तर : जो बोध ग्राह्य वस्तु को सामान्यरूप में जाने उसे निराकार उपयोग कहा जाता है। निराकार को 'दर्शन' कहा जाता है, 'निर्विकल्प बोध' भी कहा जाता है।

ऊपर के बारह भेदों में से दो भेद—केवलज्ञान एवं केवलदर्शन, पूर्णरूप से विकसित चेतना के व्यापार हैं। चेतना के कार्य हैं। जबकि बाकी के दस भेद अपूर्ण चेतनाशक्ति का व्यापार है।

प्रश्न . ज्ञान एवं अज्ञान के बीच भेद क्या है ?

उत्तर : सम्यक्त्वसहित जो बोध होता है उसे ज्ञान कहते हैं, सम्यक्त्वरहित बोध अज्ञान कहा जाता है।

जीव के भाव

श्लोक : भावा भवन्ति जीवस्यौदयिकः पारिणामिकश्चैव ।
औपशमिकः क्षयोत्थः क्षयोपशमजश्च पञ्चैते ॥१९६॥
ते चैकविंशति त्रि-द्वि-नवाष्टादशविधाश्च विज्ञेयाः ।
षष्ठश्च सान्निपातिक इत्यन्यः पञ्चदशभेदः ॥१९७॥

अर्थ : जीव के औदयिक, पारिणामिक, औपशमिक, क्षायिक एवं क्षायोपशमिक ये पाँच भाव होते हैं।

वे (औदयिक भाव वगैरह) २१-३-२-९ एवं १८ प्रकार के (क्रमशः) जानने चाहिए। दूसरा 'सान्निपातिक' नाम का छठा भाव है। उसके पन्द्रह प्रकार हैं।

विवेचन : इस जीव का स्वतत्व है, पाँच प्रकार के भाव !

जीव के स्वरूप को पहचानने के लिए इन पाँचों भावों को समझना ही होगा। इन पाँच भावों के नाम व उनकी व्याख्या निम्न है।

1 आकारो—विकल्पः, सह आकारेण साकारः। अनाकारस्तद्विकल्परहितः, निर्विकल्पः। —तत्वार्थ टीकायाम्

१ औदयिक भाव कर्मों का उदय एक तरह की आत्मा की मलिनता है। शुभ एवं अशुभ कर्मप्रकृतियों को 'विपाकानुभव' के माध्यम से भोगना ही पडता है।

२ पारिणामिक भाव आत्मद्रव्य का एक परिणाम है। किसी भी द्रव्य का स्वाभाविक परिणमन उसे पारिणामिक भाव कहते हैं।

३ औपशमिक भाव कर्मों के उपशम से जो भाव पैदा हो उसे औपशमिक भाव कहा जाता है। 'उपशम' यह एक तरह की आत्म-शुद्धि है। कर्मों का रसोदय व प्रदेशोदय—ये दोनों प्रकार के कर्मोदय जब स्थगित होते हैं, उस समय आत्मा औपशमिक भाव में रहती है।

४ क्षायिक भाव उन उन कर्मों के सम्पूर्ण क्षय से जो भाव प्रकट होता है उसे 'क्षायिक भाव' कहते हैं। कर्मों का क्षय होने से आत्मा में अपूर्व विशुद्धि प्रकट होती है।

५ क्षायोपशमिक कुछ एक कर्मों का क्षय हो जाय कुछ कर्म उपशान्त हो जाय उससे जो भाव आत्मा में प्रकट होता है वह है क्षायोपशमिक भाव। उदय में नहीं आये हुए, पर सत्ता में रहे हुए कुछ कर्मों का उपशम हो व उदय में आये हुए कुछ कर्मों का नाश हो, तब आत्मा में यह भाव प्रकट होता है।

ये पाँच भाव आत्मा का स्वरूप है। जीव संसारी हो या मुक्त, इन पाँच भावों में से कोई न कोई भाव उसमें रहता है। अजीव में ये भाव नहीं होते हैं, इसलिये ये भाव अजीव का स्वरूप नहीं बनते। मुक्त जीवों में इन पाँच भावों में से मात्र दो भाव होते हैं क्षायिक एवं पारिणामिक।

औदयिक भाव के २१ प्रकार १ अज्ञान २ असिद्धत्व ३ असंयम ४ से ९ छह लेश्याएँ १० से १३ चार कषाय १४ से १६ तीन वेद १७ से २० चार गति २१ मिथ्यात्व।

पारिणामिक भाव के तीन प्रकार १ भव्यत्व २ अभव्यत्व एवं ३ जीवत्व।

औपशमिक भाव के २ प्रकार १ उपशम समकित २ उपशम चारित्र।

क्षायिक भाव के ९ प्रकार : १. केवलज्ञान २ केवलदर्शन ३ क्षायिक समकित ४. क्षायिक चारित्र ५ दानलब्धि ६. भोगलब्धि ७. उपभोगलब्धि ८ लाभलब्धि एव ९. वीर्यलब्धि।

क्षायोपशमिक भाव के १८ प्रकार १. मतिज्ञान २. श्रुतज्ञान ३ अवधिज्ञान ४ मन.पर्यवज्ञान ५ मतिअज्ञान ६ श्रुतअज्ञान ७ विभगज्ञान ८ चक्षुदर्शन ९ अचक्षुदर्शन १० अवधिदर्शन ११ देशविरति १२ क्षायोपशमिक चारित्र १३ सर्वविरति चारित्र १४ से १८ दान-भोग वगैरह पाँच लब्धियाँ। उन उन कर्मो के क्षयोपशम से वे वे गुण आत्मा मे प्रकट होते है।

[1]छठा जो सान्निपातिक नामक भाव है, वह भाव पाँच भावो के अलग अलग सयोग से पैदा होता है। ऐसे पाँच प्रकार के सयोग से २६ भेद होते है। जैसे कि—

द्वि संयोगी = १०	त्रिसंयोगी = १०
१ औपशमिक—क्षायिक	औपशमिक क्षायिक, क्षायोपशमिक
२ ,, क्षायोपशमिक	,, ,, औदयिक
३ ,, औदयिक	,, ,, पारिणामिक
४ ,, पारिणामिक	,, क्षायो औदयिक
५ क्षायिक क्षायोपशमिक	,, ,, पारिणामिक
६ ,, औदयिक	, औदयिक ..
७ ,, पारिणामिक	क्षायिक क्षायोपशमिक औदयिक
८ क्षायोपशमिक-औदयिक	,, ,, पारिणामिक
९ ,, पारिणामिक	,, औदयिक ,,
१० औदयिक ,,	क्षायोपशमिक ,, पारिणामिक

चतु: संयोगी = ५

१	औपशमिक	क्षायिक	क्षायोपशमिक	औदयिक
२	,,	,,	,,	पारिणामिक
३	,,	,,	औदयिक	,,
४	,,	क्षायो.	,,	,,
५	क्षायिक	,,	,,	,,

1 भाव प्रकरणे

पंचसंयोगी = १

१ औपशमिक–क्षायिक–औदयिक–पारिणामिक–क्षायोपशमिक

[1]गुणस्थानकों में पाँच भाव १–२–३ गुणस्थानक में तीन भाव होते हैं औदयिक, पारिणामिक, क्षायोपशमिक

४ से १२ गुणस्थानक में पाँचों भाव होते हैं।

१३ से १४ गुणस्थानक में तीन भाव होते हैं क्षायिक, औदयिक पारिणामिक।

विशेष बात इन छह प्रकार के भावों में से एक पारिणामिक भाव ऐसा है कि जो कर्मों के क्षय से, क्षयोपशम से या उपशम से प्रकट नहीं होता है, अपितु वह अनादिकालीन सिद्ध भाव है।

- जीवत्व यानी चैतन्य।
- भव्यत्व यानी मुक्ति की योग्यता।
- अभव्यत्व यानी मुक्ति की अयोग्यता।

[2]विशेष ग्रन्थकार ने इन २६ भावों में से अविरोधी ऐसे १५ भेद ग्रहण किये हैं। इसलिये कारिका में १५ भेदों का निर्देश किया गया है।

भावों का कार्य

श्लोक एभिर्भावैः स्थानं गतिमिन्द्रियसम्पदः सुखं दुःखम्।
सम्प्राप्नोतीत्यात्मा सोऽष्टविकल्पः समासेन ॥१९८॥

अर्थ इन भावों से आत्मा स्थान, गति, इन्द्रिय संपत्ति, सुख एवं दुःख प्राप्त करता है। संक्षेप में उसके आठ भेद हैं।

विवेचन इस चार गतिमय संसार में परिभ्रमण करता हुआ जीव

१ आयुष्य (स्थिति) को पाता है,
२ गति (नरक तिर्यंच मनुष्य-देव) को पाता है
३ इन्द्रियों को पाता है,
४ संपत्ति को पाता है

1 भाव प्रकरणे

2 द्विसंयोगी के १० प्रकार एवं त्रिसंयोगी का प्रथम प्रकार—कुल ग्यारह प्रकार जीवों में घटित नहीं होते हैं।

५. सुख को पाता है,
६. दुःख को पाता है।

उसका मुख्य कारण है ये औदयिक भाव। मूलभूत-बुनियादी तौर पर कारण बनते हैं ये। शुभ या अशुभ भावो मे प्रवृत्त जीवात्मा शुभाशुभ कर्म बाधता हैं और उन कर्मो के उदय मे जीवात्मा गति-स्थिति इत्यादि प्राप्त करता है।

'आत्मा' शब्द का व्युत्पत्ति-अर्थ इस तरह का है

'अतति=गच्छति तांस्तान् स्थानादिविशेषान् आप्नोति इति आत्मा।'
इस व्युत्पति के अर्थ को आत्मा मे सिद्ध करने के लिये ग्रन्थकार ने इस कारिका की रचना की है। स्थान-गति इत्यादि को स्पष्ट किया गया है।

'स्थान' का अर्थ, श्री हरिभद्रसूरिकृत टीका मे 'आयुष्य' किया गया है, जबकि अज्ञातकर्तृक टीका मे 'स्थान का अर्थ, चारो गतियो मे जो जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट स्थान है उनके संदर्भ मे किया गया है।

तात्पर्य यह है कि ससार मे जीवात्मा का परिभ्रमण, इन्द्रियो की प्राप्ति, सपत्ति की प्राप्ति, सुख व दु ख की प्राप्ति, इन सबका मूल कारण कर्म नही हैं पर आत्मा स्वयं ही इसके लिये जिम्मेदार है। आत्मा के अपने औदयिक भाव हैं। यह तथ्यात्मक बात यदि समझ ली जाय तो आदमी सबसे पहले औदयिक भाव से मुक्त होने की कोशिश करेगा। उसमे क्रमशः मिथ्यात्व, अज्ञान, असयम, कृष्ण-नील-कापोत लेश्याएं, चार कषाय और तीन वेदो के उदय को दूर करने का प्रयत्न करना है। ज्यो-ज्यो जीवात्मा इन भावो से मुक्त होता चले, त्यो-त्यो वह गुणस्थानक पर आरुढ़ होता चले। गुणो की प्राप्ति इन भावो के नाश के साथ, उपशम के साथ जुडी हुई है। इन भावो के क्षय-उपशम के साथ दुर्गति का नाश एव सद्गति की प्राप्ति सकलित है। जैसे कि, मिथ्यात्व व अज्ञान के अभाव मे आत्मा नरकगति, तिर्यंचगति या मनुष्यगति का आयुष्य नही बांधती! मिथ्यात्व एव अज्ञान दूर हो तब जीवात्मा चौथे गुणस्थानक को प्राप्त करता है! असयम जाता है तब छठा गुणस्थानक मिलता है। कृष्ण, नील वगैरह लेश्याए दूर हो तब सातवाँ गुणस्थानक प्राप्त होता है! चार कषाय जाते है तब सर्वज्ञ—वीतराग हो जाती है आत्मा!

इस तरह भिन्न-भिन्न अपेक्षा-दृष्टिकोण से आत्मा के आठ प्रकार बताये गये हैं.

जीव के आठ स्वरूप

श्लोक द्रव्य कषाय योगावुपयोगो ज्ञानदर्शने चेति ।
चारित्र वीर्यं चेत्यष्टविधा मार्गणा तस्य ॥१९९॥
जीवाजीवाना द्रव्यात्मा सकषायिणा कषायात्मा ।
योग सयोगिना पुनरुपयोग सर्वजीवानाम् ॥२००॥
ज्ञान सम्यग्दृष्टेर्दर्शनमथ भवति सर्वजीवानाम ।
चारित्र विरताना तु सर्वससारिणा वीर्यम् ॥२०१॥

अर्थ द्रव्य कषाय, योग उपयोग, ज्ञान, दर्शन, चारित्र एव वीर्य–आत्मा की यह आठ प्रकार की गवेषणा है।
जीव-अजीवो को द्रव्यात्मा, कषायवाला या कषायात्मा सयोगिया या योगात्मा सभी जीवो या उपयोगात्मा (कहा जाता है)
सम्यग्दृष्टि वालो को ज्ञानात्मा सब जीवो को दर्शनात्मा विरतिधरा को चारित्रात्मा व सब जीवों को वीर्यात्मा (कहा जाता है)

विवेचन आत्मतत्त्व की व्यापक पहचान कराना चाहते हुए ग्रन्थकार अपने को आठ प्रकार से आत्मा का चिंतन करने की प्रेरणा दे रहे हैं। मोक्षमार्ग की आराधना-साधना करने वाले मुमुक्षुओ को इस तरह के आत्मचिंतन म लीन-तल्लीन बने रहना है। चितन की क्षितिजो म गहरा जाना है। इसके एक ओर कर्मों की निर्जरा होती है तो दूसरी ओर स्वतत्त्वभूत ज्ञान वगैरह गुण प्रकट होते हैं।

आत्मा 'द्रव्यात्मा' कैसे कही जाती है ? यह सोचना चाहिए। आत्मा कब तक कषायात्मा कही जाती है व क्यो कही जाती है उसका चिन्तन करना चाहिए। आत्मा योगात्मा क्या कही जाती है उसका अनुशीलन करना चाहिए। किस अपेक्षा से आत्मा उपयोग आत्मा है, यह सोचना चाहिए। आत्मा 'ज्ञानात्मा' एव 'दर्शनात्मा' क्यो ? उस पर गम्भीर रूप से सोचना चाहिए। चारित्रात्मा व वीर्यात्मा किस दृष्टिकोण से हैं यह भी विचारना चाहिए। गम्भीर चिन्तन एव गहरा अनुशीलन करना चाहिए इन बातो पर।

एक ही आत्मतत्त्व को, उसके अलग अलग फिर भी वास्तविक रूप म जानने से स्वरूपरमणता करने मे सरलता रहती है। अलबत्ता, इन आठ अवस्थाओ मे भी कुछ एक अवस्थाएँ आत्मा की विभावदशाएँ हैं

व कुछ स्वभावदशाएँ हैं। 'कपायात्मा व योगात्मा' की दो अवस्था मे आत्मा विभावदशापन्न होती है। इसके अलावा छह अवस्थाएँ स्वभाव-दशा की है। द्रव्यत्व, उपयोग, ज्ञान, दर्शन, चारित्र एव वीर्य, ये आत्मा के स्वभावगतगुण है। ये गुण आत्मा मे ही रहते है।

अव एक एक स्वरूप का सक्षेप मे विचार करे।

१. द्रव्यात्मा सभी जीवो मे रहा हुआ 'जीवत्व' का परिणाम जैसे अनादि पारिणामिक भाव है, वैसे जीवद्रव्य मे रहा हुआ 'द्रव्यत्व' परिणाम भी अनादि पारिणामिक भाव है। जीव की समस्त अवस्थाओ मे (नारक-तिर्यचादि) जैसे जीवत्व अनुस्यूत रहता है वैसे ही द्रव्यत्व भी सभी द्रव्यो मे, उस द्रव्य की सभी अवस्थाओ मे अनुस्यूत रहता है। अत: ज्यो जीवद्रव्य को द्रव्यात्मा कहा जाता है, त्यो अजीवद्रव्य को भी द्रव्यात्मा कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि चेतन व अचेतन जीव एव जड, सभी द्रव्यो मे जो स्थिर अश है, जो सभी द्रव्यो की सभी अवस्थाओ मे रहता ही है, उसे यहा पर 'आत्मा' की सज्ञा दी गई है। जीव जैसे द्रव्यात्मा वैसे अजीव भी द्रव्यात्मा।

२ **कषायात्मा** : क्रोध-मान-माया एव लोभ को 'कपाय' कहा जाता है। कषायो से युक्त जीव को 'सकषायी' कहा जाता है। आत्मा के साथ कपायो का जव तक एकीभाव रहता है तव तक उस आत्मा को कषायात्मा कहा जाता है।

३ **योगात्मा** मनोयोग, वचनयोग एव काययोग, इन तीन योग वाली आत्मा को योगात्मा कहा जाता है। योग यानी व्यापार, योग यानी प्रवृत्ति। ये तीनो योग ससारी जीव को होते है। मुक्त आत्माओ मे ये योग नही होते।

४ **उपयोगात्मा** · जानने व देखने रूप (ज्ञान-दर्शन) जो प्रवृत्ति, वह है उपयोग। यह उपयोग सभी जीवो को होता है। 'उपयोग' तो जीव का लक्षण है, यानी ससारी एव मुक्तात्मा सभी 'उपयोगात्मा' कहे जाते है।

५ **ज्ञानात्मा** . सम्यग्दर्शन से युक्त आत्मा का जो ज्ञानरूप परि-णाम, इस परिणामवाली आत्मा को 'ज्ञानात्मा' कहा गया है। अर्थात् सम्यग्दृष्टि आत्मा को ज्ञानात्मा कहा जाता है।

६ दर्शनात्मा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन व केवलदर्शन से युक्त (परिणत) आत्मा को दर्शनात्मा कहा जाता है। इस अपेक्षा से सभी जीव दर्शनात्मा कहे जायेंगे, चूंकि सभी जीवात्माओं में कोई न कोई दर्शन तो होता ही है।

७ चारित्रात्मा प्राणातिपात आदि पापस्थानकों से विरत (विरतिधर्म से परिणत) आत्मा को कहते हैं चारित्रात्मा।

८ वीर्यात्मा वीर्य यानी शक्ति। सभी जीवों में वीर्यशक्ति तो है ही। इसलिये सभी जीवों को वीर्यात्मा कहा जा सकता है।

प्रश्न द्रव्यात्मा का स्वरूप बताते समय आत्मा को 'द्रव्यात्मा' बताया यह तो ठीक, परन्तु उसी के साथ अजीव को भी द्रव्यात्मा कहा, यह उचित प्रतीत नहीं होता। अजीव और आत्मा ? यह हो कैसे सकता है ?

उत्तर इस सवाल का जवाब ग्रन्थकार स्वयं ही अगले श्लोक में दे रहे हैं।

अजीव 'द्रव्यात्मा' कैसे ?

श्लोक द्रव्यात्मेत्युपचारः सर्वद्रव्येषु नयविशेषेण।
आत्मादेशादात्मा भवत्यनात्मा परादेशात् ॥२०२॥

अर्थ नय विशेष से (एक नय दृष्टिकोण से) सभी द्रव्यों में द्रव्यात्मा ऐसा व्यवहार किया जाता है। आत्मा की अपेक्षया आत्मा है एवं पर की अपेक्षया अनात्मा है।

विवेचन उपचार यानी व्यवहार।

अचेतन को 'आत्मा' कह सकते हैं व्यवहार से।

जिस तरह सभी चेतन द्रव्यों में द्रव्यत्व अनुस्यूत है, उसी तरह अचेतन सभी द्रव्यों में अनुस्यूत परमाणु होता है, उस अनुस्यूत तत्त्व को 'आत्मा' कहा जाता है।

सभी द्रव्यों में एक सामान्यधर्म जो प्रवर्तित है—उसे आत्मा कहा जा सकता है, यह कथन सामान्यग्राही 'नैगमनय' की दृष्टि से किया गया है।

नैगमनय निर्विकल्प महासत्ता को मान्य करता है एवं मनुष्यत्व पशुत्व आदि सामान्य विशेष को भी मान्य करता है। द्रव्य की तमाम

अवस्थाओ को वह मानता है। इस नय की अपेक्षया अचेतन मे भी 'द्रव्यात्मा' का व्यवहार हो सकता है।

इस तरह द्रव्यात्मा, कषायात्मा इत्यादि आत्मस्वरूप वताने के बाद, ग्रन्थकार आत्मतत्त्व के चितन मे गहरे उतरते हुए कहते हैं :

'आत्मा है' ऐसा कथन उसके द्रव्य, क्षेत्र वगैरह की अपेक्षा से हो सकता है। जिस समय जिस द्रव्यक्षेत्रादि की विवक्षा से आत्मा है ऐसा कहा जाय तव 'दूसरे द्रव्य-क्षेत्र वगैरह की अपेक्षा से 'आत्मा नही है,' ऐसा कहा जा सकता है। द्रव्य, क्षेत्र काल व भाव की अपेक्षया इस अस्तित्व-नास्तित्व का विचार करे।[1]

- स्वद्रव्य के अस्तित्व से 'आत्मा है' यों कहा जा सकता है लेकिन पर-द्रव्य की अपेक्षया 'आत्मा नही है,' यो भी कहा जायेगा।
- आत्मा जिस क्षेत्र की, आकाश प्रदेशो की अवगाहना करके रही हो, उस क्षेत्र की अपेक्षया 'आत्मा है' यो कहा जा सकता है। दूसरे क्षेत्र की अपेक्षया 'आत्मा नही है,' ऐसा भी कहा जाता है।
- वर्तमानकाल की अपेक्षा से 'आत्मा है,' यो कहा जायेगा, जवकि अतीत-अनागतकाल की अपेक्षया 'आत्मा नही है,' ऐसा कहा जाता है।
- औदयिक भावो के पहलू से 'आत्मा है', यो जव कहा जाता है तव औपशमिक भाव की दृष्टि से 'आत्मा नही है,' वैसा कहा जायेगा।

इस तरह ससार की सभी वस्तुएं अपने अपने निजी स्वरूप में सत् है व अपने से व्यतिरिक्त दूसरे स्वरूपो की अपेक्षया असत् है। हर एक वस्तु अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल व भाव की अपेक्षा से सत् है। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा से वह असत् है।

प्रश्न : क्या आत्मा एकान्तिक तौर पर सत् नही है ?

उत्तर : नही..., जैसे आत्मा एकान्तिक तौर पर नित्य नही है, एकान्त रूप मे अनित्य नही है वैसे ही आत्मा न तो एकान्त रूप मे सत् है, न ही वह केवल असत् है। जिस पहलू से आत्मा को सत् कहा जाय उस अपेक्षा से असत् नही कहा जायेगा। जिस दृष्टिकोण से आत्मा असत् कहलायेगी उस दृष्टिकोण से सत् नही कही जा सकती !

---

1 तत्र स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टमस्ति द्रव्यम् परद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्ट नास्ति द्रव्यम्।

— पंचास्तिकाय–टीकायाम

प्रश्न एक ही आत्मा को सत् एवं असत् दोनो कहा जा सकता है ?

उत्तर हा, पर एक ही समय मे सत् एवं असत नही कही जा सकती। आत्मा सत भी है असत् भी है। जिस समय जो विवक्षा हो उस समय उस विवक्षा से सत या असत् कही जायगी।

आत्मतत्त्व का विशिष्ट चिंतन

श्लोक एवं संयोगाल्पबहुत्वाद्यनैकशः स परिमृग्य ।
जीवस्यैतत सर्वं स्वतत्त्वमिह लक्षणैर्दृष्टम् ॥२०३॥

अर्थ इस तरह संयोग अल्प बहुत्व वगैरह के द्वारा अनेक प्रकार से आत्मा की परीक्षा करना चाहिए। यहाँ जीव का यह सारा [विवरण] स्वतत्त्वभूत स्वरूप लक्षणो से देखा गया है।

विवेचन अपेक्षा [दृष्टिकोण] के माध्यम से 'आत्मतत्त्व है,' व 'आत्म तत्त्व नही है,' कैसा कहा जा सकता है। उन अपेक्षाओ या विविध यहा पर ग्रन्थकार बतला रहे हैं। द्रव्य क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षाए बतलाने के पश्चात अब ग्रन्थकार 'संयोग' व 'अल्पबहुत्व' की अपेक्षा से आत्मतत्त्व की गवेषणा करते हैं।

आत्मा जिस जिस के साथ संयुक्त हो उस-उस रूप मे होती है। जिससे वह संयुक्त नही है, उस अपेक्षा से नही है—ऐसा कहा जाता है। उदाहरणार्थ नरकगति के संयोग से नारक जीव हैं, वे जीव देवो की अपेक्षया नही हैं। देवगति के संयोग से देव-जीव हैं वे जीव नरकगति की अपेक्षा से नही हैं। मनुष्यगति के संयोग से मनुष्य-जीव हैं, अन्य गतियो की अपेक्षा से वे मनुष्य-जीव नही हैं।

इस तरह, अल्प-बहुत्व की अपेक्षया आत्मा का विचार करना चाहिए। जैसे की चार गति मे मनुष्यगति के जीव सबसे थोडे हैं। उनसे देव असंख्यगुने हैं और तिर्यंच उनसे अनंतगुन ज्यादा है। यानी संख्या की दृष्टि से मनुष्य तिर्यच नही है—न ही तिर्यंच मनुष्य है—या कहा जा सकता है। संख्या की दृष्टि से देव मनुष्य नही है और मनुष्य देव नही है। अपनी अपनी संख्या की दृष्टि से मनुष्य है, देव है, तिर्यंच है और नारक हैं।

यो आत्मा के अस्तित्व-नास्तित्व का विचार दूसरी दूसरी अपेक्षाओ से भी हो सकता है।

उसी मटकी को जब पर्यायो की अपेक्षा से व एक ही साथ स्व-पर पर्यायो की अपेक्षा से विवक्षित किया जाये तब उसे 'स्यादसदवक्तव्य च' कहा जाता है यानी 'असत् भी है और अवक्तव्य भी है,' यो कहा जायेगा। उसी मटकी को जब क्रमश स्वपर्यायो की अपेक्षा से, पर-पर्याय की अपेक्षा से, वह एक ही साथ स्व–पर के पर्यायो की अपेक्षा से विवक्षित किया जाय तब उसे 'स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, अवक्तव्य च' कहा जायेगा। 'है भी, नही भी, और अवक्तव्य है।'

इस तरह वचन के सात भेद–सात प्रकार है। ये सातो प्रकार गौणता एव मुख्यता के भेद से होते हैं।

वस्तु के जिस धर्म की विवक्षा होती है उस धर्म को अर्पित अर्थात् मुख्य–प्रधान कहा जाता है एव जिस धर्म की विवक्षा गौण होती है, नही होती है, उसे अनर्पित यानी गौण कहा जाता है।

वस्तु के धर्म को जब विशेपता का पुट मिले तब उस धर्म को अर्पित–भाव कहा जाता है और विशेपतारहित धर्म को अनर्पित–भाव कहा जाता है।

आत्मा के स्वपर्याय व परपर्यायो की भिन्न-भिन्न अपेक्षाओ को नजरतले रखते हुए ये सात प्रकार के वचन वतलाये गये है। इस तरह आत्मस्वरूप का बोध व्यापक वनता है।

अव ग्रन्थकार महर्षि खुद, उत्पत्ति, नाश एव ध्रौव्य को दो कारिकाओ मे स्पष्ट कर रहे है।

उत्पत्ति-विनाश-ध्रौव्य :

श्लोक . योऽर्थो यस्मिन्नाभूत् साम्प्रतकाले च दृश्यते तत्र ।
तेनोत्पादस्तस्य विगमस्तु तस्माद्विपर्यासः ॥२०५॥
साम्प्रतकाले चानागते च यो यस्य भवति सम्बन्धी ।
तेनाविगमस्तस्येति स नित्यस्तेन भावेन ॥२०६॥

अर्थ जिसमे वह अर्थ नही था पर वर्तमान काल मे दिखायी दे रहा है वह, उसकी उस अर्थ मे उत्पत्ति है और उससे विपरीत विनाश दिखता है। वस्तु का जो स्वरूप वर्तमान काल मे, अतीतकाल मे [च शब्द का अर्थ अतीत-भूतकाल करना है] और भविष्य काल मे होता है, उस स्वरूप मे उस वस्तु का नाश न होना वह, यह स्वरूप से नित्यता है ।

विवेचन 'सत्' का लक्षण बताया 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्' यानी जो, उत्पत्ति विनाश व स्थिरता से युक्त हो उसे 'सत्' कहा जाता है। विश्व के तमाम जड–चेतन पदार्थों मे ये तीन अश होते ही है। इसलिये समग्र तत्वज्ञान की जननी यह त्रिपदी है। धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले तीर्थंकर भगवत अपने गणधरो को सर्वप्रथम यह त्रिपदी प्रदान करते हैं। त्रिपदी देकर वे विश्व के जड–चेतन तमाम द्रव्यो मे हो रही सूक्ष्म प्रक्रिया का बोध देते है। हर एक द्रव्य मे जो स्थिर अश है, उसे ध्रुव अश कहा जाता है और अस्थिर अश को उत्पत्ति-रूप व विनाशरूप अध्रुव अश कहा जाता है।

उत्पत्ति मिट्टी का लोंदा पडा हुआ है, उसमे मटकी नही दिखती। बाहर जाकर आये तो मिट्टी का लोंदा मटकी बन चुका था। कुम्हार ने इस मिट्टी के लोंदे को चाकपर घुमाकर, पीट पीटकर मटकी बना दी है। इसका नाम है उत्पत्ति। पहले मिट्टी के लोंदे मे मटकी नही दिख रही थी, पर वर्तमान मे दिख रही है।

विनाश मिट्टी की मटकी पडी है। अखड है, सुन्दर है। दूसरे दिन देखा तो मटकी नजर नही आती मात्र टूटे–फूटे मिट्टी के टुकडे नजर आ रहे हैं।

किसी ने प्रहार करके मटकी का फोड डाला है, मटकी नष्ट हो चुकी है पहले मटकी दिखती थी, अब नही दिखती। इसको कहते है विनाश।

ध्रौव्य मटकी नही थी और उत्पन्न हुई।
मटकी थी और नष्ट हो गयी।

परन्तु मिट्टी तो ज्यो की त्यो बनी रही। ध्रुव रही।

मटकी पैदा हुई तब भी मिट्टी थी, मटकी फूट गई फिर भी मिट्टी तो जो थी वही रही। मिट्टी है तो मटकी बनेगी और मटकी फूटेगी। उत्पत्ति और विनाश का आधार ध्रुव अश पर रहता है, अब इस उत्पत्ति विनाश व ध्रौव्य को आत्मतत्त्व के माध्यम से समझ लें।

आत्मा ध्रुव तत्त्व है।

मनुष्यत्व, देवत्व व नरकत्व, तिर्यक्त्व उत्पत्तिशील एव विनाशी पर्याय हैं। मनुष्यत्व नष्ट होगा, देवत्व उत्पन्न होगा। देवत्व नष्ट होगा

मनुष्यत्व पैदा होगा। मनुष्यत्व नष्ट होगा, तिर्यक्त्व पैदा होगा। तिर्यक्त्व नष्ट होगा, नरकत्व जन्म लेगा।

यह मनुष्यत्व इत्यादि पर्याय आत्मा की ध्रुवसत्ता पर आधारित है, आत्मा है तो मनुष्यत्वादि पर्यायो का अस्तित्व है। आत्मा ही न हो तो फिर मनुष्यत्वादि पर्याय रहेंगे कैसे ? उनकी संभावना ही नही रहेगी। इस तरह ग्रन्थकार ने आत्मतत्त्व का—जीवतत्त्व का विस्तृत विश्लेषणात्मक वर्णन किया। अब वे अजीवतत्त्व को समझाने जा रहे है।

अजीव तत्त्व :

श्लोक : धर्माधर्माकाशानि पुद्गला काल एव चाजीवा ।
पुद्गलवर्जमरूपं तु रूपिण· पुद्गलाः प्रोक्ता ॥२०७॥

अर्थ : धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, पुद्गलद्रव्य एवं काल, ये (पाँच) अजीव द्रव्य हैं। पुद्गल के अलावा सभी चारो द्रव्य अरूपी है एव पुद्गलद्रव्य रूपी कहे गये हैं।

विवेचन समूची सृष्टि मे मुख्य दो तरह के द्रव्यो का अस्तित्व है। जीवद्रव्य का एव अजीवद्रव्य का। सृष्टि का यथार्थ दर्शन जीवात्मा के राग-द्वेष को कम करता है। अयथार्थ बोध, राग-द्वेष को पैदा होने का असाधारण कारण माना गया है। यानी, मोक्षमार्ग की यात्रा करने वाले सभी यात्रियो को जीव अजीव का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये निरतर प्रयत्नशील रहना चाहिए।

अजीव द्रव्य पाँच प्रकार के हैं।

१ धर्मास्तिकाय, २ अधर्मास्तिकाय, ३ आकाशास्तिकाय, ४ पुद्गलास्तिकाय एव ५ काल।

इन द्रव्यो की परिभाषा अगले श्लोको मे की जायेगी, यहा प्रस्तुत श्लोक मे तो ग्रथकार महर्षि इन पाँचो द्रव्यो का रूपी एव अरूपी दो विभागो मे बटवारा करके बता रहे है। पाँच द्रव्यो मे मात्र पुद्गल द्रव्य ही रूपी है। शेष चारो द्रव्य अरूपी है।

पुद्गल द्रव्य मे ज्यो रूप होता है त्यो रस-गध व स्पर्श भी रहते है। [1]जिस द्रव्य मे रूप हो उसमे रस, गध स्पर्श भी रहेगे ही। चार

1 यत्र रूपपरिणामः तत्रावश्यन्तया स्पर्शरसगन्धैरपि भाव्यम्।
—तत्वार्थ टीकायाम्

गुणो का पारस्परिक अविनाभाव है। चारों परस्पर सवलित गुण है। पुदगल के परमाणुओ मे भी ये रूपादि गुण होते हैं।

प्रश्न रूप एव मूर्तता मे भेद है क्या ?

उत्तर 'नही, रूप वही मूर्तता'[1] तत्त्वार्थ 'भाष्य' मे कहा गया है कि 'रूप मूर्ति।' इसीलिए तत्त्वार्थभाष्य मे रूप के साथ स्पर्श वगैरह की सहचारिता बतलाते हुए कहा गया है कि मूर्त्याश्रयाश्च स्पर्शादय। "मूर्तता हो तो ही स्पर्श वगैरह होंगे।'

पुदगल द्रव्य के अलावा चारो अजीव द्रव्य अरूपी हैं यानी कि अमूर्त है। अत उन चारो मे रूप-रस गध व स्पर्श नही होते।

प्रश्न अरूपी को क्या कोई भी नही देख सकता ?

उत्तर इन अरूपी द्रव्यो को आखो से नही देखा जा सकता।

चक्षुदर्शन की अपेक्षया अरूपी है। ज्ञानदृष्टि मे अरूपी भी रूपी ही है। ज्ञान के विषय तो है ही। इसलिए प्रत्यक्षज्ञानी पुरुष देख सकते है।

पाच अजीव तत्त्वो मे रूपी अरूपी का भेद बताने के बाद अब पुदगलद्रव्य के बारे मे सविशेष बतलाते हैं।

पुद्गल द्रव्य

श्लोक द्व्यादिप्रदेशवन्तो यावदनन्तप्रदेशका स्कन्धा।
परमाणुरप्रदेशो वर्णादिगुणेषु भजनीय ॥२०८॥

अर्थ [2]दो आदि प्रदेशो से लेकर अनत प्रदेश वाले स्कध होते हैं। [3]परमाणु अप्रदेशी है (पर) रूप वगैरह गुणो की अपेक्षया वह सप्रदेशी है।

विवेचन पुद्गल द्रव्य चार प्रकार से चौदह राजलोक मे अवस्थित हैं। स्कध रूप मे, देश रूप मे, प्रदेश रूप मे, परमाणु रूप मे।

1 चक्षुर्ग्रहणमात्राद् रूपमिति व्यपदिश्यते। —तत्त्वार्थ टीकायाम्

2 संख्येया असंख्येया अनन्ताश्च पुद्गलानां प्रदेशा भवन्ति।
[तत्त्वार्थ भाष्य] अ ५–सूत्र–१०

3 पर्यायान्यभावाच्च रूपाद्यस्तदङ्गीकरणेन सप्रदेश परमाणु।
—तत्त्वार्थ टीकायाम्

[1]दो प्रदेशों का स्कंध समूह होता है...यावत् असख्य प्रदेशों का भी स्कध होता है एव अनत प्रदेशों का 'स्कध' भी होता है।

उन स्कधो के साथ सलग्न भागो को 'देश' कहा जाता है। उन स्कधो के साथ जुडे हुए निर्विभाग भागो को 'प्रदेश' कहा जाता है। स्कध से अलग हुए निर्विभाग अशो को 'परमाणु' कहा जाता है। परमाणु निर्विभाज्य अश हैं। केवलज्ञानी भी अपने सम्पूर्ण ज्ञान के द्वारा परमाणु का विभाजन नही कर सकते।

प्रदेश न होने की वजह से परमाणु अप्रदेशी कहे जाते हैं। परन्तु परमाणु मे भी रूप-रस-गध-स्पर्श तो है ही। इसलिये, इन रूप-रसादि पर्यायों की अपेक्षया परमाणुओ को सप्रदेशी कहा जा सकता है। द्रव्य दृष्टि से तो परमाणु अप्रदेशी ही है, पर्यायदृष्टि से परमाणु सप्रदेशी है। इस तरह रूप-रस-गध व स्पर्श को 'प्रदेश' की सज्ञा मिली है। जिस तरह स्कध मे देश-प्रदेश अवस्थित है उसी तरह परमाणु मे रूप वगैरह रहे हुए है।

परमाणु मे एक रस, एक गध, एक वर्ण, एव दो स्पर्श रहे हुए होते है [स्निग्ध या रुक्ष मे से कोई एक और शीत या उष्ण मे से कोई एक—यो दो स्पर्श होते है।]

प्रश्न क्या परमाणु देखे जा सकते है ?

उत्तर . अत्यत सूक्ष्म होने से वे नही देखे जा सकते पर उनके कार्य से वे जाने जा सकता हैं।

प्रश्न : पुद्गलद्रव्य के स्कधो व अन्य द्रव्यो के (धर्मास्तिकाय वगैरह के) स्कंधों के बीच कोई अन्तर है क्या ?

उत्तर . हा, पुद्गलद्रव्य के स्कंधो मे से प्रदेश अलग हो सकते है ! जबकि अन्य द्रव्यो के स्कधो मे से प्रदेश अलग नहीं हो सकते।

भावों में षड्द्रव्यः

श्लोक . भावे धर्माधर्माम्बरकाला पारिणामिके ज्ञेया ।
उदयपरिणामिरूपं तु सर्वभावानुगा जीवाः ॥२०९॥

1 स्कन्धा द्विप्रदेशिकादयः। देशा स्कन्धानामेव सविभागाः। प्रदेशाश्चनिर्विभागभागा.। — नवतत्त्व टीकायाम्/गा ६

अथ धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय और काल-इन चारों द्रव्यों को 'पारिणामिक भाव' में जानना। पुद्गलास्तिकाय को औदयिक व पारिणामिक भाव में एवं जीव को सभी भावों में जानना चाहिए।

विवेचन किसी भी द्रव्य का स्वाभाविक परिणमन, वह 'पारिणामिक' भाव है। धर्म अधर्म-आकाश व काल, ये चार द्रव्य स्वतंत्र द्रव्य हैं। किसी द्रव्य का एक दूसरे पर कोई असर नहीं होता है। जिस प्रकार आत्म द्रव्य पर पुद्गलद्रव्य का असर होता है उस तरह इन धर्म अधर्म वगैरह द्रव्यों पर पुद्गल द्रव्य का एवं आत्म द्रव्य का कोई असर नहीं होता है। ये चारों भाव पारिणामिक भाव में स्थित हैं।

ज्यों संसार अनादि है त्यों ये द्रव्य भी अनादि हैं। पारिणामिक भाव अनादि होते हैं। जिस तरह जीवत्व, भव्यत्व इत्यादि अनादि हैं वैसे ही ये द्रव्य अनादि हैं। ऐसा कोई समय नहीं था कि जब ये द्रव्य संसार में नहीं थे। ऐसा कोई भविष्य काल भी नहीं होगा कि जिसमें इन द्रव्यों का अस्तित्व नहीं होगा।

पुद्गल द्रव्य दो भाव में विभाजित है पारिणामिक एवं औदयिक। परमाणु, परमाणु के रूप में अनादि पारिणामिक भाव में होता है। परमाणु व स्कंधों में जो रूप रस वगैरह पर्याय रहे हुए हैं एवं द्व्यणुक, त्र्यणुक, वगैरह जो परिणाम बनते हैं [परमाणुओं के मिलन से] वे औदयिक भाव हैं। सारांश यह है कि जो अनादि अपरावर्तनीय भाव हैं उसे पारिणामिक भाव में समझना चाहिए और जो परिवर्तनशील-सादि परिणाम हैं उन्हें औदयिकभाव में जानना चाहिए।

प्रश्न परमाणु में एवं स्कंधों में जो रूप रसादि हैं वे क्या अनादि नहीं हैं? तो फिर उन्हें औदयिकभाव में क्यों सम्मिलित किया गया?

उत्तर हालांकि, रूप रस वगैरह अनादि हैं, परन्तु उसमें जो हानि वृद्धि रूप आदि होता है-उस अपेक्षया उसका समावेश औदयिक भाव में किया गया है।

प्रश्न पुद्गल-स्कंध तो अनादि है-फिर उनका मावलन औदयिक भाव में क्यों किया गया है।

उत्तर पुद्गल-स्कंध का स्वरूप एकसा नहीं रहता है। स्कंधों में पुद्गल की कमी-बढ़ौतरी होती रहती है, इसलिये वे सादि भी हैं।

जैसे कि एक चार परमाणुओ का स्कध है, उसमे से दो परमाणु अलग हो गये, तो वह स्कध द्वयणुक बन जायेगा। इसका नाम 'आदि'। इसी तरह किसी स्कध मे नये परमाणु जुडे तो वह स्कध बडा होगा... वह भी आदि ही कहलायेगा।

लोक-पुरुष

श्लोक · जीवाजीवा द्रव्यमिति षड्विधं भवति लोकपुरुषोऽयम्।
वैशाखस्थानस्थ पुरुष· इव कटिस्थकरयुग्म ॥२१०॥

अर्थ इस तरह जीव व अजीव के भेद से छह द्रव्य होते है। यह लोकपुरुष है। अपने दो हाथ कमर पर रखकर, दो पैर फैलाकर [ज्यो धनुषधारी दो पैर फैलाकर खडा रहे=वैशाखस्थान] खडे पुरुष जैसा लोकपुरुष है।

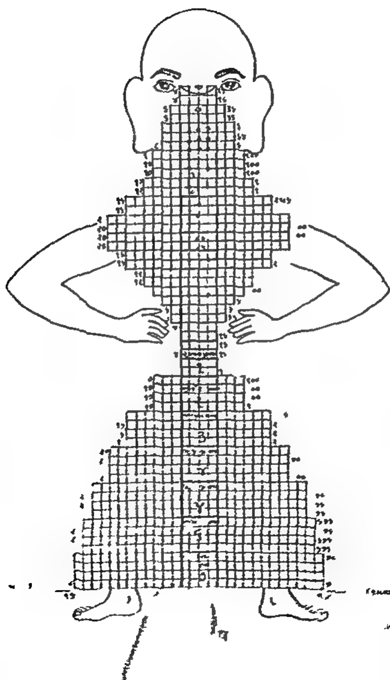
विवेचन जीव और अजीव के आधार को 'लोक' कहा जाता है। उस लोक का आकार, खडे हुए पुरुष जैसा होने से 'लोकपुरुष' कहा जाता है। अजीव के पाँच प्रकार [धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल व काल] एव जीव, यह छह द्रव्य इस लोक मे रहे हुए है। लोक के बाहर अलोक मे मात्र आकाश द्रव्य ही होता है। लोकपुरुष की आकृति इस तरह की होती है।

श्लोक · तत्राधोमुखमल्लकसंस्थानं वर्णयन्त्यधोलोकम्।
स्थालमिव तिर्यग्लोकमूर्ध्वमथ मल्लकसमुद्गम् ॥२११॥
सप्तविधोऽधोलोकस्तिर्यग्लोको भवत्यनेकविधः।
पञ्चदशविधान पुनरुर्ध्वलोक· समासेन ॥२१२॥

अर्थ . उस लोक मे, अधोलोक का आकार उलटे रखे गये शराव (मकोरे) के आकार जैसा है। [ऊपर सक्षिप्त, नीचे विशाल] तिर्यग्लोक का आकार थाली के आकार जैसा है एव उर्ध्वलोक का आकार खडे रखे गये शराव पर उलटे रखे गये शराव के आकार जैसा है [शरावसपुट जैसा] अधोलोक मे सात भेद है। तिर्यक्लोक के अनेक भेद है एव उर्ध्वलोक के सक्षेप मे पन्द्रह भेद हैं।

विवेचन . लोकपुरुष का आकार कैसा होता है, उसे दो घरेलू वस्तुओ के माध्यम से ग्रथकार समझा रहे है। शराव (सिकोरा) और थाली की रचना के द्वारा समजा रहे हैं।

લોક પુરુષ



- उलटे पड़े हुए शराव की भांति अधोलोक है।
- थाली जैसा मध्यलोक है।
- एक खड़े शराव पर दूसरा उलटा शराव रखे, और जो आकार होगा...उसके जैसा ऊर्ध्वलोक है।
- 'अधोलोक' के 'रत्नप्रभा' नरक से महातमःप्रभा नरक तक के सात प्रकार हैं।
- 'मध्यलोक' में, जंबूद्वीप से लेकर स्वयंभूरमण समुद्र तक असंख्य द्वीप समुद्र होने से इनके अनेक भेद हैं।
- 'ऊर्ध्वलोक' में, सौधर्म देवलोक से लेकर सिद्धशिला [ईषत् प्राग्भारा] तक के पंद्रह प्रकार हैं।
- बारह देवलोक के १० प्रकार गिने गये हैं। आनत व प्राणत देवलोक का एक ही प्रकार गिना गया है और आरण देवलोक व अच्युत देवलोक का एक प्रकार गिना गया है। चूंकि आनत-प्राणत का स्वामी एक ही इन्द्र है, और आरण-अच्युत का स्वामी भी एक ही इन्द्र है। इस अपेक्षा से १० प्रकार बतलाये गये हैं।
- नौ ग्रैवेयक के तीन प्रकार गिने गये हैं। तीन अधो ग्रैवेयक का एक, तीन मध्यम ग्रैवेयक का दूसरा, व तीन ऊर्ध्व ग्रैवेयक का तीसरा प्रकार गिना गया है।
- पांच अनुत्तर देवलोक का एक ही प्रकार गिना गया है। पन्द्रहवाँ प्रकार सिद्धशिला का है। इस तरह १०+३+१+१=१५ प्रकार ऊर्ध्वलोक के बतलाये गये हैं।

छह द्रव्यों के आधारभूत चौदह राजलोक का संक्षिप्त स्वरूप बतलाया गया। अब वे छह द्रव्य किस तरह लोक में रहे हुए हैं... उसका निरूपण ग्रंथकार कर रहे हैं :

छह द्रव्यों का अवस्थान

श्लोक : लोकालोकव्यापकमाकाशं मर्त्यलौकिकः कालः ।
लोकव्यापि चतुष्टयमवशेषं त्वेकजीवो वा ॥२१३॥

अर्थ : आकाशद्रव्य, लोक एवं अलोक में व्यापक है। काल का व्यवहार मनुष्यलोक में ही है। शेष चारों द्रव्य लोकव्यापी हैं। एक जीव भी लोकव्यापी बन सकता है।

विवेचन 'लोक' और 'अलोक' शब्द, क्षेत्र की अपेक्षया, जैन दर्शन में प्रयोजित है। यह 'लोक' और 'अलोक' छिह द्रव्यों के आधारभूत क्षेत्र है। आकाश द्रव्य, लोक व अलोक दोनों में व्यापक है। 'अलोक' में [लोक के बाहर का क्षेत्र अलोक है] आकाशद्रव्य के अलावा दूसरा कोई द्रव्य नहीं रहता है, जबकि लोक में तो छह द्रव्यों का अस्तित्व है।

'काल' द्रव्य का अस्तित्व समग्र लोक में नहीं होता, उसका अस्तित्व केवल मर्त्यलोक में ही है। अर्थात अढाई द्वीप में ही है। चूंकि कालकृत व्यवहार सूर्यचन्द्र के परिभ्रमण पर आधारित है। और सूर्यचंद्र का परिभ्रमण अढाई द्वीप में ही होता है। अढाई द्वीप के अलावा के मध्यलोक में सूर्य चन्द्र वगैरह का परिभ्रमण नहीं है, इसलिये वहाँ काल [समय] का व्यवहार (वर्तमानकाल भूतकाल भविष्यकाल) नहीं है।

जिस अढ़ाई द्वीप में काल का व्यवहार है।, उस अढाई द्वीप का संक्षिप्त वर्णन इस तरह का है

❀ अपन जिस क्षेत्र में रह हैं वह क्षेत्र है जंबूद्वीप का। जंबूद्वीप में भी, मेरुपर्वत से दक्षिण दिशा में स्थित भरतक्षेत्र में अपना अवस्थान है। इस जंबूद्वीप का व्यास एक लाख योजन का है और परिधि ३१६२२७,३ योजन की है।

❀ इस जंबूद्वीप के इर्दगिर्द दो लाख योजन के व्यासवाला लवण समुद्र है। उसकी परिधि करीब १५०८१४४ योजन की है।

❀ लवण-समुद्र के आसपास चार लाख योजन के व्यास वाला धातकी खंड आया हुआ है। उसकी परिधि ४११०६६१ योजन है।

❀ धातकीखंड के इर्दगिर्द ८ लाख योजन चौड़ा व ९११७६७५ योजन की परिधिवाला कालोदधि समुद्र आया हुआ है। इस समुद्र में ज्वारभाटा नहीं आता है।

❀ कालोदधि समुद्र को घेरे वाला ८ लाख योजन चौड़ा और २४७२०२४९ योजन की परिधि वाला अर्धपुष्कर द्वीप रहा हुआ है।

❀ पुष्करद्वीप के मध्य भाग में वलयाकार मानुषोत्तर नामक पर्वत है। इस पर्वत के कारण पुष्करद्वीप दो हिस्से में बंट जाता है। उसके एक हिस्से में ही मनुष्य होते हैं। दूसरे आधे हिस्से में मनुष्य

नहीं होते। इस तरह (१) जम्बूद्वीप (२) धातकी खंड और आधा पुष्कर-द्वीप, इनको 'अढाई द्वीप' कहा जाता है। इस अढाई द्वीप में ही मनुष्य होते हैं और 'काल' का व्यवहार होता है।

अढाई द्वीप की विशेष जानकारी के लिये 'क्षेत्रसमास', 'बृहत्संग्रहणी', व 'लोकप्रकाश' जैसे ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए।

प्रश्न : 'एक जीव भी लोकव्यापी हो सकता है,' ऐसा जो बताया गया वह कौन सी अपेक्षा से?

उत्तर : केवलि-'समुद्घात' की विशिष्ट क्रिया से जीव लोकव्यापी बनता है। केवलिसमुद्घात का विस्तृत वर्णन इसी ग्रन्थ के श्लोक २७४ से २७७ में किया जायेगा। यह विशिष्ट क्रिया मात्र केवलज्ञानी आत्माएं ही करती हैं। आयुष्य कम हो और वेदनीय वगैरह कर्मों की स्थिति ज्यादा हो तब, उस स्थिति को आयुष्य के समान करने के लिये यह समुद्घात किया जाता है। इस क्रिया के दौरान आत्मा के प्रदेश पूरे लोक में फैलते हैं। इस अपेक्षा से कहा गया है कि 'एक जीव भी लोकव्यापी हो सकता है।'

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय व जीवास्तिकाय—ये चारों द्रव्य 'लोक' में ही होते हैं और इन्हें लोक के सर्वत्र होने के कारण 'लोकव्यापी' कहा गया है।

छह द्रव्यों की संख्या व कर्तृत्व :

श्लोक : धर्माधर्माकाशानि एकैकमत. परं त्रिकमनन्तम् ।
कालं विनास्तिकाया जीवमृते चाप्यकर्तृणि ॥२१४॥

अर्थ : धर्म, अधर्म व आकाश एक-एक है। शेष तीनों द्रव्य अनन्त हैं। काल के अलावा पाँचों द्रव्य अस्तिकाय हैं, और जीव के अतिरिक्त द्रव्य अकर्ता हैं। [मात्र जीव ही कर्ता है]

विवेचन : समग्र लोक में धर्मास्तिकाय एक ही है। अधर्मास्तिकाय एक ही है व आकाशास्तिकाय भी एक ही है। ये तीनों द्रव्य एक एक की संख्या में हैं। अरूपी हैं एवं अखंड हैं। जबकि जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय एवं काल—ये तीन द्रव्य अनन्त-अनन्त हैं। जीव अनन्त हैं, पुद्गल अनन्त हैं और काल भी अनन्त है।

प्रश्न काल द्रव्य अनत किस तरह हो सकता है ?

उत्तर भूतकाल और भविष्यकाल की अपेक्षया काल अनत है। भूतकाल अनत बीत चुका है, और भविष्यकाल भी अनत सामने खडा है। वर्तमानकाल तो केवल एक समय का होता है।

काल के 'समय' अनत हैं, इस अपेक्षा से भी काल को अनत कहा जा सकता है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म काल को 'समय' कहा जाता है।

[1]इन छह द्रव्यों मे 'काल' के अतिरिक्त पाँचो द्रव्य अस्तिकाय माने जाते हैं। जिसका अस्तित्व हो और जो प्रदेश-समूह के रूप म हो, उसे 'अस्तिकाय' की सज्ञा दी गई है।

जीव असख्य प्रदेशात्मक है, धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय असख्य प्रदेशात्मक है। आकाश अनत प्रदेशात्मक है एव पुद्गल भी अनत प्रदेशात्मक है इसलिये वह 'अस्तिकाय' है। काल प्रदेशप्रचय-रूप न होने से उसे अस्तिकाय नही कहा जाता। [2]'काय' शब्द प्रदेशो की बहुलता बताने के लिए ही प्रयुक्त किया गया है।

प्रश्न अस्तिकाय शब्द म 'काय' शब्द द्रव्य के प्रदेशो की बहुलता की अपेक्षया प्रयुक्त है यह तो ठीक है परन्तु 'अस्ति' शब्द किसके अस्तित्व का सूचक है ?

[3]**उत्तर** उन-उन द्रव्यो के शाश्वत् स्वभाव के अस्तित्व का निर्देश करता है। जीव का स्वभाव है चैतन्य, पुद्गल का स्वभाव मूर्तत्व है। धर्म अधर्म आकाश का स्वभाव अमूर्तता और समस्त लोकव्यापित्व है। यह ध्रुव निश्चित स्वभाव है।

इन छह द्रव्यो में 'कर्ता' मात्र जीवद्रव्य ही है, चूकि यह चेतन है। चेतनद्रव्य में ही कर्तृत्व की सभावना रहती है। अचेतन द्रव्यो

1 जीवा पुग्गलकाया धम्मा धम्मा तहेव आयास ।
अत्थित्तम्हि य णियदा अणण्णमइया अणुमहंता ॥४॥ —पञ्चास्तिकाये

2 कायग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वार्थमद्धासमयप्रतिषेधार्थं च ।
—तत्त्वार्थभाष्ये / अ ५ / सू १

3 यथा चैतन्यमात्मनोऽनिधनम् मूर्तत्व वा पुद्गलद्रव्यस्य, धर्मादीनाममूर्तत्व गत्याद्युपग्रहादिलक्षणानि च ध्रुवाण्येतानि ।
—तत्त्वार्थटीकायाम् / अ ५ / सू १

में कर्तृत्व घटित नही हो सकता। अजीव मे, चैतन्यमय अनुभूति संभवित नही है। 'कर्ता एवं भोक्ता आत्मा ही है,' इस बात को और ज्यादा पुष्ट करते हुए 'पंचास्तिकाय' मे कहा गया है :

एवं कत्ता भोत्ता होज्झं अप्पा सगेंहि कम्मेंहि ।
हिंडती पारमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥६९॥

'मोह से मुग्ध आत्मा, अपने कर्मो के उदय से कर्ता एव भोक्ता होती है और वह अनादि-अनत ससार मे परिभ्रमण करती है।

छह द्रव्यों के कार्य

श्लोक . धर्मो गतिस्थितिमतां द्रव्याणां गत्युपग्रहविधाता ।
स्थित्युपकृच्चाधर्मोऽवकाशदानोपकृद् गगनम् ॥२१५॥

अर्थ : गति व स्थितिवाले द्रव्यो के लिए गति करने मे धर्मास्तिकाय सहायक होता है। अधर्मास्तिकाय स्थिरता करने में सहायक है और आकाशास्तिकाय अवकाश देने में सहायक होता है।

विवेचन : धर्म-अधर्म एवं आकाश।

—ये तीनो द्रव्य अरूपी है, अमूर्त है, यानी कि इन्द्रियो से इन द्रव्यो का प्रत्यक्षीकरण संभवित नही। इन द्रव्यो के अस्तित्व में एव स्वरूपनिर्णय मे आगम ही प्रमाणभूत है। आगममान्य युक्तियो के जरिये इन द्रव्यो का अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है।

एक ऐसा सर्वसम्मत सिद्धात है कि कोई कार्य कारण के विना नही होता। कारण को जैनदर्शन मे मुख्यतौर से दो रूप मे वाटा गया है: उपादान कारण एव निमित्त कारण।

विश्व मे गतिशील व स्थितिशील द्रव्य दो है . जीव एव पुद्गल। गति व स्थिति [स्थिरता] यह दो, द्रव्यो के कार्य है। यानी गति-स्थिति के उपादान कारण तो जीव व पुद्गल ही है, परन्तु उसके निमित्त कारण धर्म एवं अधर्म यानी कि धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय है।

कार्य की उत्पत्ति मे निमित्त कारण अवश्यंतया अपेक्षित होता है। यह निमित्त कारण, उपादान कारण से अलग होता है। इस तरह [1]जीव

1 'गदिकिरियाजुत्ताण कारणभूद सयमकज्ज।
'ठिदिकिरिया जुत्ताण कारणभूद तु पुढवीव।' —पचास्तिकाये / श्लोक ८४/८६

पुद्गल की गति में निमित्तकारण के रूप में धर्मास्तिकाय का अस्तित्व सिद्ध होता है और जीव तथा पुद्गल की स्थिति में निमित्त कारण के रूप में अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व सिद्ध होता है।

गतिपरिणत जीवों की व पुद्गलों की गति में सहज रूप से ही धर्मद्रव्य सहायक बनता है। जब जीव-पुद्गल द्रव्य गतिशील न हो तब जबरदस्ती धर्मद्रव्य गति नहीं करवाता। इसी तरह जब जीव-पुद्गल-द्रव्य गतिशील हो तब अधर्म द्रव्य स्थिति करवाने के लिये दबाव नहीं डालता। जब पानी में मछली गतिशील होती है तब धर्मास्तिकाय उसकी गति में मात्र सहायक होता है उस समय अधर्मास्तिकाय मछली को गति नहीं रुक देता।

इसी तरह आकाश द्रव्य साहजिक रूप से जीव पुद्गल वगरह द्रव्यों को अवकाश देता है। या फिर कहो कि जीव वगैरह द्रव्यों को सहजता से अवकाश प्राप्त हुआ है, आधार मिला है।

- ज्यों स्वयं खेती करते हुए किसानों को बारिश सहाय करती है, परन्तु खेती नहीं करने वाले किसानों से बारिश जबरदस्ती खेती नहीं करवाती।
- ज्यों मेघगर्जना सुनकर बगली को गर्भाधान या प्रसव हो जाता है पर स्वयं बगली प्रसव न करें तो बादलों की गड़गड़ाहट उसे प्रसव करवाने के लिये मजबूर नहीं करती।
- जैसे धर्म का उपदेश सुनकर मनुष्य पापों का त्याग करता है परन्तु मनुष्य यदि पाप त्याग नहीं करता हो तो धर्मोपदेश जोर-जुल्म करके पापत्याग नहीं करवाता।

इस तरह जीव तथा पुद्गल की गति स्थिति में धर्मद्रव्य और अधर्म-द्रव्य सहजता से सहायक बनते हैं जबरदस्ती से नहीं। सारांश यह है कि धर्म, अधर्म व आकाश—ये तीन द्रव्य प्रेरक कारण नहीं हैं परन्तु उदासीन कारण हैं। इनका अस्तित्व ही कार्य करता है।

पुद्गलद्रव्य के उपकार

श्लोक स्पर्शरसगन्धवर्णा शब्दो बन्धश्च सूक्ष्मता स्थौल्यम् ।
संस्थानं भेदतमश्छायोद्योतातपश्चेति ॥२१६॥

कर्मशरीरमनोवाग्विचेष्टितोच्छ्वासदु:खसुखदा: स्यु: ।
जीवितमरणोपग्रहकराश्च संसारिण: स्कंधा: ॥२१७॥

अर्थ : स्पर्श, रस, गध, वर्ण, शब्द, वंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकार, खड, अधकार, छाया, प्रकाश [चद्र का] और ताप [सूर्य का] [२१६] ससारी जीवो के कर्म [ज्ञानावरणादि] शरीर, मन, वचन, क्रिया, श्वास-उच्छ्वास, सुख-दु ख देने वाले स्कध [पुद्गल] हैं, जीवन और मरण में सहायक स्कध है [यह सब पुद्गल के उपकार हैं] [२१७]

विवेचन · पुद्गल द्रव्य के अनेक कार्य है । यहा इन दो श्लोको मे उसमे से कुछ कार्य वतलाये गये है । पुद्गल के कार्यों को 'पुद्गल' का 'उपकार' कहा गया है । हालाकि, पुद्गलद्रव्य अचेतन है, वह अकर्ता है, फिर भी 'वह उपकार करता है,' ऐसा वाक्यप्रयोग किया जाता है, वह मात्र औपचारिक है ।

जीवात्मा मृदु-कठोर आदि स्पर्श का जो अनुभव करता है, खट्टा-मीठा-चरपरा वगैरह का जो अनुभव करता है, सुगन्ध-दुर्गन्ध महसूस करता है... लाल-पीला आदि रग देखता है...तीव्र...मंद वगैरह शब्द सुनता है. . यह सब पुद्गल द्रव्य के उपकार हैं । स्पर्शादि भी पुद्गल द्रव्य के ही गुण हैं ।

कर्म-पुद्गलो का आत्मप्रदेशो के साथ क्षीर-नीर न्याय से जो वंध होता है, वह भी पुद्गलद्रव्य का ही कार्य है । पुद्गलद्रव्य का उपकार है । अनत प्रदेशी पुद्गलस्कधो का सूक्ष्म होना और स्थूल होना, पुद्गल का कार्य है । आकाश मे वादल होते है...विजली चमकती है... इद्रधनुष विखरता है....वगैरह पुद्गलद्रव्यो के कार्य है । समचतुरस्र आदि संस्थान-आकार भी पुद्गलद्रव्य का सर्जन है । खड-खड होना... टुकड़े होना, यह भी पुद्गल का कार्य है और अंधकार व छाया भी पुद्गलद्रव्य का कार्य है ।

चाद, तारे वगैरह का प्रकाश-उद्योत पुद्गल का उपकार है एवं सूर्य का आतप भी पुद्गल का उपकार है ।

ज्ञानवरण आदि कर्म, औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तेजस और कार्मण शरीर, इसी पुद्गलद्रव्य के सर्जन हैं । जीवात्मा की हर एक क्रिया और श्वासोश्वास पुद्गल के कार्य है । जिसे अपन सुख व दु:ख कहते हैं, वह भी पुद्गलद्रव्य का परिणाम है ।

जीवन पर अनुग्रह करने वाले घी, दूध वगैरह पुदगल एव मृत्यु के कारणभूत द्रव्य जहर वगैरह भी पुद्गल द्रव्य के काय ह ।

ये सारे पुदगल द्रव्य के काय स्कघ के रूप मे परिणत पुद्गलद्रव्य के ही काय हाते ह । परमाणु द्रव्य के नही । पुद्गल-द्रव्य भी जीव द्रव्य के साथ जब जुडते ह तब ही यह काय कर सकते ह ।

सुख दुःख के जो द्वन्द्व जीवात्मा मे पैदा होते ह, वे भी पुद्गल द्रव्य के निमित्त से ही पैदा होते ह । अत उन्हे पुद्गलद्रव्य का काय कहा गया है ।

काल व जीव के लक्षण

श्लोक परिणामवतनाविधि परापरत्वगुणलक्षण काल ।
सम्यक्त्वज्ञानचारित्रवीर्यशिक्षागुणा जीवा ॥२१८॥

अर्थ परिणाम, वतना की विधि, परत्व अपरत्वगुण काल के लक्षण ह ।
सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, वीय एव शिक्षा [ये] जीव के गुण हैं ।

विवेचन ग्रन्थकार श्रीमद् उमास्वाती भगवत काल को स्वतत्र द्रव्य मानकर उसके उपकार बतला रहे ह ।

- अपनी जाति का छोडे बगर, द्रव्य मे होने वाली पूर्वावस्था की निवत्ति व उत्तरावस्था की उत्पत्ति उसका नाम परिणाम ।
- अपने अपने पर्यायो की उत्पत्ति मे स्वयमेव प्रवतमान पाचो द्रव्यो को निमित्तरूप मे प्रेरणा करना-उसका नाम है वतना ।
- परत्व यानी ज्येष्ठत्व [बडप्पन] अपरत्व यानी कनिष्ठत्व [लघुत्व]

स्त्री उचित समय पर गभ को धारण करती है, पुत्र का प्रसव करती है यह काल का प्रभाव है । दूध मे से दही बनता है दही म से मक्खन बनता है घी बनता है यह काल का काय है । जमीन मे अकुर पदा हाते हैं फूटते है पौधा बनता ह उस पर फल लगते हैं उसमे प्रेरक है यह कालद्रव्य । काले बाल सफेद हो जाते हैं, नया वस्त्र पुराना हो जाता है यह है काल का परिणाम । छह ऋतुओ का विभागीकरण भी काल का ही परिणाम है ।

अतीत अनागत एव वतमान का व्यवहार भी काल के जरिये ही होता है । बडा छोटा का व्यवहार भी कालकृत है । पुद्गल द्रव्य मे

रूप रस वगैरह के परिवर्तन मे कालद्रव्य प्रेरक माना गया है। जीव में ज्ञान-दर्शन वगैरह के उपयोग का परिवर्तन भी कालकृत है। इस तरह काल द्रव्य समूचे संसार पर छाया हुआ है।

कारिका [श्लोक] के आधे हिस्से मे कालद्रव्य का लक्षण बताकर दूसरे आधे हिस्से मे जीव का लक्षण बताया गया है—[1]'तत्वार्थ-सूत्र' मे इन्ही ग्रंथकार ने कार्य के द्वारा जीव का लक्षण बतलाया है। यहां पर इस ग्रंथ में गुणो के द्वारा जीव का लक्षण बतला रहे

१ सम्यक्त्व [तत्वार्थश्रद्धान रूप]

२ ज्ञान [मति - श्रुतादि रूप]

३ चारित्र [क्रियानुष्ठान रूप]

४ वीर्य [शक्तिविशेष रूप]

५ शिक्षा [लिपि - अक्षरादिज्ञान रूप]

जीव के ये पाँच मुख्य गुण जीव मे ही उत्पन्न होते है इसलिये यों कहा जाता है कि 'जीव इन गुणों को पैदा करता है।' इस तरह जीव को उपकारी कहा जा सकता है।

इस तरह छह द्रव्यो के कार्य बताकर, ग्रंथकार अजीव द्रव्य का वर्णन पूरा कर रहे है।

पुण्य एवं पाप

श्लोक : पुद्गलकर्म शुभं यत् तत् पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम् ।
यदशुभमथ तत्पापमिति भवति सर्वज्ञनिर्दिष्टम् ॥२१९॥

अर्थ : जो पुद्गल कर्म शुभ है वह पुण्य है, ऐसा जिनशासन में देखा गया है। जो अशुभ है वह पाप है। ऐसा सर्वज्ञ के द्वारा कथित है।

विवेचन : जब तक कार्मणवर्गणा के पुद्गल जीवात्मा ग्रहण नही करता तब तक वे शुभ या अशुभ नही होते। योग के द्वारा जब उस कार्मण-वर्गणा के पुद्गल जीव ग्रहण करता है तब उसके दो भेद हो जाते हैं : शुभ एवं अशुभ। शुभ कर्म को पुण्यप्रकृति कहा जाता है और अशुभ कर्म को पाप-प्रकृति कहा जाता है। जो पुद्गल-कर्म आत्मा के

1 परस्परोपग्रहो जीवानाम् । तत्वार्थ सूत्रे / अ. ५ / सू. २१

साथ जुडकर सुख का अनुभव करवाये उसे पुण्यप्रकृति कही जाती है और जो पुद्गल आत्मा से जुडकर दु ख का अनुभव करवाये उसे पाप प्रकृति कही जाती है।

पुण्य प्रकृतिया ४२ प्रकार की हैं

१ शाता वेदनीय इस कर्म के उदय से शरीर का सुख मिलता है।
२ उच्च गोत्र इस कर्म के उदय से उच्च कुल में जन्म होता है।
३ देव आयुष्य देवगति का आयुष्य मिलता है।
४ मनुष्य आयुष्य मनुष्यगति का आयुष्य मिलता है।
५ तिर्यंच आयुष्य तिर्यंचगति का आयुष्य मिलता है।
६ मनुष्य गति मनुष्यगति मे जन्म मिलता है।
७ मनुष्य आनुपूर्वी यह कर्म जीव को मनुष्य गति मे ले आता है।
८ देव गति देवगति म जन्म मिलता है।
९ देव आनुपूर्वी यह कर्म जीव को देवगति मे ले जाता है।
१० पचेन्द्रिय जाति जीव को पाचो इन्द्रियोवाला जीवन मिलता है।
११ औदारिक शरीर मनुष्य एव तिर्यच के शरीर औदारिक पुद्गलो से बनते हैं। इस कर्म के उदय से जीव अपने शरीर के योग्य पुदगलो का ग्रहण करता है।
१२ वैक्रिय शरीर देव व नारकों के शरीर 'वैक्रिय' पुदगलो के बनते है। इस कर्म के उदय मे विविध क्रियाएँ कर सके वैसे शरीर की प्राप्ति होती है।
१३ आहारक शरीर इस कर्म का उदय चौदह पूर्वो के ज्ञानी महर्षि को होता है। व तीर्थंकर का समवसरण देखने के लिये या मन की शका का समाधान पाने के लिये एक हाथ जितना आहारक शरीर बनाकर तीर्थंकर के पास जाते हैं।
१४ तैजस शरीर इस कर्म के उदय से आहार–पाचन करने के लिय व 'तेजोलेश्या' मे हेतुभूत शरीर की प्राप्ति होती है।
१५ कार्मण शरीर सब शरीरो के मूल कारणरूप एव आठ कर्मो के विकार रूप 'कार्मण' शरीर की प्राप्ति होती है।
१६ औदारिक अगोपांग औदारिक शरीर के अगोपाग मिलते है।
१७ वैक्रिय अगोपाग वैक्रिय शरीर के अगोपाग मिलते है।
१८ आहारक अगोपांग आहारक शरीर के अगोपाग मिलते है।

१६. वज्र-ऋषभ-नाराच संघयण : दो तरफ मर्कटबंध, ऊपर पट्टा और उस पर कील... हड्डियों का ऐसा ढांचा इस कर्म के उदय से मिलता है।

२० समचतुरस्र संस्थान . पर्यंकासनस्थ [पालथी लगाकर] बैठने पर शरीर की आकृति चारों ओर से एक सी हो, वैसी शरीराकृति इस कर्म के उदय से मिलती है।

२१ शुभ वर्ण : शरीर के श्वेत, पीत व लाल रंग की प्राप्ति हो।

२२ शुभ गंध . शरीर की गंध शुभ प्राप्त हो।

२३. शुभ रस · शरीर का स्वाद शुभ हो।

२४. शुभ स्पर्श : शरीर का स्पर्श हल्का, मुलायम और प्रिय हो।

२५. अगुरु लघु . बहुत भारी नहीं, बहुत हल्का नहीं, वैसा मध्यम वजन का शरीर मिले।

२६ पराघात बलवान को भी जीतने में सक्षम बने।

२७. श्वासोश्वास : श्वासोश्वास सुखरूप ले सके।

२८. आतप . सूर्य की तरह खुद शीतल हो, पर दूसरों को गरमी देना हो।

२९ उद्योत चंद्र जैसा शीतल और प्रकाशवान् शरीर की प्राप्ति हो।

३०. शुभ विहायोगति : हाथी, हंस जैसी सुन्दर चाल हो।

३१ निर्माण सुथार के द्वारा निर्मित पुतली की तरह अंग-उपांग योग्य स्थल पर व्यवस्थित मिले।

३२. त्रस - बेइन्द्रिय वगैरह शरीर की प्राप्ति हो।

३३ बादर : चर्म चक्षु से देखा जा सके वैसा बड़ा शरीर मिले।

३४ शुभ . नाभि के ऊपर का शरीर प्रमाणपुरस्सर मिले।

३५. पर्याप्ति अपनी पर्याप्ति पूरी करे।

३६. प्रत्येक : एक शरीर में एक जीव हो वैसा कर्म।

३७. स्थिर . हड्डियां (दांत वगैरह) स्थिर मिले।

३८. सौभाग्य लोकप्रियता मिले, जहां जाये लोगों की चाहना मिले।

३९ सुस्वर वाणी मधुर एवं प्रिय मिले।

४० आदेय · लोगों में वचन मान्य हो।

४१. यश : लोगों में यशकीर्ति फैले।

४२ तीर्थंकर : त्रिभुवनपूज्य तीर्थंकर बने।

पापप्रकृतियां ८२ प्रकार की हैं

१ मतिज्ञानावरण - मतिज्ञान को ढकता है।
२ श्रुतज्ञानावरण - श्रुतज्ञान को ढकता है।
३ अवधिज्ञानावरण - अवधिज्ञान को ढकता है।
४ मनःपर्ययज्ञानावरण - मन पर्ययज्ञान को ढकता है।
५ केवलज्ञानावरण - केवलज्ञान को ढकता है।
६ चक्षुदर्शनावरण - चक्षुदर्शन को ढकता है।
७ अचक्षुदर्शनावरण - अचक्षुदर्शन को ढकता है।
८ अवधिदर्शनावरण - अवधिदर्शन को ढकता है।
९ केवलदर्शनावरण - केवलदर्शन को ढकता है।
१० निद्रा - ऐसी नींद आये कि सुखपूर्वक जग सके।
११ निद्रानिद्रा - ऐसी नींद आये कि मुश्किल से जगे।
१२ प्रचला - बैठे बैठे और खड़े खड़े नींद निकाले।
१३ प्रचला-प्रचला - चलते चलते नींद निकाले।
१४ स्त्यानर्द्धि - दिन का सोचा काम रात को नींद में जगते हुए की भांति करे।
१५ मिथ्यात्वमोहनीय - वीतराग के वचन पर श्रद्धा न हो।
१६ से १९ अनंतानुबंधी कषाय - सम्यक्त्व को रोकने वाले क्रोध-मान-माया-लोभ।
२० से २३ अप्रत्याख्यानी कषाय - देशविरति को रोकने वाले क्रोध-मान माया-लोभ।
२४ से २७ प्रत्याख्यानी कषाय - सर्वविरति को रोकने वाले क्रोध मान-माया-लोभ।
२८ से ३१ संज्वलन कषाय - यथाख्यात चारित्र को रोकने वाले क्रोध-मान-माया-लोभ।
३२ हास्य - जिसके उदय से हंसना आये।
३३ रति - जिसके उदय से खुशी हो।
३४ अरति - जिसके उदय से अरुचि, नाखुशी हो।
३५ भय - जिसके उदय से डर लगे।
३६ शोक - जिसके उदय से शोक - आक्रंद हो।
३७ जुगुप्सा - जिसके उदय से दूसरों के प्रति घृणा-नफरत हो।

३८. पुरुषवेद - जिस के उदय से स्त्री के साथ मैथुन सेवन की इच्छा हो।
३९ स्त्री वेद - जिसके उदय से पुरुष के साथ मैथुन सेवन की इच्छा हो।
४० नपुंसक वेद - जिसके उदय से पुरुष एवं स्त्री दोनों के साथ मैथुन सेवन की इच्छा जगे।

४१ दानान्तराय - इस कर्म के उदय से, अपने घर में देने योग्य वस्तु होने पर भी, दान का फल जानने पर भी, दान न दे सके।

४२. लाभान्तराय - इस कर्म के उदय से, दाता के पास वस्तु होने पर भी, माँगने वाला होने पर भी, इच्छित वस्तु नहीं मिलती।
४३ भोगान्तराय - इस कर्म के उदय से, स्वय युवान होने पर भी, सुरूप होने पर भी, भोग्य वस्तु मिलने पर भी भोग न सके।
४४ उपभोगान्तराय - युवान एव सुरूप होने पर भी, इस कर्म के उदय के कारण उपभोग्य वस्तु पास मे होने पर भी उपभोग न कर सके।

४५ वीर्यान्तराय - इस कर्म के उदय से जीव निर्वीर्य होता है।
४६ तिर्यंचगति - तिर्यंचगति मे उत्पन्न हो।
४७ तिर्यंच आनुपूर्वी - तिर्यंच की आनुपूर्वी प्राप्त होती है।
४८ नरकगति - नरकगति मे पैदा हो।
४९. नरक आनुपूर्वी - नरक आनुपूर्वी प्राप्त होती है।
५०. एकेंद्रिय जाति - एक इंद्रिय मिलती है [पृथ्वी, पानी वगैरह]
५१ बेइंद्रिय जाति - दो इंद्रियाँ मिलती है [शख-कौड़े वगैरह]
५२. तेइंद्रिय जाति - तीन इंद्रियाँ मिलती है [खटमल, जू, वगैरह]
५३ चउरिंद्रिय जाति - चार इंद्रियाँ मिलती है [बिच्छु, भ्रमर वगैरह]
५४ अशुभ विहायोगति - ऊँट, गधे जैसी बुरी चालवाली अशुभ गति मिले।
५५ उपघात - अपने ही अवयव से खुद ही कष्ट पाये। [रसौली, छोटी जीभ वगैरह]
५६. अशुभ वर्ण - शरीर का वर्ण अशुभ मिलता है।
५७ अशुभ गंध - शरीर की गंध अशुभ मिलती हैं।
५८ अशुभ रस - शरीर का रस अशुभ मिलता है।
५९. अशुभ स्पर्श - शरीर का स्पर्श अशुभ मिलता है।
६०. ऋषभ-नाराच-संघयण - हड्डियो का गठन कील बिना का हो।
६१ नाराच संघयण - हड्डियो का गठन कील व पट्टी के बिना का हो।

६२ अर्धनाराच सघयण - हड्डिया का गठन एक तरफा ही हो।
६३ कीलिका - हड्डियो का गठन मात्र एक कील पर अवलम्बित हो ।
६४ सेवात - [अतिम] हड्डिया परस्पर जुडकर रही हो ।
६५ न्यग्रोधपरिमडल सस्थान - नाभि के उपर का शरीर सुन्दर हो, पर नीचे का नही ।
६६ सादिस स्थान - नाभि से नीचे का शरीर लक्षणायुक्त हो, उपर का नही ।
६७ वामन सस्थान - पेट छाती, लक्षणयुक्त हो, हाथ, पर, सर, गरदन प्रमाणोपेत न हो ।
६८ कुब्ज सस्थान–हाथ, पर, सर, गरदन प्रमाणयुक्त हो पर पेट, छाती पीठ प्रमाणरहित हा ।
६९ हुडक सस्थान - सारे अवयव प्रमाणयुक्त न हो ।
७० स्थावर - स्थावरपना मिलता है ।
७१ सूक्ष्म - आखो से न दिखे वसे सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति हो ।
७२ अपर्याप्त - अपने लिये योग्य पर्याप्ति पूरी न करे ।
७३ साधारण अनत जीवो का एक ही शरीर मिले ।
७४ अस्थिर - दात वगरह अवयव अस्थिर मिले ।
७५ अशुभ - नाभि से नीचे का अग औरो का छूने पर अशुभ लग ।
७६ दुर्भाग्य - लोगा को अप्रिय लगे ।
७७ दुस्वर - कौए गधे सी खराब आवाज मिले ।
७८ अनादेय - लोगा मे वचन माय न हो ।
७९ अपयश - लोगो मे अपकीर्ति-बदनामी फले ।
८० नरक आयुष्य - नरकगति का आयुष्य मिले ।
८१ असातावेदनीय - शारीरिक दु ख मिले ।
८२ नीचगोत्र - नीच कुल मे जन्म मिले ।

इस तरह ४२ पुण्य-प्रकृति एव ८२ पाप-प्रकृतियो का सक्षिप्त वणन किया गया है ।

आस्रव एवं संवर

श्लोक : योग शुद्धः पुण्यास्रवस्तु पापस्य तद्विपर्यास।
वाक्कायमनोगुप्तिर्निरास्रवः संवरस्तूक्तः ॥२२०॥

अर्थ शुद्ध योग पुण्य का आश्रव है। अशुद्ध योग पाप का आस्रव है। मन वचन काया की गुप्ति निरास्रव है, अर्थात् वह सवर कहलाता है।

विवेचन : मन, वचन व काया की क्रिया को योग कहा गया है। [1]वह योग ही आस्रव है। आत्मा के साथ कर्मो का सबध करने वाला होने से उसे आस्रव कहा गया है।

तात्विक दृष्टिकोण से, वीर्यान्तिराय कर्म के क्षय से या क्षयोपशम से एद पुद्‌गलो के आलंबन से होता आत्मप्रदेशो का परिस्पद-कपन क्रिया, उसे योग कहा जाता है।

[2]यह मन-वचन-काया का योग जब शुद्ध (शुभ) हो तब पुण्यास्रव बनता है।

आगम [जिनवचन] विहित विधि के अनुसार जब मन-वचन-काया की प्रवृत्ति होती है तब पुण्यकर्म का आत्मा मे आश्रव होता है। यानी पुण्यकर्म आत्मा मे बहता हुआ आता है। स्वेच्छया प्रवृत्ति करने से पापकर्म का आत्मा मे आश्रव होता है यानी पापकर्म आत्मा में बहते हुए चले आते है।

- दया-दान, ब्रह्मचर्यपालन वगैरह शुभ काययोग है।
- निरवद्य, सत्य भाषण, मृदु एव सम्य भाषण शुभ वचनयोग है।
- मैत्री-प्रमोद आदि के विचार शुभ मनोयोग है।
- हिंसा-चोरी-अब्रह्म सेवन इत्यादि अशुभ काययोग हैं।
- सावद्य-मिथ्या भाषण, कठोर वचन वगैरह अशुभ वचन योग है।
- दूसरो के अहित का विचार, दूसरो को मारने का विचार वगैरह अशुभ मनोयोग हैं।

[3]इन आश्रवो का निरोध यानी संवर।

---

1 स एष त्रिविधोऽपि योग आस्रवसंज्ञो भवति। —तत्त्वार्थभाष्ये/अ. ६/सू.२

2 शुभ पुण्यस्य / अशुभः पापस्य। —तत्त्वार्थे/सू. ३/४

3 आस्रवनिरोध सवर। —तत्वार्थे/अ ६/सू १.

कमबध के हेतु आश्रव कहलाते हैं, उन हेतुओ को रोकना वह सवर है। जितनी मात्रा मे ये आश्रव रुके उतनी मात्रा मे आत्मविशुद्धि होती है। मन वचन-काया की गुप्ति से आश्रवो का रोका जा सकता है। इन्ही ग्रन्थाकार ने तत्वार्थसूत्र मे सवर के अन्य उपाय भी बतलाये है। [1]'गुप्ति, समिति, धम-अनुप्रेक्षा परिषहजय व चारित्र के द्वारा आश्रवो का सवर हो सकता है। अर्थात् मन-वचन-काया के योग नियमित बनते हैं। इन आश्रव-सवर के भेदो का सविस्तार वर्णन 'नवतत्व प्रकरण' एव 'तत्वार्थसूत्र टीका' वगैरह ग्रन्थो मे प्राप्त होता है।

निजरा - बध व मोक्ष

श्लोक सवृततपउपधान तु निजरा कमसन्ततिबन्ध ।
बन्धवियोगो मोक्षस्त्विति सक्षेपान्नव पदार्था ॥२२१॥

अर्थ सवर से युक्त जीवात्मा का तप-उपधान वह निजरा, कर्मो की सतति वह बध, बध का वियोग (अभाव) वह मोक्ष। इस तरह सक्षेप में नौ पदार्थ (तत्व) बतलाये गये हैं।

विवेचन निजरा यानी कर्मो का आशिक एव सर्वथा क्षय।

तपश्चर्या से यह कमनिजरा होती है। परन्तु तपश्चर्या करने वाली आत्मा सवृत्त होनी चाहिए। सवृत्त आत्मा की तपश्चर्या निजरा का हेतु बनती है। समितियुक्त, गुप्तियुक्त, धमध्यानयुक्त, अनुप्रेक्षायुक्त, चारित्रयुक्त और परिषहविजेता आत्मा की तपश्चर्या अत्यन्त कम निजरा करती है। उनकी तपश्चर्या 'तप-उपधान' बनती है यानी आत्मसुख का कारण बनती है। सुख के हेतु को 'उपधान' कहा गया है।

[2]तप के बारह प्रकार बतलाये गये हैं। छह प्रकार का बाह्यतप व छह प्रकार का आभ्यतर तप बतलाया गया है। बाह्य तप जो करना है वह आभ्यतर तप मे पहुँचने के लिये। बाह्यतप से होने वाली निजरा की अपेक्षा आभ्यतर तप से होने वाली निजरा कही अधिक है।

'बन्ध' तत्व की ग्रन्थकार ने बडी सुन्दर व्याख्या की है कर्मो की सतति वह बध। सकर्मा जीव ही कर्मबन्ध करता है। ज्यों सकषायी जीव कर्मबन्ध करता है त्यो अकषायी जीव भी शातावेदनीय कम का बध

1 ▮ गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परिषहजय-चारित्र। —तत्वार्थ/अ ९/सू २
2 इस ग्रन्थ के श्लोक १७५/१७६ का विवेचन देखें।

करता है। 'तत्वार्थसूत्र' मे इन्ही ग्रंथकार ने 'वध' की व्याख्या सकषायी जीवों को लक्ष्य कर के कही है :

[1]सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्ध'।

'जीव सकषायी होने से कर्म के योग्य पुद्गल ग्रहण करता है... वह वध कहलाता है।' वही ग्रन्थकार यहा 'प्रशमरति' मे 'वध' की परिभाषा 'कर्मसतति वन्ध.' करते है। यह व्याख्या ज्यादा स्पष्ट है। आत्मा कर्म से ही कर्म को ग्रहण करती है। अकर्मा जीव कर्म ग्रहण नही करता। [कर्मवन्ध का विस्तृत वर्णन इसी ग्रथ की कारिका ३४ से ५६ तक कर दिया गया है।]

'मोक्ष' तत्त्व की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार कहते है **'बन्धवियोगो मोक्ष'** : कर्मबन्ध का अभाव वह है मोक्ष। 'तत्वार्थसूत्र' मे **'कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष'** सपूर्ण कर्मों का क्षय हो जाना उसका नाम है मोक्ष। यह व्याख्या की गइ है। दोनो व्याख्याए वैसे तो एक ही अर्थ का प्रतिपादन करती है। सारे कर्मो का क्षय होने के पश्चात् नया कर्मवन्ध होता ही नही। कर्मो से सर्वथा मुक्त हुई आत्मा को कर्मबन्व नही होता। यही जीवात्मा का मोक्ष है।

इस तरह ग्रन्थकार ने जीवतत्व व अजीवतत्व का कुछ विस्तृत वर्णन और बाकी के तत्वो का सक्षिप्त वर्णन किया है।

सम्यग्दर्शन

श्लोक : एतेष्वध्यवसायो योऽर्थेषु विनिश्चयेन तत्त्वमिति।
सम्यग् दर्शनमेतच्च तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥२२२॥
शिक्षागमोपदेशश्रवणान्येकार्थकान्यधिगमस्य।
एकार्थः परिणामो भवति निसर्गः स्वभावश्च ॥२२३॥

अर्थ : इन जीव वगैरह पदार्थो मे परमार्थ से "यही तत्त्व है,' ऐसा अध्यवसाय होता है, वह सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन स्वाभाविक रूप मे या अधिगम से—वाह्यनिमित्त से होता है।

शिक्षा, आगम, उपदेश, श्रवण—ये अधिगम के समानार्थक है व परिणाम, निसर्ग, स्वभाव—यह तीन एकार्थक है।

1 तत्वार्थ—अ ८/सू २/३

विवेचन जीव व कम का सयोग अनादिकालीन है। जीव सपूणतया मर्मो के प्रभाव तले है। उसकी हर एक वत्ति एव प्रवत्ति कमप्रेरित होती है। परतु ससारपरिभ्रमण का वाल जव मर्यादित होता है और जीव मे कुछ होश सा आता है तव उसे आतर-वाह्य अनुकूल सजोग प्राप्त होते हैं। उन सजोगो मे यदि वह कर्मों को नष्ट करने के लिये कडा पुरुषाथ कर ले तब तो वह आत्मविशुद्धि प्राप्त कर सकता है। सबसे पहली आत्मविशुद्धि होती है 'सम्यग्दशन' की, वह उसे प्राप्त हो जाती है।

आतर-वाह्य अनुकूलताए कसी मिलनी चाहिए यह अपन पहले जान लें।

1° जीवात्मा 'पर्याप्त' चाहिए यानी छहो पर्याप्तियो से युक्त चाहिए।
- पांचो इन्द्रिया परिपूण होनी चाहिए [एकेद्रिय से चऊरिंद्रिय तक के जीवात्मा नही]
- सज्ञीपना चाहिए—यानी मन चाहिए। मन बगर के पचद्रिय भी अयोग्य होते हैं।
- शुभ लेश्या चाहिए। यानी की तेजो पद्म शुक्ल लेश्या मे स कोई एक लेश्या चाहिए।

2° परावतमान शुभ कमप्रकृति का वाधने वाला जीव होना चाहिए।
- निरतर बढते हुए अध्यवसाय होना जरूरी है।
- अशुभ कमप्रकृति के रस को अनत गुणहीन एव शुभ प्रकृति के रस को अनत गुणवद्धि से वाधने वाला चाहिए। [रसवध]
- मोहनीय कम की स्थिति अत क्रोडाकोडी सागरोपम की वाधन वाला चाहिए। [ज्यादा नही]
- आयुष्य कम का वध करता हुआ नही होना चाहिए।

3° उत्तरोत्तर पल्योपम के सख्यातवें भाग मे न्यून-न्यून कमवध करता हुआ होना चाहिए।

4° साकारोपयोग मे प्रवतमान भव्य जीव होना चाहिए।

---

1 'पर्याप्तिया' का स्वरूप आगे बतलाया जायेगा।

2 'परावतमान प्रकृति' का स्वरूप भी आगे दर्शाया जायगा।

3 'पल्योपम' का स्वरूप आगे पढिये।

4 भव्य जीव का स्वरूप आगे देखिये।

चारगति मे [देव-नारक-मनुष्य-तिर्यंच मे] रहा हुआ कोई भी जीव 'मिथ्यात्व मोहनीय कर्म' का सर्वोपशम करने में समर्थ हो सकता है।

'मिथ्यात्व मोहनीय कर्म' का उपशम हो तब ही 'सम्यग्दर्शन' रूप आत्मविशुद्धि प्राप्त होती है। उस उपशम करने की प्रक्रिया के मुख्य तीन चरण हैं :

[1]१ यथा प्रवृत्तिकरण
२ अपूर्वकरण
३ अनिवृत्तिकरण

इन तीन करणो से मिथ्यात्व मोहनीय कर्म की जो उपशमना होती है वह 'करणकृत उपशमना' कही जाती है। 'अकरण-उपशमना' भी होती है, अर्थात् तीन करण किये वगैर भी मिथ्यात्व का उपशम हो सकता है। जैसे कि, पर्वतीय नदी के पत्थर स्वयमेव गोल हो जाते है वैसे ही ससार मे भटकते हुए जीवों का वेदन, अनुभव वगैरह कारणो से प्रशस्त अध्यवसाय उत्पन्न होते हैं और उन अध्यवसायो से मिथ्यात्व का उपशम होता है।

प्रस्तुत में अपन 'करणकृत उपशम' का विचार करेंगे।

'करण' यानी पल-पल [प्रति समय] क्रमिक अनत-अनत गुना बढते हुए आत्मपरिणाम। विशुद्धि का क्रम और विशुद्धि के प्रमाण की अपेक्षया करण के तीन प्रकार बतलाये गये है। सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी श्रेष्ठ पुरुषो ने अपनी पूर्णदृष्टि मे इन आत्मपरिणामों को, आत्मा के अध्यवसायो का क्रम एव उसका प्रमाण प्रत्यक्ष देखकर जो कहा है एव जिसे आगमग्रन्थों मे सग्रहित कर लिया गया है, उसी के आधार पर यह स्पष्टीकरण किया गया है।

जब जीवात्मा **यथाप्रवृत्तिकरण** करने का प्रारभ करता है तब, काल की अपेक्षया प्रथम समय मे जो जघन्य (कम से कम) विशुद्धि [अध्यवसायो की] होती है उसकी बजाय दूसरे समय की जघन्य विशुद्धि अनतगुनी होती है। इससे भी अनतगुनी विशुद्धि तीसरे समय मे होती है।... या सख्यातीत [गणित की अतिम सख्या तक] समय तक विशुद्धि का क्रम व प्रमाण बढता जाता है। इसके बाद वह क्रम बदल जाता है।

---

1 पढमं अहापवत्त बीय तु नियट्टी तइयमणियट्टी ।
अतोमुहुत्तियाइं उवसमअद्ध च लहइ कमा ॥५॥ —पच सग्रहे/उपशमनाकरणे

अंतिम से अंतिम समय की [संख्या की दृष्टि से] जो जघन्य आत्मविशुद्धि होती है उससे भी अनंतगुना उत्कृष्ट विशुद्धि पहले समय की ['यथा प्रवृत्तिकरण' के प्रारंभिक समय की] होती है। इस उत्कृष्ट विशुद्धि से भी संख्या की दृष्टि से अन्तिम समय के बाद के पहले समय की जघन्य आत्मविशुद्धि अनंत-गुना होती है। इस आत्मविशुद्धि से भी प्रारंभिक दूसरे समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनंतगुना होती है। इस क्रम से आत्मविशुद्धि अनंत-गुना बढ़ती जाती है संख्या की दृष्टि से अन्तिम समय की विशुद्धि अनंतगुना आ जाय, इसके बाद क्रम बदल जाता है।

संख्या की दृष्टि से, अंतिम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि से संख्यातीत प्रथम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनंतगुना होती है। उससे भी, उसके बाद के समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनंतगुना ..उससे तीसरे समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनंतगुना इस क्रम से असंख्य समय तक विशुद्धि बढ़ती रहती है। 'यथाप्रवृत्तिकरण' का काल भी अन्तमुहूर्त का होता है। एक अन्तमुहूर्त में असंख्य समय समाविष्ट होते हैं।

अपूर्वकरण में आत्मविशुद्धि का क्रम अलग है। प्रमाण 'अनंतगुना' समान है। 'यथाप्रवृत्तिकरण' के अन्तिम समय में जो उत्कृष्ट आत्मविशुद्धि होती है उससे भी अपूर्वकरण के प्रथम समय में जीवात्मा की जघन्य विशुद्धि अनंतगुना होती है उससे भी प्रथम समय में उत्कृष्ट आत्मविशुद्धि अनंतगुना होती है।

एक ही समय में जघन्य आत्मविशुद्धि से भी उत्कृष्ट आत्मविशुद्धि अनंतगुना होती है। 'समय' इतना तो सूक्ष्म काल है कि जिसके दो टुकड़े नहीं हो सकते ऐसे सूक्ष्म काल में भी केवलज्ञानी की दृष्टि विशुद्धि के दो भेद देखती है जघन्य एवं उत्कृष्ट! अर्थात्, काल से भी भाव कहीं ज्यादा सूक्ष्म है। जहां काल विभाजित नहीं हो सकता वहां भाव विभाजित होता है।

प्रथम समय में जो उत्कृष्ट आत्मविशुद्धि होती है उसकी बजाय दूसरे समय में जघन्य विशुद्धि अनंतगुना होती है, उससे भी अनंतगुना उत्कृष्ट आत्मविशुद्धि दूसरे समय में ही होती है। इस क्रम से अपूर्वकरण का समय पूरा होता है।

अपूर्वकरण में इस तरह से आत्मविशुद्धि का प्रमाण बढ़ता जाता

है, उसके साथ-साथ जीवात्मा 'अ-पूर्व' यानी पहले कभी भी नही की हुई चार सूक्ष्म क्रियाए करता है; ये सूक्ष्म क्रियाए है .

[1]**१. स्थितिघात २. रसघात ३. गुणश्रेणी ४. अपूर्व स्थितिबंध।**

ये चार अपूर्व क्रियाए करने के वाद जीवात्मा अनिवृत्तिकरण करता है। अनिवृत्तिकरण करने वाले जीवात्मा की उत्तरोत्तर समय के दौरान अनंतगुना आत्मविशुद्धि होती है। [यहा एक समय मे जघन्य-उत्कृष्ट का भेद नही होता]

अनिवृत्तिकरण के समय मे भी स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि व अपूर्व स्थितिबध की क्रियाए तो होती हैं परन्तु विशिष्ठ और महत्वपूर्ण सूक्ष्म क्रिया होती है...'अंतरकरण' की।

इस 'अतरकरण' के समय मे मिथ्यात्व का उदय नही होता है। यानी जीव 'उपशम सम्यक्त्व' प्राप्त करता है। विशेषावश्यक-भाष्य की टीका मे कहा है कि 'वजरभूमि' [घास रहित] पर जगल की आग ज्यो स्वयमेव ही बुझ जाती है...उसी तरह **'अंतरकरण'** मे मिथ्यात्व की अग्नि शान्त हो जाती है। इसलिए जीवात्मा उपशम-समकित प्राप्त करती है।

जब आत्मा मे सम्यग्दर्शन—गुण प्रकट होता है तब जीवादि नौ तत्त्व मे 'ये ही तत्त्व सच्चे हैं', वैसा अध्यवसाय उत्पन्न होता है।

सम्यग्दर्शन-गुण प्रकट होता है, निसर्ग से एव अधिगम से।

किसी आत्मा को सम्यग्दर्शन के आविर्भाव के लिये वाह्य निमित्त की अपेक्षा रहती है, किसी आत्मा को वाह्य निमित्त की अपेक्षा नही रहती। वाह्य निमित्त की अपेक्षया जो सम्यग्दर्शन प्रकट होता है उसे 'अधिगम सम्यग्दर्शन' कहा जाता है और वाह्य निमित्त की अपेक्षा के बगैर जो सम्यग्दर्शन प्रकट होता है उसे 'निसर्ग सम्यग्दर्शन' कहा जाता है।

वाह्य निमित्त अनेक प्रकार के होते हैं। वीतराग परमात्मा की प्रतिमा देखकर किसी का आध्यात्मिक जागरण हो जाय तो किसी की आध्यात्मिक चेतना सद्गुरु के दर्शन से जाग उठे। किसी को शास्त्रो के अध्ययन करते हुए, किसी को सद्गुरु का उपदेश सुनते सुनते सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है।

1 अपूव्व करणसमग कुणई अपुव्वे इमे उ चत्तारि।
ठितिघाय रसघाय गुणसेढी वधगद्धा य ॥११॥ पचसग्रहे / उपशमनाकरणे

बाह्यनिमित्त के बगर, कभी आत्मपरिणाम शुद्ध होते चले राग-द्वेष की तीव्रता मंद मंदतर हो चले और सत्य की पहली किरण मिल जाय। तत्त्व निश्चय हो जाय। परन्तु यह तत्वरुचि और तत्त्वनिर्णय केवल आप्ततृप्ति के लिये, आध्यात्मिक विकास के लिये ही होते हैं। किसी को धन प्रतिष्ठा वगरह भौतिक वासनाओ के लिये यदि तत्त्वजिज्ञासा जगे तो वह सम्यग्दर्शन नही हो सकता।

आत्मा मे सम्यग्दर्शन-गुण प्रकट होता है तो पाँच विशेष गुण थोड़े बहुत प्रमाण मे भी प्रकट होते ही हैं। वे गुण हैं प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा एव आस्तिक्य।

१ प्रशम अतत्त्व के पक्षपात से उत्पन्न होने वाले कदाग्रह आदि दोषो का उपशम।

२ संवेग सासारिक बंधनो का भय।

३ निर्वेद पाच इंद्रियो के विषयो मे आसक्ति कम होना।

४ अनुकम्पा दुःखी जीवो के दुःख दूर करने की इच्छा।

५ आस्तिक्य जीव वगरह नौ तत्त्वो का हार्दिक स्वीकार।

[1]अधिगम के पर्यायवाची शब्द हैं अभिगम, आगम, निमित्त, श्रवण, शिक्षा, उपदेश।

निसर्ग के पर्यायवाची शब्द हैं निसर्ग, परिणाम, स्वभाव, अपरोपदेश।

[3]सम्यग्दर्शन के अलग अलग अपेक्षया अनेक प्रकार बतलाये गये हैं। मुख्य एक प्रकार इस तरह हैं

- औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, सास्वादन, वेदक।
- कारक, रोचक, दीपक।
- निश्चय, व्यवहार।
- द्रव्य, भाव।

मिथ्यात्व

श्लोक एतत्सम्यग्दर्शनमनधिगमविपर्ययौ तु मिथ्यात्वम्।
ज्ञानमथ पञ्चभेदं तत् प्रत्यक्षं परोक्षं च ॥२२४॥

1 अधिगम अभिगम आगमो निमित्त श्रवणं शिक्षा उपदेश इत्यनर्थान्तरम्।

2 निसर्ग परिणाम स्वभाव अपरोपदेश इत्यनर्थान्तरम्।

तत्त्वार्थभाष्ये / अ० १/सू ३

3 सम्यक्त्वस्तव • प्रकरणे

अर्थ : यह सम्यग्दर्शन है। अनधिगम [तत्त्वार्थ की अश्रद्धा] और विपर्यय [विपरीत श्रद्धा] मिथ्यात्व है। ज्ञान के पाँच भेद हैं। उसके प्रकार हैं प्रत्यक्ष एव परोक्ष।

विवेचन : जिनोक्त तत्वो की श्रद्धा, वही सम्यग्दर्शन है। या भावपूर्वक पारमार्थिक दृष्टिकोण से अर्थविषयक श्रद्धा-उसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

जिनोक्त तत्वो पर की अश्रद्धा मिथ्यात्व है। जो तत्त्व सर्वज्ञ–सर्वदर्शी परमात्मा ने वतलाये है, उसका अस्वीकार वही मिथ्यात्व है।

प्रश्न क्या सर्वज्ञ के अलावा दूसरो ने भी तत्त्व वतलाये है?

उत्तर हा, एकान्तवादी असर्वज्ञो ने भी तत्व तो वतलाये ही हैं। कणाद, कपिल, वुद्ध वगैरह ने भी तत्त्व वतलाये है। सत्ता, सामान्य-विशेष, द्रव्यत्व वगैरह तत्त्व वतलाये है, परन्तु वे तत्व यथार्थ नही हैं।

सर्वज्ञ प्रतिपादित तत्त्वो पर अश्रद्धा-अविश्वास वह 'अनधिगम मिथ्यात्व' है एव अन्य एकान्तवादियो के द्वारा कथित तत्त्वो पर श्रद्धा वह 'विपर्यय-मिथ्यात्व' है।

इस तरह सम्यक्त्व एव मिथ्यात्व का स्वरूप समझा कर ग्रन्थकार यह कहना चाहते हैं कि सम्यक्त्वयुक्त जीव का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। मिथ्यात्वी का ज्ञान अज्ञान ही है! यहा एक जिज्ञासा पैदा होती है कि 'ज्ञान कितने और कौन-कौन से? उस ज्ञान का स्वरूप क्या है?' उस जिज्ञासा को तृप्त करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं :

ज्ञान के पांच प्रकार है मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः-पर्यवज्ञान एवं केवलज्ञान। ये पाँचो ज्ञान दो विभागो में विभाजित है : प्रत्यक्षज्ञान व परोक्षज्ञान।

पाँच इंद्रियाँ व मन की सहायता के वगैर मात्र आत्मा का जो ज्ञान वह 'प्रत्यक्षज्ञान' कहलाता है। पाँच इंद्रियाँ एव मन की सहाय से जो ज्ञान हो वह 'परोक्षज्ञान' कहलाता है।

प्रश्न . इंद्रियनिमित्तक ज्ञानको प्रत्यक्ष क्यो नही कहा जा सकता?

उत्तर 'निश्चय' से नही कहा जा सकता। 'व्यवहार' से कहा जा सकता है। नन्दीसूत्र मे कहा है

त समासओ दुविह पण्णत्त, त जहा-पच्चक्ख च परोक्ख च। से कि त पच्चक्ख? पच्चक्ख दुविह पण्णत्त, त जहा इदियपच्चक्ख नोइदियपच्चक्ख च।

[वह ज्ञान दो प्रकार का है प्रत्यक्ष व परोक्ष। प्रत्यक्षज्ञान दो प्रकार का है इद्रियप्रत्यक्ष व नोइद्रियप्रत्यक्ष] इस तरह इद्रियजन्य ज्ञान भी व्यवहार से प्रत्यक्ष कहा जाता है। प्रस्तुत मे ग्रथकार जो दो भेद बतला रहे हैं वह 'निश्चय' की दृष्टि से समझने के हैं।

श्लोक तत्र परोक्ष द्विविध श्रुतमाभिनिबोधिक च विज्ञेयम।
प्रत्यक्ष चावधि-मन पर्यायौ केवल चेति ॥२२५॥

अथ उसमे (पाँच ज्ञान मे) परोक्षज्ञान जिसे दो तरह का जानना चाहिए। श्रुतज्ञान एव आभिनिबोधिक ज्ञान। और अवधिज्ञान मन-पर्यायज्ञान एव केवलज्ञान–इन्हे प्रत्यक्ष ज्ञान जानना चाहिए।

विवेचन 'तत्वार्थसूत्र' मे जिस तरह ग्रथकार ने सम्यग्ज्ञान का लक्षण नही बतलाया है वैसे ही यहा पर भी सम्यग्ज्ञान का लक्षण नहीं बतलाया है।[1] तत्वार्थ सूत्र मे जसे पाच ज्ञान के 'प्रत्यक्ष' एव 'परोक्ष' ऐसे दो भेद किये हैं, उसी तरह यहा भी प्रत्यक्ष एव परोक्ष ऐसे दो भेद किये हैं। उन दो भेदो का वणन करने से पहले पाच ज्ञान का स्वरूप समझ लें।

क्रम —पाँच ज्ञान का क्रम इस तरह है मतिज्ञान (आभिनिबोधिक ज्ञान) श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यवज्ञान एव केवलज्ञान। प्रस्तुत मे ग्रथकार ने पहले श्रुतज्ञान का जो उपन्यास किया है उसे कारिका [श्लोक] की दृष्टि से किया गया है।

मतिज्ञान — [आभिनिबोधिकज्ञान][2] अर्थाभिमुख नियत बोध, उसे आभिनिबोधिक ज्ञान कहा जाता है। बोध अर्थ की ओर अभिमुख होना चाहिए व निश्चित होना चाहिए।

श्रुतज्ञान —आत्मा के द्वारा जो सुना जाय वह है श्रुत [इस व्युत्पत्ति-अर्थ के मुताबिक 'शब्द' वह श्रुत]

1 आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्। —तत्वार्थ / अ १ / सूत्र ११–१२
2 अत्थाभिमुहो नियओ बोहो जो सो मओ अभिनिबोहो —विशेषावश्यक भाष्ये

० जिसके द्वारा सुना जाय वह श्रुत [इस व्युत्पत्ति अर्थ के अनुसार 'क्षयोपशम' वह श्रुत]

० क्षयोपशम से जो सुना जाय वह श्रुत [इस व्युत्पत्ति अर्थ के अनुसार 'आत्मा' ही श्रुत]

इन व्युत्पत्ति अर्थों के माध्यम से तीन को 'श्रुतज्ञान' कहा गया है: शब्द को क्षयोपशम को, एवं आत्मा को। शब्द श्रुतज्ञान का कारण है, क्षयोपशम श्रुतज्ञान का कारण है और आत्मा श्रुतज्ञान से कथंचित् अभिन्न है।

[1]यह श्रुतज्ञान इन्द्रियों एवं मन के माध्यम से हो जाता है। शब्दार्थ के पर्यालोचन के मुताबिक होने वाला श्रुतज्ञान कहा जाता है।

अवधिज्ञान:—अवधि यानी मर्यादा। द्रव्य की, क्षेत्र की, व काल की मर्यादा वाला यह ज्ञान होता है। इन्द्रियां एवं मन के माध्यम के बगैर आत्मा साक्षात् अर्थ को जानती है। इस ज्ञान के विषय रूपी द्रव्य ही होते हैं। 'नन्दीसूत्र' में अवधिज्ञान की परिभाषा करते हुए टीकाकार ने कहा है **'आत्मनोऽर्थ साक्षात्करण व्यापारोऽवधिः।'** अर्थात्, आत्मा की रूपी पदार्थों के प्रत्यक्षज्ञान की प्रवृत्ति वह अवधिज्ञान है।

मनःपर्यवज्ञान:—[2]मन के पर्याय यानी धर्म, उन धर्मों का ज्ञान, उसे मनःपर्यवज्ञान कहा गया है। इसके और भी दो नाम हैं: मनःपर्ययज्ञान, मनःपर्यायज्ञान।

इन तीनों नामों का अर्थ व्युत्पत्ति की दृष्टि से इस तरह किया गया है:

१. **मनपर्यवज्ञान**:—**'परि'** यानी सब तरह से, **'अवन'** यानी जानना। मन के धर्मों को सब प्रकार से जानना। मन से संबंधित सब तरह से जानना।

1 शब्दार्थपर्यायलोचनानुसारी इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेषः।
—नंदीसूत्रटीकायाम्

2 पज्जवणं पज्जयणं पज्जाओ वा मणम्मि मणसो वा।
तस्स व पज्जायादिन्नाणं मणपज्जवं नाणं॥ —विशेषावश्यक भाष्ये

२ मन पयवज्ञान — 'परि' यानी सब तरह से, 'अय' यानी गमन-वेदन, मन के धर्मों को सब तरह से जानना।

३ मन पर्यायज्ञान —'परि' यानी सब तरह से, 'ई' यानी गमन-वेदन, मनोद्रव्यो को सब तरह से जानना। पर्याय यानी भेद धर्म उन सब का ज्ञान।

केवलज्ञान — [1]एक शुद्ध, परिपूर्ण, असाधारण व अनत, ऐसा जो ज्ञान, उसे 'केवलज्ञान' कहा जाता है।

[2]इन पाचो ज्ञान मे आभिनिबोधिक ज्ञान एव श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान है। ये दोनों ज्ञान आत्मा को इद्रियो एव मन के माध्यम से होते हैं। इसलिये इन्हे परोक्षज्ञान कहा गया है। ये दोनो ज्ञान इस तरह से निमित्तापेक्ष है। जबकि अवधि, मन पयव एव केवल—ये तीनो ज्ञान में इद्रिया या मन माध्यम नही बनत, इसलिये प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाते हैं।

मतिज्ञान श्रुतज्ञान

श्लोक एषामुत्तर भेदविषयादिभिर्भवति विस्तराधिगमः।
एकादीयेकस्मिन भाज्यानि त्वाचतुर्भ्य इति ॥२२६॥

अर्थ इन ज्ञानो क उत्तर भेद एव विषय वगैरह स विस्तृत ज्ञान होता है। एक जाव म एक स लेकर चार ज्ञान तक के विभाग करने चाहिए।

विवेचन इन पाच ज्ञानो का गहरा एव व्यापक बोध प्राप्त करने के लिये इन पांच ज्ञानो में अवान्तर प्रकार उन ज्ञान के विषय, उनके स्वामी, काल वगैरह जानना चाहिए। सबसे पहले 'मतिज्ञान' के प्रकार व उसकी व्याख्या की जायेगी।

श्री 'तत्वार्थसूत्र' में मतिज्ञान के समानार्थक शब्द दिये गये है मति, स्मृति, सज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध। अलबत्ता, ये शब्द समानार्थक हैं, फिर भी सामान्य अर्थभेद तो है ही।

० वर्तमानकालविषयक ज्ञान को 'मतिज्ञान' कहा जाता है।

1 केवलमेग सुद्ध सगलमसाहारण अणन्त च। —विशेषावश्यक भाष्ये

2 होन्ति परोक्खाइ मइ सुयाइ जीवस्स परनिमित्ताओ।

—विशेषावश्यक भाष्य

- पूर्वकाल मे अनुभूत बात या वस्तु के स्मरण को 'स्मृति' कहा जाता है ।
- पूर्व काल में अनुभूत और वर्तमान मे अनुभव हो रही वस्तु की एकता के अनुसंधान को कहते है सज्ञा ।
- भविष्य के विषय की विचारणा को चिन्ता कहा गया है ।

हालांकि अर्थभेद होने से मति-स्मृति-सज्ञा व चिन्ता पर्याय-शब्द नही कहे जा सकते। फिर भी इन चारो ज्ञान का अतरंग कारण 'मति-ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम' एक ही होने से पर्याय शब्द कहा गया है।

मतिज्ञान के चार भेद :

१ अवग्रह, २ ईहा, ३ अपाय व ४ धारणा—मतिज्ञान के ये प्रमुख भेद हैं ।

अवग्रह—नाम, जाति वगैरह की विशेष कल्पना के बिना केवल सामान्य का जो ज्ञान, वह 'अवग्रह' होता है। जैसे कि, प्रगाढ अधकार में कुछ स्पर्श होने पर 'यह कुछ है' ऐसा ज्ञान होता है । इस ज्ञान मे यह मालूम नही होता कि किस चीज का स्पर्श हुआ ? वह अस्पष्ट-अव्यक्त ज्ञान यानी अवग्रह ।

ईहा—अवग्रह से ग्रहण किये हुए सामान्य विषय का विशेष रूप से निर्णय करने के लिये जो विचार आता है उसे ईहा कहा जाता है। जैसे कि, 'यह स्पर्श किसका होगा ? साप का या रस्सी का ? यह स्पर्श रस्सी का ही होना चाहिए—चूंकि सांप का स्पर्श तो नरम-मुलायम होता है...जबकि यह स्पर्श तो कठोर था...खुरदरा था वगैरह ।'

अपाय—ईहा के द्वारा ग्रहित विशेष अर्थ को कुछ और अधिक एकाग्रता से निश्चित किया जाय उसे 'अपाय' कहा जाता है। जैसे कि, आवश्यक जांच व विचार के बाद निर्णय कर ले कि 'यह रस्सी ही है ।'

धारणा—अपाय से निश्चित हुए अर्थ को स्मृति, धारा, संस्कार व स्मरण...इन्हे 'धारणा' कहा जाता है ।

ये चार भेद हर एक इन्द्रिय के और मन के होते हैं । यानी इन्द्रिय-जन्य मतिज्ञान के एव मनोजन्य मतिज्ञान के ये चार चार भेद होंगे, कुल २४ भेद होंगे ।

मतिज्ञान के २४ भेद

स्पर्शन	अवग्रह	ईहा	अपाय	धारणा	४
रसन	„	„	„	„	४
घ्राण	„	„	„	„	४
नेत्र	„	„	„	„	४
श्रोत्र	„	„	„		४
मन	„	„	„	„	४
					२४

अवग्रह, ईहा, अपाय व धारणा—हर एक के १२-१२ भेद बतलाये हैं।

१ बहुग्राही, २ अबहुग्राही, ३ बहुविधग्राही, ४ एकविधग्राही, ५ क्षिप्रग्राही, ६ अक्षिप्रग्राही, ७ निश्रितग्राही, ८ अनिश्रितग्राही, ९ संदिग्धग्राही १० असंदिग्धग्राही, ११ ध्रुवग्राही, १२ अध्रुवग्राही।

१/२—बहु यानी अनेक व अबहु यानी एक। दो या दो से ज्यादा वस्तु जानने वाले अवग्रह आदि—बहुग्राही अवग्रह, बहुग्राहिणी ईहा, बहुग्राही अपाय एवं बहुग्राहिणी धारणा कहे जाते हैं। एक ही वस्तु को जानने वाले अवग्रह वगैरह—अबहुग्राही अवग्रह, अबहुग्राहिणी ईहा, अबहुग्राही अपाय व अबहुग्राहिणी धारणा कहे जायेंगे।

३/४—बहुविध यानी अनेक प्रकार एवं एकविध यानी एक प्रकार। रूप रंग मोटापन इत्यादि में वैविध्ययुक्त वस्तु को जानने वाले अवग्रह आदि—बहुविधग्राही अवग्रह, बहुविधग्राहिणी ईहा, बहुविधग्राही अपाय एवं बहुविधग्राहिणी धारणा कहे जायेंगे। इसी तरह आकार प्रकार, रूप-रंग इत्यादि में एक ही तरह की वस्तु को जानने वाला मतिज्ञान—एकविधग्राही अवग्रह वगैरह कहलायेगा।

— बहु एवं अबहु का अर्थ व्यक्ति की संख्या समझें।

— बहुविध व एकविध का अर्थ प्रकार, विभाग समझें।

५/६—क्षिप्र यानी शीघ्र एवं अक्षिप्र यानी विलंब। वस्तु को जल्दी से जान ले वह क्षिप्रग्राही अवग्रह वगैरह कहलाता है। वस्तु को देरी से जाने वह ज्ञान अक्षिप्रग्राही अवग्रह वगैरह कहलाता है।

इन्द्रिय, विषय वगैरह बाह्य सामग्री बराबर हो परन्तु क्षयोपशम

के तारतम्य के कारण कोई व्यक्ति विषय का ज्ञान जल्दी पा लेता है... किसी को देर लगती है ।

७/८—निश्रित यानी हेतु के द्वारा निर्णीत एव अनिश्रित यानी हेतु के द्वारा अनिर्णीत वस्तु । जैसे कि पूर्वकाल मे अनुभूत शीत, कोमल, सुकुमार स्पर्श रूप हेतु से वर्तमान मे जूही के फूलो को जानने वाले चारो ज्ञान [अवग्रह वगैरह] क्रमश निश्रितग्राही अवग्रह, निश्रितग्राहिणी इहा, निश्रितग्राही अपाय, निश्रितग्राहिणी धारणा कहे जायेंगे । हेतु के वगैर ही उन फूलो को जानने वाले ज्ञान अनिश्रितग्राही अवग्रह वगैरह कहलायेंगे ।

९/१०—संदिग्ध यानी अनिश्चित एव असदिग्ध यानी निश्चित । जैसे कि—'यह चदन का स्पर्श है या फूल का ?' ऐसा सदेहयुक्त ज्ञान वह सदिग्धग्राही अवग्रह वगैरह कहलायेगा । जबकि, 'यह चन्दन का ही स्पर्श है, फूल का नही ।' ऐसा निश्चित ज्ञान वह असदिग्धग्राही अवग्रह वगैरह कहलायेगा ।

११/१२—ध्रुव यानी अवश्यभावी एव अध्रुव यानी कदाचित् भावी । इन्द्रिय एव विषय का सबध और मनोयोग रूप सामग्री समान होने पर भी एक मनुष्य वस्तु को—विषय को अवश्य जान लेता है । जबकि, दूसरा मनुष्य कभी जानता है...कभी नही भी जानता है । विषय को अवश्य जानने वाले ज्ञान ध्रुवग्राही अवग्रह वगैरह कहे जायेंगे । विषय कभी जाने...कभी न जाने वह ज्ञान—अध्रुवग्राही अवग्रह वगैरह कहलायेंगे । यह भेद मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की विचित्रता के कारण है ।

अवग्रह के दो प्रकार

'अवग्रह' यानी ग्रहण करना । उस 'अवग्रह' के दो प्रकार है—१ व्यजनावग्रह, २ अर्थावग्रह ।

व्यंजनावग्रह—व्यजन का व्युत्पत्ति अर्थ है · **'व्यज्यतेऽनेनार्थः इति व्यञ्जनम्'** अंधेरे मे घडा पडा हो, दिखायी नही पड़ता हो, परन्तु दिया उस घड़े को दिखलाता है...घड़ा दिखता है यह घडे का व्यंजन हुआ कहलायेगा । इसी तरह, ग्राह्य विषय के साथ उस उस विषय की

ग्राहक 'उपकरण-इन्द्रियों का संयोग होते ही [संयोग-व्यंजन] ज्ञान का आविर्भाव होता है। यह विषय एवं इन्द्रियों का संयोग, वही व्यंजनावग्रह। व्यंजनावग्रह में होने वाला ज्ञान इतना तो अल्प होता है कि उसमें 'यह कुछ है।' ऐसा सामान्य बोध भी नहीं होता।

यह व्यंजनावग्रह चार इन्द्रियों के माध्यम से होता है स्पर्शन, रसन, घ्राण व श्रोत्र। यानी व्यंजनावग्रह के चार प्रकार दर्शाये गये हैं

१ स्पर्शनेन्द्रिय व्यंजनावग्रह
२ रसनेन्द्रिय व्यंजनावग्रह
३ घ्राणेन्द्रिय व्यंजनावग्रह
४ श्रोत्रेन्द्रिय व्यंजनावग्रह

अर्थावग्रह—ज्यों ज्यों इन्द्रिय एवं विषय का संयोग पुष्ट होता जाता है त्यों त्यों ज्ञान की मात्रा भी बढ़ती जाती है और 'यह कुछ है।' ऐसा सामान्य बोध होता है। इस सामान्य बोध को 'अर्थावग्रह' कहा जाता है।

'व्यंजनावग्रह का दीर्घ ज्ञानव्यापार क्रमिक ढंग से पुष्ट होने पर भी इतना तो कम होता है कि इससे विषय का सामान्य बोध भी नहीं होता है। इसलिये इसे अव्यक्ततम, अव्यक्ततर एवं अव्यक्त ज्ञान कहा गया है, यानी व्यंजनावग्रह अव्यक्त होता है।

इस तरह मतिज्ञान के ३३६ भेद होते हैं। पांच इन्द्रियाँ एवं मन-

---

1 इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं १ द्रव्येन्द्रिय २ भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय के दो प्रकार हैं १ निर्वृत्ति व २ उपकरण।
भावेन्द्रिय के भी दो प्रकार हैं। १ लब्धि व २ उपयोग।
○ शरीर के ऊपर दिखती इन्द्रियों की आकृतियाँ जो कि, पुद्गल-स्कंधों की विशिष्ट रचनाएं हैं वे निर्वृत्ति इन्द्रियाँ कहलाती हैं।
○ निर्वृत्ति इन्द्रिय की बाहरी एवं भीतरी पौद्गलिक शक्तियाँ कि जिसके बिना इन्द्रियाँ ज्ञान पैदा नहीं कर सकती, यह उपकरण इन्द्रिय कही जाती हैं।
○ मतिज्ञानावरण कर्म वगैरह का क्षयोपशम जो कि एक प्रकार का आत्मिक परिणाम है वह 'लब्धि इन्द्रिय' हैं।
○ लब्धि, निर्वृत्ति एवं उपकरण ये तीनों इन्द्रियों के मिलने से जो रूप आदि विषयों का सामान्य एवं विशेष बोध होता है वह 'उपयोग इन्द्रिय' है।

इन छहो को अर्थावग्रह आदि ४/४ भेदो से गुणित करने पर २४ होगे। उसमे ४ व्यजनावग्रह जोडने से २८ होगे। इन २८ को बहु—अबहु वगैरह १२ भेदो से गुणित करने पर ३३६ होगे।

श्रुतज्ञान—

[1]आप्तवचन, आगम, उपदेश, ऐतिह्य, आम्नाय, प्रवचन, जिन-वचन...ये सब श्रुतज्ञान के पर्यायवाची शब्द है।

[2]समग्र राजलोक मे जितने भी अक्षर है व अक्षरो के जितने भी सयोग है, उतने ही श्रुतज्ञान के भेद है। अक्षरो के सयुक्त व असयुक्त सयोग अनत है। एक एक सयोग अनत पर्यायवाचक है। यानी श्रुत-ज्ञान के भेद भी अनत है। इन सब भेदो को बताने के लिये तो सर्वज्ञ भी सक्षम नही हो सकते। आयुष्य पूरा हो जाय...पर भेद कभी पूरे नही होते।

भिन्न भिन्न अपेक्षाओ से श्रुतज्ञान के भेद, अलग अलग ग्रन्थो मे ग्रन्थकार आचार्य भगवतो ने बतलाये है।

- श्री 'तत्त्वार्थसूत्र' मे दो और बारह भेद बतलाये गये है।
- 'श्री विशेषावश्यक भाष्य' मे चौदह भेद बतलाये गये है।
- 'प्रथम कर्मग्रथ' मे बीस भेद बतलाये गये है।
- 'श्री नन्दीसूत्र' मे चार भेद बतलाये गये है।

दो भेद—

१ अगबाह्य। २ अगप्रविष्ट।

[3]श्रुतज्ञान के ये दो भेद वक्ता के भेद की अपेक्षया होते है। तीर्थंकर भगवतो ने जिस ज्ञान का अर्थ से प्रकाशन किया, उस ज्ञान को उनके प्रज्ञावत शिष्य-गणधर भगवतो ने ग्रहण किया और द्वादशागी के रूप मे सूत्रबद्ध किया। इस द्वादशागी को 'अंगप्रविष्ट' श्रुतज्ञान कहा जाता है।

---

1 श्रुतमाप्तवचन आगमः उपदेश ऐतिह्यमाम्नाय. प्रवचन जिनवचमित्यनर्थान्तरम्।
—तत्त्वार्थभाष्ये

2 पत्तेयमक्खराइ अक्खरसजोगा जत्तिया लोए।
एवइया सुयनाणे पयडीओ होति नायव्वा ॥४४४॥
—विशेषावश्यक भाष्ये

3 वक्तृ विशेषाद् द्वैविध्यम्
—तत्त्वार्थभाष्ये

समय के दोष से बल बुद्धि व आयुष्य को घटते हुए देखकर, सर्व-साधारण जीवों के हित के लिये उस द्वादशांगी पर आधारित, गणधरों के बाद हुए पापभीरु व शुद्ध बुद्धिमान आचार्यों ने जो शास्त्र रचे उन्हें 'अंगबाह्य' श्रुतज्ञान कहा गया है।

बारह भेद—

'अंगप्रविष्ट' श्रुतज्ञान के बारह भेद हैं

१ आचार	७ उपासकदशा
२ सूत्रकृत्	८ अंतकृद्दशा
३ स्थान	९ अनुत्तरौपपातिकदशा
४ समवाय	१० प्रश्न व्याकरण
५ व्याख्याप्रज्ञप्ति	११ विपाकसूत्र
६ ज्ञाताधर्मकथा	१२ दृष्टिवाद

चौदह भेद—

१ अक्षरश्रुत	६ मिथ्याश्रुत	११ गमिकश्रुत
२ अनक्षरश्रुत	७ सादिश्रुत	१२ अगमिकश्रुत
३ संज्ञीश्रुत	८ अनादिश्रुत	१३ अंगप्रविष्टश्रुत
४ असंज्ञीश्रुत	९ सपर्यवसितश्रुत	१४ अंगबाह्यश्रुत
५ सम्यक्श्रुत	१० अपर्यवसितश्रुत	

अक्षरश्रुत— — अक्षरों के तीन प्रकार हैं

१ संज्ञाक्षर — १८ प्रकार की लिपि।

२ व्यंजनाक्षर — अ से ह तक के बावन अक्षर।

३ लब्ध्यक्षर — शब्दश्रवण या रूपदर्शन वगैरह से अर्थ की प्रतीति करवाने वाला अक्षरात्मक ज्ञान।

अनक्षर श्रुत— — अक्षर बगैर हाथ-पैर की चेष्टा या छींक डकार वगैरह से होने वाला बोध।

संज्ञीश्रुत*–	सज्ञी जीवो का श्रुतज्ञान ।
असंज्ञीश्रुत–	असज्ञी जीवों का श्रुतज्ञान
सम्यक्श्रुत–	सम्यग्दृष्टि जीवो का श्रुतज्ञान
मिथ्याश्रुत–	मिथ्यादृष्टि जीवो का श्रुतज्ञान ।
सादिश्रुत–	जिस ज्ञान का प्रारम्भ हो ।
अनादिश्रुत–	प्रारम्भरहित, जिसका आदि न हो वैसा ज्ञान ।
सपर्यवसित–	जिसका अत हो वैसा ज्ञान ।
अपर्यवसित–	जिसका अत न हो वैसा ज्ञान ।
गमिकश्रुत–	जिन शास्त्रो मे पाठ [आलापक] समान हो ।
अगमिकश्रुत–	जिन शास्त्रो मे पाठ [आलापक] समान न हो ।
अगप्रविष्टश्रुत–	द्वादशागी का ज्ञान
अंगबाह्यश्रुत–	बारह अगो के अतिरिक्त शास्त्रो का ज्ञान ।

[एक जीवात्मा जब सम्यक्त्व प्राप्त करता है तब श्रुतज्ञान की आदि होती है, उस अपेक्षया 'सादि' श्रुत कहा जाता है। वैसे ही जीव मिथ्यात्व मे चला जाये...या केवलज्ञान प्राप्त कर ले तब श्रुतज्ञान का अत होता है, उस अपेक्षया सात कहा जाता है। ससार मे हमेशा सम्यक्दृष्टि जीव होते ही है, उन जीवो की अपेक्षया श्रुतज्ञान अनादि-अनत कहा गया है]

---

* सज्ञी यानी मनवाले व असज्ञी यानी मनवगैर के।

सज्ञा के तीन प्रकार है :

१ दीर्घकालीन २ हेतुवादोपदेशिकी ३ दृष्टिवादोपदेशिकी

- 'क्या हो गया ? क्या होगा ? क्या करना ?' इस तरह अत्यत लम्बे व्यतीत व भविष्य का जिसके द्वारा चितन हो, उसका नाम दीर्घकालिकी 'सज्ञा।' इसका दूसरा नाम 'कालिकी सज्ञा' भी है।
- अपने शरीर के पालन के लिये विचार करके, इष्टानिष्ट विषय मे प्रायः प्रवर्तित हो [वर्तमान काल मे] एव निवर्तित हो उन जीवो को [बेइन्द्रियादि] 'हेतुवादोपदेशीकी सज्ञा' होती है।
- क्षायोपशमिक ज्ञान मे वर्तमान सम्यक्दृष्टि को 'दृटिवादोपदेशिकी सज्ञा' होती है। सज्ञा यानी व्यतीत के अर्थ का स्मरण व अनागत के अर्थ का चितन।

बीस भेद—

१ पर्यायश्रुत—	ज्ञान के सूक्ष्म अविभाज्य अंश का 'पर्याय' कहा जाता है। वैसे एक पर्याय का ज्ञान।
२ पर्यायसमास—	अनेक पर्यायों का ज्ञान। लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोद के जीव को अक्षर के अनंतवें भाग का ज्ञान होता है। वह ज्ञान अनंत व पर्याय जितना होता है। परन्तु उससे दूसरे जीवों में जो एक अंश का ज्ञान बढ़ेगा—उस बढ़े हुए ज्ञान को 'पर्यायसमास' ज्ञान कहा जाता है।
३ अक्षरश्रुत—	एक अक्षर का ज्ञान हो।
४ अक्षरसमास—	अनेक अक्षरों का ज्ञान हो।
५ पदश्रुत—	एक पद का ज्ञान हो।
६ पदसमास—	अनेक पदों का ज्ञान।
७ संघातश्रुत—	'गति' वगैरह १४ मार्गणा में से किसी मार्गणा की अवान्तर मार्गणा का ज्ञान।
८ संघातसमास—	एक मार्गणा की अवान्तर अनेक मार्गणाओं का ज्ञान।
९ प्रतिपत्तिश्रुत—	१४ मार्गणाओं में से किसी एक मार्गणा का ज्ञान।
१० प्रतिपत्तिसमास—	१४ मार्गणाओं में से अनेक मार्गणाओं का ज्ञान।
११ अनुयोगश्रुत—	सत्पदादि नौ अनुयोगद्वारों में से किसी एक अनुयोग द्वार का ज्ञान।
१२ अनुयोगसमास—	नौ अनुयोगद्वारों में से अनेक अनुयोगों का ज्ञान।
१३ प्राभृत प्राभृतश्रुत—	एक प्राभृत प्राभृत का ज्ञान।
१४ प्राभृत प्राभृत समास—	अनेक प्राभृत प्राभृत का ज्ञान।
१५ प्राभृतश्रुत—	एक प्राभृत का ज्ञान।
१६ प्राभृतसमास—	अनेक प्राभृतों का ज्ञान।
१७ वस्तुश्रुत—	एक वस्तु का ज्ञान।
१८ वस्तुसमास—	अनेक वस्तुओं का ज्ञान।
१९ पूर्वश्रुत—	एक पूर्व का ज्ञान।
२० पूर्वसमास—	अनेक पूर्वों का ज्ञान।

[प्रत्येक 'पूर्व' मे अनेक 'वस्तु' होते हैं। प्रत्येक 'वस्तु' मे अनेक 'प्राभृत' होते हैं—हर एक प्राभृत मे अनेक प्राभृत-प्राभृत होते हैं]

चार भेद—

श्री नन्दीसूत्र मे कहा गया है कि 'श्रुतज्ञान संक्षेप से चार प्रकार का भी है।'

१ द्रव्य से — उपयोगवाला श्रुतज्ञानी सभी द्रव्यो को देखे, पर जाने नही।
२ क्षेत्र से — सर्वक्षेत्र को जाने, पर देखे नही।
३ काल से — सर्वकाल को जाने, पर देखे नही।
४ भाव से — सर्व भावो को जाने, पर देखे नही।

अवधिज्ञान :

परोक्षज्ञान [मतिज्ञान व श्रुतज्ञान] के भेदो का वर्णन करने के पश्चात् अब प्रत्यक्षज्ञान [अवधि–मन:पर्यव–केवल] के भेदो का वर्णन किया जा रहा है।

[1]अवधिज्ञान के सख्यातीत भेद हैं। उन सभी भेदों को कहने की शक्ति तो किसी मे भी नही है। फिर भी तत्त्वजिज्ञासु जीवों पर उपकार वुद्धिवाले ज्ञानी महापुरुष २/६/१४ भेदो के माध्यम से वतला रहे हैं।

[2]श्री तत्त्वार्थसूत्र में अवधिज्ञान के दो प्रकार वतलाये गये हैं : १ भवप्रत्ययिक व २ क्षयोपशम–निमित्तक [दूसरा नाम है गुणप्रत्ययिक]

जन्म होने के साथ ही जो अवधिज्ञान प्रकट होता है वह 'भवप्रत्ययिक' अवधिज्ञान कहलाता है। यानी जिस अवधिज्ञान के प्रकटीकरण के लिये व्रत–नियम वगैरह अनुष्ठानों की अपेक्षा नही रहती है। वैसा जन्मसिद्ध अवधिज्ञान वह भवप्रत्ययिक कहा जाता है।

जो अवधिज्ञान जन्मसिद्ध नही है—अपितु जन्म लेने के वाद व्रत–नियम वगैरह अनुष्ठानो के सहारे प्रकट होता है, वह क्षयोपशमनिमित्तक या गुणप्रत्ययिक' अवधिज्ञान कहा जाता है।

---

1 'मखाईयाओ खलु ओहिनाणस्स सव्वपयडीओ। —विशेषावश्यक भाष्ये
2 द्विविधोऽवधि /१६–२६
भवप्रत्यय क्षयोपशमनिमित्तश्च /२१ —तत्त्वार्थसूत्रे

ये दोनो तरह के अवधिज्ञान अवधिज्ञानावरण कर्म' के क्षयोपशम वगैर तो प्रकट हो ही नही सकते। इसलिये अवधिज्ञान का सवसाधारण कारण तो अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम है ही। फिर भी जो दो भेद बताये गये है—वे क्षयोपशम के निमित्तो के वैविध्य की अपेक्षया बताये गये हैं।

ससार की चार गतियो मे—देव व नरक गति ऐसी गतिया है कि जहा जन्म-भव लेते ही योग्य क्षयोपशम हो जाता है। एव अवधिज्ञान की उत्पत्ति होती है। यानी कि उन गति वाले जीवो को अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम करने के लिये व्रत नियम या तपश्चर्या के अनुष्ठान नही करने पडते।

जबकि, मनुष्यगति व तिर्यंचगति मे जीवो को अवधिज्ञान के लिये उपयुक्त तप-नियम वगरह अनुष्ठान करने पडते हैं। अर्थात् इन दो गतियो मे सभी जीवो को अवधिज्ञान नही होता।

[1]तिर्यचगति एव मनुष्यगति मे होने वाले अवधिज्ञान के छह भेद बतलाये गये हैं

१ आनुगामिक	२ अनानुगामिक	३ वधमान
४ हीयमान	५ अवस्थित	६ अनवस्थित

अनुगामिक अवधिज्ञान —

जिस तरह कुम्हार के आंवा मे पक कर लाल हुए मटके को यदि तालाब मे भी डूबोया जाये फिर भी उसकी रक्तिमा नही जाती, उसी तरह किसी एक उपाश्रय वगरह स्थान मे उत्पन्न हुआ अवधिज्ञान अन्य स्थान मे जाने पर भी नष्ट नही होता। यानी अवधिज्ञानी जहा जहा जाता है, वहा वहा अवधिज्ञान उसके साथ जाता है।

अनानुगामिक अवधिज्ञान —

जिस तरह कोई नमित्तिक [ज्योतिषी] अमुक विशेष स्थान पर ही प्रश्नो के सही जवाब दे सकता है अन्य स्थान पर नही, उसी तरह जिस उपाश्रय वगैरह क्षेत्र मे कायोत्सर्ग आदि क्रिया म रहे हुए महात्मा

1 तदतदवधिज्ञान क्षयोपशमनिमित्त षडविध भवति। शेषाणामिति नारकदेवेभ्य शेषाणां तिर्यग्योनिजानां मनुष्याणां च। —तत्त्वार्थभाष्ये १/२३

[1]मन:पर्यायज्ञान का क्षेत्र केवल मनुष्य क्षेत्र [अढाई द्वीप] ही है। और यह ज्ञान मात्र संयत वैसे मनुष्यो को ही होता है।

केवलज्ञान :—

सभी द्रव्यो के परिणाम की सत्ता को जानने का कारण, अनन्त, शाश्वत् व अप्रतिपाती केवलज्ञान, एक ही है। उसके न तो भेद है, न ही प्रकार है।

सर्वकाल के, सभी द्रव्यो के, सभी पर्यायो को जाननेवाला केवलज्ञान प्रकाशित है। वह पर्याय से अनन्त है, निरतर उपयोग वाला होने से शाश्वत् है, नष्ट नही होने वाले स्वभाव के कारण अप्रतिपाति है एवं सर्वविशुद्धिवाला होने से एक ही प्रकार का है।

पाँच ज्ञान के विषय :—

मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान के विषय :— [2]मतिज्ञान व श्रुतज्ञान के द्वारा रूपी व अरुपी सभी द्रव्य जाने जा सकते है, परन्तु उन द्रव्यो के सभी पर्यायें को नही जाने जा सकते। मति-श्रुत के ग्राह्य विषयों की समानता इस दृष्टि से है। फिर भी, पर्यायो की अपेक्षया भेद है। मतिज्ञान वर्तमानग्राही होने से द्रव्यो के कुछ-एक वर्तमान पर्यायो को ही ग्रहण कर सकता है, परन्तु श्रुतज्ञान त्रिकालग्राही होने से तीनो काल के पर्यायो को कम-ज्यादा प्रमाण मे ग्रहण कर सकता है।

अवधिज्ञान का विषय :— [3]अवधिज्ञान मे मात्र रूपी द्रव्यो का साक्षात्कार हो सकता है। वह भी रूपी द्रव्यो के समग्र पर्यायो को नही जान सकता।

मन:पर्यायज्ञान का विषय : [4]मन.पर्यायज्ञान भी मूर्त (रूपी) द्रव्यो का ही साक्षात्कार कर सकता है। परन्तु अवधिज्ञान के जितना नही। मनपर्यायज्ञान का विषय, अवधिज्ञान के विषय का अनतवाँ भाग

1 मणपज्जवनाण पुण जणमणपरिचिंतियत्थपागडण।
माणुसखेत्तनिबद्ध गुणपच्चइय चरित्तवओ ॥८१०॥ —विशेषावश्यक भाष्ये

2 मतिश्रुतयोर्निबन्ध सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु। १/२७

3 रूपिष्ववधे.। १/२८

4 तदनन्तभागे मन.पर्यायस्य। १/२९ —तत्त्वार्थसूत्रे

कहा गया है, चूँ कि अवधिज्ञान से सभी प्रकार के पुद्‌गलद्रव्य ग्रहण हो सकते है, जब कि मन पर्यायज्ञान से तो केवल अढाई द्वीप मे रहे हुए मनुष्यो के मन के पर्याय ही जाने जा सकते हैं।

मन पर्यायज्ञान चाहे जितना विशुद्ध हो, फिर भी ग्राह्य द्रव्यो के सबपर्यायो को जान नही सकता।

केवलज्ञान का विषय — [1]केवलज्ञान सभी द्रव्यो को व सभी पर्यायो को जानता है। ऐसा कोई द्रव्य नही है या ऐसा कोई भाव नही है कि जो केवलज्ञान के द्वारा न जाना जा सके, न देखा जा सके। लोकालोक के अनत पर्यायो को जानने का सामर्थ्य होता है इस ज्ञान मे। इससे बढकर और कोई ज्ञान है ही नही।

एक साथ एक जीव मे कितने ज्ञान होते हैं ?

[2]एक जीव मे एक साथ एक से लेकर चार तक के ज्ञान अनियत रूप हो सकते हैं। जब केवलज्ञान हो तब तक एक ही ज्ञान होता है, दूसरे ज्ञान नही होते। 'प्रशमरति' के टीकाकार आचार्यश्री कहते है 'अकेला मतिज्ञान भी हो सकता है हालाकि, मति व श्रुत एक दूसरे के बगर नही रहते फिर भी, अक्षरात्मक श्रुतज्ञान सबमे नही होता उस अपेक्षया या दृष्टिकोण से अकेला मतिज्ञान हो सकता है। [एक मतिज्ञान जघन्यत श्रुतज्ञानमक्षरात्मक सर्वत्र न सभवतीत्येवमुक्तमेक मतिज्ञानमिति]

- कभी एक जीव मे मतिज्ञान व श्रुतज्ञान–दो ज्ञान होते हैं।
- कभी एक जीव मे मति श्रुत व अवधि–तीन ज्ञान होते हैं।
- कभी एक जीव मे मति-श्रुत व मन पर्याय–तीन ज्ञान होते है।
- कभी एक जीव मे मति श्रुत अवधि व मन पर्याय–ये चार ज्ञान होते हैं।

इस तरह भेद, विषय वगैरह से पाँच ज्ञानो की विस्तार से विचारणा की। अब ग्रन्थकार स्वय सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान का स्वरूप बता रहे हैं

---

1 सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य। १/३०

2 एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्य। —तत्त्वार्थसूत्रे १/३१

श्लोक : सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमिति नियमतः सिद्धम् ।
आद्यत्रयमज्ञानमपि भवति मिथ्यात्वसंयुक्तम् ।।२२७।।

अर्थ । सम्यग्दृष्टि का ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहा जाता है, यह नियम से सिद्ध है। प्रारंभ के तीन ज्ञान, मति, श्रुत व अवधि, मिथ्यात्व से संयुक्त हो तब मिथ्या बनते है। [अज्ञान बनते हैं]

विवेचन . जिस आत्मा को सर्वज्ञकथित तत्त्वार्थ पर श्रद्धा हो, तत्वार्थ का यथावस्थित बोध हो उसे 'सम्यग्दृष्टि' कहा जाता है। शंका-कांक्षा वगैरह दोषो से उसका ज्ञान मुक्त होता है। ऐसी सम्यग्दृष्टि आत्माओ का मतिज्ञान-श्रुतज्ञान व अवधिज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है ।

परन्तु यदि जीवात्मा मे सम्यक्त्व का उदय न हुआ हो, मिथ्यात्व का अंधकार हो तो उसके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान व अवधिज्ञान 'अज्ञान' कहलाते है । 'मिथ्याज्ञान' हो जाता है । ये तीन ज्ञान अज्ञानरूप भी हो सकते है। अज्ञानरूप हुए ये ज्ञान मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान एव अवधि अज्ञान [विभंगज्ञान] कहलाते है ।

हालाकि, लौकिक दृष्टिकोण मे तो ये ज्ञान ही है, परन्तु, यहा जो ज्ञान व अज्ञान का भेद किया गया है वह आगम की दृष्टि से किया गया है । जिनागमो का यह विश्रुत निर्णय है कि मिथ्यादृष्टि के ये तीनो ज्ञान अज्ञान ही है ।

मिथ्यात्व, सत् व असत् का भेद नहीं करने देता। इतना ही नही, सत् को असत् एव असत् को सत् मनवाता है । इसलिये यह अज्ञान-रूप है ।

सम्यक्त्व, सत् को सत् व असत् को असत् समझाता है, इसलिए वह ज्ञान सम्यक् होता है। उस ज्ञान का फल प्राप्त होता है। 'ज्ञानस्य फलं विरति' ज्ञान का फल है 'विरति' की प्राप्ति होना ।

सम्यग्दृष्टि जीवात्मा का ज्ञान अत्यन्त अल्प होने पर भी, वह मोक्षाभिमुख होने के कारण, उसका ज्ञान फलयुक्त बनता है। छोटा सा भी दिया रास्ते को आलोकित कर सकता है ।

मिथ्यादृष्टि का ज्ञान कितना भी हो, पर वह संसाराभिमुख होने के कारण, उसका ज्ञान निष्फल बना रहता-है। अंधकार तो अंधकार ही रहेगा । और अंधकार मे तो भटकने का ही होता है।

चारित्र – ५ प्रकार का

श्लोक सामायिकमित्याद्य छेदोपस्थापन द्वितीय तु ।
परिहारविशुद्धिक सूक्ष्मसम्पराय यथाख्यातम ॥२२८॥
इत्येतत पञ्चविध चारित्र मोक्षसाधन प्रथरम ।
अनेकानुयोगनयप्रमाणमार्गं समनुगम्यम् ॥२२९॥

अर्थ पहला सामायिक, दूसरा है छेदोपस्थापनीय, तीसरा परिहारविशुद्धि, चौथा सूक्ष्मसम्पराय एव पाँचवा है यथाख्यात ।
इस तरह यह पाँच प्रकार का चारित्र मोक्ष का प्रधान (प्रमुख) कारण है। उस [चारित्र का] अनेक तरह के अनुयोग, नय एव प्रमाणो से भलीभाति जानना चाहिए।

विवेचन भगवान श्री उमास्वाति ने ही तत्वार्थाधिगम–सूत्र म कहा ह 'सम्यग्दशन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमाग ।' सम्यग्दशन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक्चारित्र, यह मोक्षमाग है । मोक्षमाग का बोध कराने वाले ग्रथकार आचार्यश्री प्रस्तुत मे सम्यग्दशन एव सम्यग्ज्ञान का स्वरूपदशन करवाने के पश्चात सम्यक्चारित्र का स्वरूप बताने के लिए तत्पर बने ह ।

एक बात सबसे पहले समझ लेनी जरूरी है कि चारित्र की प्राप्ति का सम्बन्ध मोहनीय कम क क्षयोपशम के साथ रहा हुआ है । सवप्रथम दशनमोहनीय (मिथ्यात्व) का क्षयोपशम होना चाहिये । इसके पश्चात् अनतानुबधी, अप्रत्याख्यानावरण एव प्रत्याख्यानावरण कषायो का क्षयोपशम होना चाहिए । यह तीन तरह क क्रोध मान माया एव लोभ का क्षयोपशम होता है । तब जाकर चारित्रधम का लाभ प्राप्त होता ह ।

'श्री विशेषावश्यक भाष्य' म पूवधर महर्षि जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण न कहा ह

बारसविहे कसाए खइए उवसामिए व जोगेहिं ।
लब्भइ चरित्तलभो तस्स विसेसा इमे पच ॥ १२५४॥

प्रशस्त मन वचन-काया के योगो से बारह प्रकार क कषायो का क्षय-उपशम या क्षयोपशम हो तब चारित्र की प्राप्ति होती है । उस चारित्र के पाँच प्रकार हैं —

[1]कषाय बुझे हुए अग्नि जैसे क्षीण होते हैं।

कषाय राख से ढके हुए अग्नि जैसे उपशान्त होते हैं।

कषाय कुछ बुझी हुई एवं कुछ राख से ढकी हुई अग्नि जैसे क्षयोपशमित होते हैं।

पाँच प्रकार का चारित्र — १. सामायिक २ छेदोपस्थापनीय ३ परिहारविशुद्धि ४. सूक्ष्मसंपराय ५. यथाख्यात

सामायिक चारित्र :

राग-द्वेष कम होना उसका नाम है सम। विशुद्धि का लाभ होना उसका नाम है आय। इसका नाम है सामायिक। सर्व पापयोगों से निवृत्तिरूप यह चारित्र है। इस परिभाषा की अपेक्षया शेष चार चारित्र भी सामायिक चारित्र ही हैं। विशुद्धि, तपश्चर्या एव कषायों के विशेष क्षय-क्षयोपशम की अपेक्षया इन्हें अलग अलग नामों से जाना जाता है। सामायिक चारित्र के दो भेद हैं — १. इत्वरकालिक एवं २. यावत्कथिक।

भरतक्षेत्र एव ऐरवत क्षेत्रों में, प्रथम तीर्थंकर व अन्तिम तीर्थंकर के धर्मतीर्थ में इत्वरकालिक (परिमित अवधि का) सामायिक चारित्र होता है।

भरत-ऐरवत क्षेत्रों में मध्य के बाईस तीर्थंकरों के धर्मतीर्थ में यावत्कथिक (जीवनपर्यन्त का) सामायिक चारित्र होता है। महाविदेह क्षेत्र में तो सभी साधु-साध्वी को यावत्कथिक सामायिक चारित्र ही होता है, इत्वरकालिक नहीं होता है।

[2]छेदोपस्थापनीय चारित्र :

१. इत्वरकालिक सामायिक चारित्र वाले साधु-साध्वी को जो पाच महाव्रत दिये जाते हैं (बड़ी दीक्षा दी जाती है) उसे निरतिचार छेदो-

1 खीणा निव्वायहुयासणोव्व छारपिहिउव्व उवसंता।
दरविज्झायविहाडिय जलणोवमा खओवसमा॥

— विशेषावश्यक भाष्य टीकायाम्

2 सेहस्स निरइयारं तित्थंतरसंकमे व तं होज्जा।
मूलगुणघाईणो साइयारमुभयं च ठियकप्पे॥ १२६९॥

— विशेषावश्यकभाष्य-टीकायाम्

पस्थापनीय चारित्र कहा जाता है। इसी तरह, भगवान पार्श्वनाथ के तीर्थ के साधु-साध्वी जब भगवान महावीर के धर्मतीर्थ में शामिल हुए तब उन्हें जो पांच महाव्रत दिये गये थे, वे भी निरतिचार छेदोपस्थापनीय चारित्ररूप थे।

पांच महाव्रतों का स्वीकार करने के पश्चात् उन महाव्रतों का खंडन हुआ हो, वैसे साधु-साध्वी को पुन: पांच महाव्रत दिये जाय उसे सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र कहा जाता है।

परिहारविशुद्धि चारित्र

परिहार यानी तप। जिस तप से चारित्र की विशुद्धि बढ़े, विकसित हो, उस तप को परिहारविशुद्धि कहा गया है। इस दृष्टिकोण से उस विशुद्ध चारित्र को 'परिहारविशुद्धि चारित्र' कहा जाता है। यह चारित्र प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकर के समय में ही होता है। (पांच भरत एवं पांच ऐरवत क्षेत्रों में)

नौ मुनि गुरु आज्ञा लेकर गच्छ से बाहर हो जाय, तपश्चर्या के लिये अनुकूल क्षेत्र में जाते हैं। वहां जाकर वे मुनि तीन विभागों में बँट जाते हैं। एक मुनि वाचनाचार्य बनते हैं, चार मुनि उत्कृष्ट तप करते हैं एवं चार मुनि सेवा भक्ति करते हैं।

- इस चारित्र का स्वीकार करनेवाले मुनि की उम्र कम से कम २९ वर्ष की होनी चाहिए। दीक्षा पर्याय १९ वर्ष का होना जरूरी होता है।

- यह चारित्र तीर्थंकर के समीप या स्वयं तीर्थंकर के हाथों दीक्षित हुए मुनि के पास ही अंगीकार किया जा सकता है।

तपश्चर्या —

तप	ग्रीष्म में	शिशिर में	वर्षा में
जघन्य	१ उपवास	२ उपवास	३ उपवास
मध्यम	२ उपवास	३ उपवास	४ उपवास
उत्कृष्ट	३ उपवास	४ उपवास	५ उपवास

चार साधु छह महीने तक तप करते हैं, फिर सेवा करने वाले चार मुनि तप करते हैं एवं तप करने वाले मुनि उनकी सेवा-सुश्रुषा

करते हैं। छह महीने के पश्चात् तप पूरा होने पर वाचनाचार्य तप का प्रारंभ करते हैं बाकी के आठ साधुओं में से एक साधु वाचनाचार्य बनता है एवं सात उसकी सेवा करते हैं। इस तरह १८ महीनों तक यह तप चलता है।

० अट्ठारह महीने के पश्चात्, उन नौ साधुओं में से जिसे जिनकल्प [एक विशिष्ट कोटि का संयमजीवन] स्वीकार करना हो वह जिन-कल्प स्वीकार कर सकता है, जिसे गच्छ में वापस लौटना हो वह गच्छ में आकर स्थविरकल्प [सामान्य साधुचर्या का जीवन] स्वीकार कर सकते हैं और फिर से यदि वे परिहारविशुद्धि तप करना चाहते हो तो वह भी कर सकते हैं।

जिन्हें तप न चल रहा हो वे मुनि (नौ में से) हमेशा भोजन करने वाले होते हैं [कभी उपवास भी करते हैं] पर वे भोजन में हमेशा आयम्बिल ही करते हैं। तपश्चर्या के पारणे में भी वे आयंबिल ही करते हैं...विगई वगैरह का प्रयोग तो कतई नहीं करते।

सूक्ष्म संपराय-चारित्र :

संपराय यानी कषाय। दसवें गुणस्थानक पर आत्मा में सूक्ष्म—कुछ ही कषाय अवशिष्ट रहे हुए होते हैं...अत: उस गुणस्थानक पर रही हुई आत्मा को-महात्मा को सूक्ष्मसंपराय—चारित्र होता है।

दसवाँ गुणस्थानक, महात्मा जब उपशमश्रेणि पर या क्षपकश्रेणि पर चढते हैं...तब ही आता है। उपशम श्रेणि पर चढे हुए महात्मा ११ वें गुणस्थान पर से वापस गिरते हैं...तब भी १० वे गुणस्थानक पर आते हैं...चढते समय विशुद्धि बढती रहती है...गिरते समय विशुद्धि कम होती जाती है।

यथाख्यात-चारित्र :

कषायरहित आत्मा को यह चारित्र होता है। इस चारित्र के दो भेद हैं :

१. छद्मस्थ का यथाख्यातचारित्र [११-१२ वे गुणस्थानक पर]
२ केवलज्ञानी का यथाख्यातचारित्र [१३-१४ वे गुणस्थानक पर]
  ० ग्यारहवें गुणस्थानक पर कषायों के उपशम से यथाख्यात चारित्र होता है।

- बारहवें गुणस्थानक पर कषायों के क्षय से यथाख्यात चारित्र होता है।
- तेरहवें गुणस्थानक पर सयोगी केवलज्ञानी का यथाख्यात चारित्र होता है।
- चौदहवें गुणस्थानक पर अयोगी केवलज्ञानी का यथाख्यात चारित्र होता है।
- [1] कषायों के क्षयोपशम से प्रथम के तीन चारित्र की प्राप्ति होती है।
- सूक्ष्म संपराय एवं यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति, कषायों के उपशम से या क्षय से होती है।

इस अपेक्षा से यदि अपन समझें तो कषायों का क्षयोपशम, उपशम एवं क्षय ये तीन प्रक्रियाएं साधक बनती हैं।

ग्रंथकार आचार्यदेव, इन पांच चारित्र के बारे में विशेष बोध प्राप्त करने के लिये तीन रास्ते दिखला रहे हैं अनुयोग, नय एवं प्रमाण। ये तीनों, सोचने के लिए, चिंतन मनन करने एवं समझने के लिए विशिष्ट तरीके भी हैं। पहले अपन तीनों शब्दों की पहचान लें

अनुयोग सूत्र के अभिधेय-कथनीय के साथ संबंध जोड़ना, उसका नाम है अनुयोग। सूत्र के अनुरूप या अनुकूल जो वचनप्रवृत्ति (कथन) की जाती है उसका नाम है अनुयोग।

'अनु' की जगह पर जब 'अणु' लगकर 'अणुयोग' शब्द बन जाय तब 'अणु' का अर्थ 'सूत्र' करना चाहिए। अणु जितने छोटे से सूत्र का विशाल अर्थ करना, उसका नाम है अणुयोग।

[2]अनुयोग के १ अनुयोग, २ नियोग, ३ भाषा ४ विभाषा एवं ५ वार्तिक ये पांचों एकार्थवाची नाम हैं।

[3]पांच चारित्र का अनुयोग २६ द्वारों (प्रकारों) के जरिये किया गया है। यानी २६ दृष्टिकोण से पांच चारित्र का विस्तृत बोध प्राप्त हो सकता है।

---

1 इहरा खओवसमओ चरणतिय उवसमेण खयओ वा।
सुहुमाहक्खायाइं तणावसमक्खया कमसो ॥१२८०॥ — विशेषावश्यकभाष्य

2 अणुओगो य नियोगो भास-विभासा य वत्तियं चेव।
एए अणुओगस्स उ नामा एगट्ठिया पंच ॥१३८४॥ — विशेषावश्यकभाष्य

3 देखें पचसंग्रह प्रकरण।

१ प्रज्ञापना	१३ गति	२५ संज्ञा
२ वेद	१४ संयम	२६ आहार
३ राग	१५ सन्निकर्ष	२७ भव
४ कल्प	१६ योग	२८ आकर्ष
५ निर्ग्रन्थ	१७ उपयोग	२९ कालमान
६ प्रतिसेवना	१८ कषाय	३० अंतर
७ ज्ञान	१९ लेश्या	३१ समुद्घात
८ तीर्थ	२० परिणाम	३२ क्षेत्र
९ लिंग	२१ बंध	३३ स्पर्शना
१० शरीर	२२ वेदन	३४ भाव
११ क्षेत्र	२३ उदीरणा	३५ परिमाण
१२ काल	२४ उपसंपद	३६ अल्पबहुत्व

नयःप्रमाण : प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्मात्मक होता है। 'प्रमाण' का कार्य है पदार्थ को अनन्त धर्मात्मक सिद्ध करना। जबकि 'नय' उस पदार्थ के अनन्त धर्मो मे से किसी एक धर्म को ग्रहण करता है एवं सिद्ध करता है। प्रमाण एव नय के बीच यही भेदरेखा है। नय प्रमाण का एक देश (अंश) है। परंतु जैसे समुद्र के एक अंश को समुद्र नही कहा जा सकता कि असमुद्र भी नही कह सकते! उसी भांति नय को न तो प्रमाण कह सकते है न ही अप्रमाण भी कहा जा सकता है। [1]सम्यक् अर्थनिर्णय—वही प्रमाण है।

जैसे नयो के नैगम, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ व एवंभूत ये सात प्रकार है, वैसे ही निश्चयनय, व्यवहारनय, ज्ञाननय, क्रियानय, द्रव्यार्थिकनय, पर्यायार्थिकनय के रुप मे भी अलग अलग प्रकार हैं।

पाँच चारित्र का विचार एव विस्तार इन्ही नयो के दृष्टिकोण मे किया गया है।

द्रव्यचारित्र, भावचारित्र, निश्चयचारित्र, व्यवहारचारित्र . वगैरह भेद नयो की अपेक्षया कहे गये हैं, या समझाये गये हैं। प्रत्येक नय अपना अभिमत पुष्ट हो उसी चारित्र को चारित्र मानता है। अन्य चारित्र को चारित्र नही मानता। जबकि प्रमाण हर एक चारित्र का युक्तिपूर्वक स्वीकार करता है।

1 सम्यगर्थनिर्णय प्रमाणम्। —प्रमाणमीमांसायाम्

मोक्षमाग

श्लोक सम्यक्त्व-ज्ञान चारित्र-सम्पद साधनानि मोक्षस्य ।
तास्वेकतराऽभावेऽपि मोक्षमार्गोऽप्यसिद्धिकर ॥२३०॥

अर्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यग्चारित्ररूप सम्पदाए मोक्ष के साधन रूप है। उनमे से एक के भी अभाव म (अनुपस्थिति म) मोक्षमाग की सिद्धि नही होती है।

विवेचन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यग्चारित्र का विस्तृत विवेचन करने के पश्चात अब इस कारिका (श्लोक) के माध्यम म यह निर्णय करेंगे कि [1]सम्यग्दर्शन वगैरह तीनो जब समूह रूप मे होते हैं तब ही जाकर मोक्षमाग बनता है। अकेला सम्यग्दर्शन नही, अकेला सम्यग्ज्ञान नही या अकेला सम्यक्चारित्र भी नही।

ये तीनो एकत्र रूप मे ही मोक्षमाग हैं कोई भी एक नही ! परतु यह निर्णय करने म पूर्व 'मोक्ष' किसे कहते हैं, इसका विचार करना होगा।

मोक्ष का स्वरूप

लोकान्त म स्थित 'इषत्प्राग्भारा' नामक धरती को 'मोक्ष' कहा जाता है। वास्तव म वह मुक्त आत्माओ का विशिष्ट स्थान है। जो आत्माए [2]ज्ञानावरणादि आठ कर्मो का क्षय कर देती हैं वे आत्माए 'इषत्प्राग्भारा' धरती पर कि जिसे 'सिद्धशिला' भी कहा जाता है वहा पहुँचती हैं एव केवल आत्मस्वभाव म स्थिर बनती हैं। आत्मा की विकासयात्रा वहा पूर्ण हो जाती है। आत्मगुणों की पूर्णता प्रगट हो जाती है। फिर, पूर्ण आत्मा कभी भी अपूर्ण होती नही है देहधारी बनती नही है।

मोक्षमाग का स्वरूप

[3]मोक्षमाग यानी आत्मा की शुद्धि ! उस शुद्धि के असाधारण कारण

---

1 एतानि च समस्तानि मोक्षसाधनानि । एकतरभावेऽप्यसाधनानीत्यत त्रयाणा ग्रहणम् । —तत्त्वार्थभाष्ये

2 मार्ग इति च ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मक्षयलक्षण केवलात्म स्वभाव कथ्यते स्वात्मावस्थानरूप । —तत्त्वार्थ टीकायाम्

3 मोक्षस्य मार्ग शुद्धिरुच्यते । —तत्त्वार्थ टीकायाम्

है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यग्चारित्र। अत कारण मे कार्य का उपचार करके [1]सम्यग्दर्शन वगैरह तीन को मोक्षमार्ग कहा गया है।

ज्ञान एव चारित्र के बिना अकेला सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग नही बन सकता है।

ज्ञान एव दर्शन के बिना का अकेला सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग नही बन सकता है।

दर्शन एव चारित्र के बिना का अकेला ज्ञान मोक्षमार्ग नही बन सकता है।

दर्शन एव ज्ञान हो पर चारित्र न हो तो मोक्षमार्ग नही है!

ज्ञान एव चारित्र हो पर दर्शन न हो तो मोक्षमार्ग नही है!

दर्शन एवं चारित्र हो परन्तु ज्ञान न हो तो मोक्षमार्ग नही है!

अर्थात्, सम्यग् दर्शन-ज्ञान एव चारित्र समुदित रूप मे मोक्षमार्ग बनता है। जैसे त्रिफला का चूर्ण! हरडे, बहेडा एवं आंवला तीनो मिलते हैं, तब ही त्रिफला चूर्ण बनता है और वह औषध का कार्य करता है।

श्लोक : पूर्वद्वयसम्पद्यपि तेषां भजनीयमुत्तरं भवति।
पूर्वद्वयलाभः पुनरुत्तरलाभे भवति सिद्धः ॥२३१॥

अर्थ : प्रथम दो [सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान] होने पर भी सम्यग्चारित्र की भजना (हो भी, न भी हो) होती है। चारित्र हो भी सकता है.... नही भी हो सकता है, परन्तु सम्यग्चारित्र के होने पर तो सम्यग्-दर्शन एव सम्यग्ज्ञान होते ही हैं।

विवेचन : आत्मशुद्धि-आत्मगुणो की वृद्धि की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन वगैरह का साहचर्य और अ-साहचर्य, ग्रन्थकार बतला रहे हैं।

आत्मशुद्धि की क्रमिक भूमिकाओ को जैन परिभाषा में 'गुणस्थानक' कहा जाता है। एक से लगाकर चौदह गुणस्थान बताये गये है। आध्यात्मिक विकासयात्रा का प्रारंभ चौथे गुणस्थानक से होता है। चूंकि वहा पर जीवात्मा निर्भ्रान्त बनता है। जगत का यथार्थ दर्शन करता है। आत्मतत्त्व की अनुभूति करता है. परन्तु यह सब बाह्य

1 सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः। — तत्त्वार्थ सूत्रे/अ० १ सू० १

आचरण के रूप में नहीं होता है, श्रद्धा के रूप में जरूर होता है। समझदारी के रूप में होता है। श्रद्धा यानी सम्यग्दर्शन और समझदारी यानी सम्यग्ज्ञान। अर्थात् आध्यात्मिक विकास का प्रारम्भ भीतरी भूमिका (श्रद्धा) से चालू होता है। ज्यों ज्यों यह विकास-यात्रा आगे बढ़ती है ...आगे बढ़कर पाँचवें गुणस्थानक पर पहुँचती है तब उस श्रद्धा एवं समझदारी के अनुरूप आंशिक सदाचरण उसके जीवन में आता है—यानी आंशिक चारित्र आता है।

छठे गुणस्थानक पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र का मेल जमता है। इस गुणस्थानक पर ये तीनों साथ ही होते हैं। फिर, ऊपर ऊपर के गुणस्थानक पर ये तीनों साथ ही रहते हैं। एक दूजे से जुड़े हुए रहते हैं। आत्मा शुद्ध-शुद्धतर बनती चलती है।

आराधक कौन ?

श्लोक धर्मावश्यकयोगेषु भावितात्मा प्रमादपरिवर्जी ।
सम्यक्त्वज्ञानचारित्राणामाराधको भवति ॥२३२॥

अर्थ धर्म में [क्षमा वगैरह] एवं आवश्यक क्रियाओं में [प्रतिक्रमण वगैरह] श्रद्धाशील व अप्रमादी आत्मा सम्यग्ज्ञान-दर्शन एवं चारित्र का आराधक बनता है।

विवेचन मोक्ष मार्ग पर निरंतर प्रगति करने के लिये, सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्र की यथार्थ आराधना करने के लिये दो महत्त्वपूर्ण बातें हैं।

(१) श्रद्धा और (२) अप्रमाद

केवल शाब्दिक-श्रद्धा नहीं, श्रद्धा चाहिए हार्दिक ! श्रद्धा चाहिए आत्मिक ! उस श्रद्धा का विषय होता है धर्म। भावात्मक एवं क्रियात्मक दानों धर्म के प्रति अहोभाव से भरी पूरी श्रद्धा चाहिए। क्षमा, नम्रता, सरलता, आकिंचन्य... वगैरह दस प्रकार के मुनिधर्म (यतिधर्म) पर श्रद्धा चाहिए। यह मुनिधर्म भावात्मक धर्म है।

प्रतिक्रमण, आलोचना, स्वाध्याय, प्रतिलेखना, प्रमार्जना, निर्गम-प्रवेश...वगैरह धर्म क्रियात्मक है। इस क्रियात्मक धर्म पर श्रद्धा चाहिए। गाढ़ प्रगाढ़ श्रद्धा चाहिए।

इन भावात्मक धर्म एव क्रियात्मक धर्म—दोनो मे से एक भी धर्म की उपेक्षा नही कर सकते । 'दोनो तरह के धर्म मे इन धर्मो के पालन से ही मैं मोक्षमार्ग का आराधक बन सकता हूं...इन दो प्रकार के धर्म के यथोचित पालन से ही मैं सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्र का आराधक बन सकता हूं यानी निर्वाण को प्राप्त कर सकता हूं ।' वैसी श्रद्धा चाहिए ।

इन धर्मो की आराधना में सतत जागृति चाहिए । एक समय का भी प्रमाद नही किया जा सकता । श्रमणभगवान महावीरस्वामी ने इसीलिए तो कहा है : **'समयं गोयम ! मा पमायए'** 'गौतम तू एक क्षण का भी प्रमाद मत कर ।'

क्षमा वगैरह दस प्रकार के मुनिधर्म के पालन मे जागृत रहकर क्रियात्मक धर्म के पालन मे प्रयत्नशील बने रहना है ।

- उचित समय पर प्रतिक्रमण की क्रिया विधिपूर्वक-भावसहित करना ।
- ज्ञानी गुरुजनो के समक्ष तुम्हे लगे हुए दोषो का प्रकाशन करना, प्रायश्चित करना ।
- दिन-रात के आठ प्रहर मे से पाच प्रहर तो स्वाध्याय मे ही बीताना ।
- हृदय मे जीवदया के भाव को अखंड रखते हुए वस्त्र-पात्र की प्रतिलेखना करना ।
- करुणासभर दिल से एव चौकस नजर से वसती (रहने के स्थान) का निरीक्षण करना ।
- रास्ते मे आते-जाते हुए जीवरक्षा की सावधानी रखना ।

इस तरह भावधर्म एव क्रियाधर्म मे श्रद्धापूर्वक अप्रमत बनकर उद्यमशील बनोगे तो मोक्षमार्ग के प्रति तुम्हारा प्रयाण—तुम्हारी मोक्ष-यात्रा निर्विघ्न चलती रहेगी..तुम अपने गंतव्य तक पहुँच सकोगे । श्रद्धा मे से शक्ति पैदा होती है...एव जागृति भटकने से रोकती है... भूलने से बचाती है ।

'इस तरह भावधर्म एवं क्रियाधर्म की आराधना करते हुए कब मोक्षयात्रा की पूर्णाहूति होगी ?' यह सवाल जगता है मन मे ? ग्रन्थ-कार इसका प्रत्युत्तर देते हुए कहते हैं :

कब होगा मोक्ष ?

श्लोक आराधनाश्च तेषां तिस्रस्तु जघन्यमध्यमोत्कृष्टा ।
जन्मभिरष्टत्र्येकैः सिद्धयन्त्याराधकास्तासाम् ॥२३३॥

अर्थ उनकी जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट यों तीन प्रकार की आराधना [सम्यग्दर्शन वगैरह की] होती हैं। उनमें क्रमशः आठ, तीन एवं एक भव में आराधक सिद्धि को प्राप्त करते हैं। मोक्ष प्राप्त करते हैं।

विवेचन सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की आराधना करने वाले आराधक का लक्ष्य होता है संपूर्ण विशुद्ध आत्मा की प्राप्ति का। आत्मा की शुद्ध-बुद्ध एवं मुक्त अवस्था पाने के लिये वह आराधना करता है साधना करता है। साधनामय जीवन में आने वाले भीतरी एवं बाहरी संकटों का, मुसीबतों का डटकर मुकाबला करता है कष्टों को हँसते मुँह सहन करता है। कभी उसके दिल की गहराइयों में एक सवाल उठ सकता है

'मेरा मोक्ष कब होगा ? आत्मा को परम विशुद्ध अवस्था मैं कब प्राप्त कर सकूंगा ?'

जब इस अवनीतल पर तीर्थंकर परमात्मा सदेह विचरण करते थे, केवलज्ञानी भगवंत या अवधिज्ञानी जैसे विशिष्ट कक्षा के ज्ञानी पुरुष साक्षात् थे तब तो अनेकानेक आराधकों का यह सवाल सरलता से हल हो जाता था। ज्ञानी पुरुष कह देते थे कि 'तुम्हें और कितने भव करने पड़ेंगे या तुम इतने भव में मोक्ष प्राप्त कर लोगे।' पर फिलहाल वर्तमान समय में तो ऐसे विशिष्ट ज्ञानी पुरुषों का संपर्क-समागम कम से कम इस भरत क्षेत्र में तो संभवित नहीं है फिर कैसे जाना जाये कि 'मेरा मोक्ष कब होगा ? कब मेरी आत्मा का अंतिम लक्ष्य प्राप्त होगा ?'

ग्रंथकार महर्षि अपन को उस सवाल का जवाब खोजने की झंझट में से छुटकारा दिलाते हैं वे कहते हैं

• तुम्हारी आराधना यदि उत्कृष्ट है निरतिचार है, तुम्हारा आत्मभाव अत्यन्त विशुद्धतर विशुद्धतम बनता जा रहा है तब तो इस संसार में तुम्हारा और भव होगा ही नहीं। यदि तुमने आगामी किसी

गति का आयुष्य कर्म नही बाँधा है तो इसी भव मे तुम मोक्षदशा को पा सकते हो ! अलबत्ता, धर्मध्यान मे से शुक्लध्यान मे प्रविष्ट होने का प्रबल सामर्थ्य तो चाहिएगा ही ।

• तुम्हारी आराधना मध्यम श्रेणि की है....तब तो अब भी और दो जन्म लेने ही होगे इस संसार मे ! या तो वे भव मनुष्य के होगे या फिर देव एव मनुष्य के होगे । तीसरे भव मे तुम्हारे ससार-परिभ्रमण का अत आ जायेगा । शायद चार या पाच भव भी हो सकते है, पर इस सबका आधार रहेगा तुम्हारी साधना की तीव्रता पर ।

• यदि तुम्हारी आराधना अल्प है....सनही कक्षा की है...तब भी आठ भव से ज्यादा भव भटकने की जरूरत नही रहेगी । पर सबूर, वह अल्प आराधना भी हमेशा चलती रहनी चाहिए । धीमे धीमे वह ऊपर की कक्षा मे पहुँच जायेगी । मध्यम होकर फिर उत्कृष्ट कक्षा तक भी पहुच जायेगी । तुम्हारे भवभ्रमण का अत होगा ही ।

आराधक महात्मा का आदर्श चाहिए परमात्मदशा, ध्येय चाहिए परमविशुद्ध आत्मदशा । वर्तमानकालीन पुरुपार्थ चाहिए कर्मों की निर्जरा करने का, भावात्मक धर्म एव क्रियात्मक धर्म की आराधना अप्रमत्त भाव से करने का !

मुनि को किस तरह का धर्मपुरुपार्थ क्या होकर करना है ...वह अब ग्रन्थकार बतायेंगे ।

आराधना का स्वरूप

श्लोक : तासामाराधनतत्परेण भवति यतितव्यम् ।
यतिना तत्परजिनभक्त्युपग्रहसमाधिकरणेन ।।२३४।।

अर्थ : सम्यग्दर्शन वगैरह की आराधना मे तत्पर मुनि को चाहिए कि वह उसी मे तत्पर रहे । इसके लिए जिनेश्वरभक्ति, साधुसेवा, जीव समाधि वगैरह मे उसे सदा रत रहना चाहिए ।

विवेचन : ओ मुनिराज !

यदि तुम्हे सम्यग्दर्शन-ज्ञान व चारित्र की कल्याणकारिणी आराधना करनी है...आराधना करने के लिये तुम तत्पर हो....प्रयत्नशील हो तो तुम्हे उन सम्यग्दर्शन वगैरह की आराधना के विभिन्न अगो की उपासना मे सदैव रत रहना चाहिए । जैसे कि .

१ तुम्हें उचित समय में परमात्मा के मंदिर मे जाना चाहिए। प्रफुल्ल नयन एव मन से पावनकारी जिनप्रतिमा के दर्शन करने चाहिए। मधुर स्वर मे परमात्मा की स्तवना करनी चाहिए। जिनप्रतिमा एव जिनेश्वर के ध्यान मे इस कदर लीन-तल्लीन हो जाना चाहिए कि साक्षात जिनेश्वर का दर्शन प्राप्त हो! और इस तरह एक दिन तुम स्वय भी 'जिन' हो जाओ!

२ तुम विहार करते करते किसी तीर्थभूमि म पहुँच जाओ। तीर्थंकर भगवतो की कल्याणक भूमि पर पहुँच जाओ तो वहा जाकर भक्तियोग मे डूब जाना।

३ गृहस्थो को नयनरम्य जिनप्रतिमाएँ बनाने का उपदेश देना। भव्य जिनमदिरो के निर्माण की प्रेरणा देना। जिनप्रतिमाओ को जिनालय मे प्रतिष्ठित करने के विशिष्ठ लाभो का वर्णन करना। प्रजा को जिनेश्वर परमात्मा की भक्ति मे जोडने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना। ये सारी आराधनाएँ तुम्हारे सम्यग्दर्शन गुण को विशेष उज्ज्वल बनायेंगी। सुदृढ एव सुस्थिर बनायेगी।

४ साधुसेवा का महान धर्म भूलना मत। बाल वृद्ध ग्लान, तपस्वी एव प्राघूणक [मेहमान] साधु भगवतो की सेवा भक्ति आदर-पूर्वक करके उन्हे सुख-साता देना। ज्ञानवृद्ध, पर्यायवृद्ध एव जिनशासन के प्रभावक साधु पुरुषो की भी अवसरोचित सेवा करना। दर्शन, ज्ञान एव चारित्र मे गुणो से अलकृत साधुपुरुषो की सेवा करने से वे सारे गुण तुम्हारे मे उतरेंगे उतरे हुए गुण बढते चलेंगे।

साधु सेवा के गुण को अखड रखने के लिए तुम्हे सर्वप्रथम गुण दृष्टा होना होगा। हर एक साधुपुरुष के गुण ही देखने की आदत डालनी होगी। छद्मस्थ आत्माओ मे दोष तो होंगे ही, फिर भी हमें दोष देखना नही है। चूकि दोषदर्शन की आग सद्भाव के फूलो को जला डालती है। दोषदर्शन द्वेष का जनम देता है।

जिनभक्ति एव साधु सेवा—ये दो प्रकार की आराधना म निरतर प्रयत्नशील बने रहने से सम्यग्दर्शन वगैरह की आराधना सहज-स्वाभाविक होती चलेगी। आराधना मे आतर उत्साह उत्फुल्ल रहेगा। आतरवीर्य उल्लसित रहेगा।

मोक्षमार्ग की आराधना करने वाले महात्मा कैसे होते हैं और उनका आतरसुख कितना उमदा व अनुपम होता है ..उसका यथार्थ बयान अब ग्रन्थकार स्वय कर रहे है ।

साधु : अंध-मूक-बधिर

श्लोक : स्वगुणाभ्यासरतमतेः परवृत्तान्तान्धमूकबधिरस्य ।
मदमदनमोहमत्सररोषविषादैरधृष्यस्य ॥२३५॥
प्रशमाव्याबाधसुखाभिकांक्षिणः सुस्थितस्य सद्धर्मे ।
तस्य किमौपम्यं स्यात् सदेव मनुजेऽपि लोकेऽस्मिन् ॥२३६॥

अर्थ : जिसकी बुद्धि आत्मगुणो के अभ्यास मे रत है...जो दूसरो की बातो मे अध-मूक एव बधिर बना रहता है, जो गर्व, काम, मोह मत्सर, रोष एव विषाद से अभिभूत नही बनता है...[२३५] जो प्रशमसुख एव अव्याबाध सुख का इच्छुक है....जो सद्धर्म मे सुदृढ है वैसे आराधक को, देव एवं मनुष्य के इस लोक मे किसकी उपमा दी जा सकती है ? [२३६]

विवेचन : जब वैषयिक सुखो की इच्छाए शात हो जाती हैं....तब अन्तरात्मा के प्रशमसुख की अभीप्सा पैदा होती है । वैषयिक सुखो के पीछे दौड दौडकर थका हुआ जीव प्रशमसुख के सहकार वृक्ष की शीतल छाया खोजता है ।

ज्यो ज्यो वह प्रशमसुख का आशिक भी आस्वाद लेता है...त्यो-त्यो वह पूर्ण अव्याबाध आत्मसुख की अभिलाषा मे डूबता जाता है । उस पूर्ण सुख को पाने के लिए राह ढूढता है....और फिर उसे जब संयम का...सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का मार्ग मिल जाता है तब वह एक पल की भी देरी किये बगैर उस राह पर चल देता है । सयम के सम्यग्मार्ग पर अविचल श्रद्धा स्थापित करता है । क्षमा, नम्रता वगैरह दस प्रकार के यतिधर्म का पालन पूर्ण जागति से करता है । प्रतिक्रमण-प्रतिलेखन वगैरह क्रियात्मक धर्म का आदरपूर्वक आराधन करता है । तनिक भी अधीरता या अकुलाहट का शिकार नही बनता है । सदा-सर्वदा आत्मा को अनुशासित करता हुआ वह महात्मा—

— जगत को देखने के लिये अंध बन जाता है,

— जगत के गुणदोष बताने के लिये गूंगा बन जाता है,

— जगत का बकवास सुनने के लिये बहरा बन जाता है ।

उस महात्मा के पास ऐसा ज्ञान स्पष्ट होता है, कि बीते हुए अनतकाल मे जगत को ही देखा किया था, जगत के साथ ही बकवास करता रहा था और दुनियादारी की बात ही सुनता रहा था । इन सब के कारण तीव्र राग गाढ द्वेष का शिकार होता रहा । खुशी-नाराजी मे मचलता रहा । अनत अनत कर्म बांधे पर अब यह सब नही करना है इस मानव जीवन मे ! इस जीवन मे तो आत्मा की शुद्ध सत्ता ही प्राप्त करना है । अनत अनत आत्मगुणो का आविर्भाव करना है । अन्तरात्मा के प्रशमसुख का आस्वादन करना है ।'

इस दृढ निश्चय के साथ महात्मा सयमधर्म की आराधना मे प्रगति करता है । अपने इर्दगिर्द रहने वाले अन्य साधु भगवतो के क्रियाकलापो की ओर नजर नही डालता । उनके गुण-दोषो की चर्चा करने मे व्यर्थ का समय नही गँवाता । न किसी का अवर्णवाद सुनता है नही अपने मन को अन्य बातो से, दूसरो की बातो से चचल बनाता है । न ही व्यग्र-व्यथित होता है ।

वह तो हमेशा रममाण रहता है आत्मगुणो के उफनते उदधि मे । सम्यक् दर्शन ज्ञान एव चारित्र मे गुणो की आराधना मे लीन बन जाता है ।

- ऐसे महात्मा को गर्व छू नही सकता ।
- कामवासना सता नही सकती ।
- मोह फसा नही सकता ।
- मत्सर रुला नही सकता ।
- गुस्सा पागल नही बना सकता ।
- विषाद व्यथित नही बना पाता ।

१ आत्मगुणो को प्रगट करने की आराधना मे जो भर कर डूबे हुए महात्मा का यदि कोई करारा अपमान करता है तो भी उनका अभिमान हुंकार नही करता है । कूरगडु मुनि कि जिन्होंने राज्य और

३२/३२ सुन्दरियों का त्याग करके संयमधर्म अंगीकार किया था, उनका उन चार तपस्वी मुनिश्रो ने कितने वेहूदे ढग से तिरस्कार किया था? उनके आहार मे थूक दिया था। फिर भी कूरगडु मुनि आत्मभाव में स्वस्थ रहे। अहकार की एकाध रेखा भी उनके मनोक्षितिज पर उभरी नही थी।

२. परमब्रह्म मे मग्न वैसे महात्मा के सामने कैसी भी रूपसुन्दरियाँ आकर के खडी रहे....गीत गाये कि नृत्य के घुघरु वजाये....फिर भी महात्मा के भीतर मे कामविकार की तनिक भी चिनगारी नही सुलगती है। मगध की राजनृत्यागना रूपकोशा के आवास मे चातुर्मास कर रहे स्थूलभद्र महामुनि के सामने रूपकोशा स्वय पैरों मे घुंघरु वाधकर जी भर नाच रही थी। एक से वढकर एक नृत्य वह कर रही थी, फिर भी कामविजेता महामुनि मन से भी विकार का शिकार नही हुए। वासना का एकाध भी वाण उन्हे छू तक नही पाया।

३. आत्मभाव मे सुदृढ रुप से स्थिर रहे महर्षि को चाहे-अनचाहे विषयो मे न तो खुशो होती है...न ही नाराजी रहती है। न उन्हे हँसी आती है...न उद्विग्नता उभरतो है। गोचरी के लिए अनजान घर पर जा चढे झाझरीया मुनि के समक्ष उस श्रीमत परंतु वासना-विह्वल नारी ने कम फादे रचाये थे क्या? उन्हे रिझाने की कम कोशिश की थी क्या? फिर भी मुनिराज अविकारी रहे...और जव उस नारी ने गलत आरोप मढकर मुनि को वदनाम दिया तव राजमार्ग पर से गुजरते हुए लोगो के निन्दा एव घिनौने शब्द सुनकर भी उनका रोया नही फड़का था। उस वक्त भी मुनि खेद एव उद्वेग से अलिप्त रहे थे।

४. मोक्षमार्ग की आराधना मे रत मुनि के हृदय मे मात्सर्य [इर्ष्या-डाह] के जाले क्यो लगेगे? हजारो मुनिश्रो की उपस्थिति मे जव श्रमण भगवान महावीर ने 'धन्य अणगार' को श्रेष्ठ साधक के रूप में वताया तव इद्रभूति गौतम, वगैरह गणधर एव अन्य महामुनि पुलकित हो उठे थे! उनके चित्त--चन्द्रमा को इर्ष्या का राहु छू भी नही सका!

५. क्षमाधर्म को मुनि का पर्याय मानने वाले महर्षि को गुस्सा होने का तो सवाल ही पैदा नही होता। साधुसेवा के क्षेत्र मे शास्त्र-प्रसिद्ध वे नंदिषेण मुनि! उन्हे गुस्सा दिलाने के लिये उस देव ने कम

उपसर्ग सताये थे क्या? पर नंदिषेण मुनि ने गुस्से को अपने मन में घुसने तक नहीं दिया।

६. धीर-वीर एवं गंभीर बनकर विशुद्ध आत्मप्रदेशों की परिणति में लिपटे हुए पराक्रमी महात्मा रास्ते में कितने भी कष्ट आयें, कितने भी संकट आ जायें, उपसर्ग या परिषह गिर आयें, फिर भी वे पस्त नहीं होते, हार नहीं जाते। उनका उत्साह कम नहीं होता उनका मन निराश नहीं होता।

स्कन्द-जी [illegible] पर का [illegible] उपसर्ग आने पर [illegible] हँसते मुँह घाणी में पिस गये थे स्कन्दकाचार्य के पाँचसौ शिष्य मुनि इस बात के साक्षी हैं, उदाहरण रूप हैं।

ऐसे महात्माओं के गुणों का गान के लिये जगत में कोई तुलना या उपमा ढूंढ़ नहीं मिलती।

प्रशम का सुख, बिल्कुल प्रत्यक्ष!

श्लोक : स्वर्गसुखानि परोक्षाण्यत्यन्तपरोक्षमेव मोक्षसुखम्।
प्रत्यक्षं प्रशमसुखं न परवशं न व्ययप्राप्तम्॥२३७॥

अर्थ : स्वर्ग के सुख परोक्ष हैं और मोक्ष का सुख तो अत्यन्त परोक्ष है—
प्रशमसुख प्रत्यक्ष है—न तो वह पराधीन है न ही नश्वर है।

विवेचन : सुख दो प्रकार के होते हैं: प्रत्यक्ष सुख और परोक्ष सुख।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र की आराधना से जब आत्मा पूर्ण हो जाता है, तब मुक्तिसुख प्रगट होता है। यदि वे आराधक महात्मा चरमशरीरी हों, तब तो उसी भव में कर्मों का भी नाश करके वे मोक्ष में चले जायेंगे, पर यदि वे महात्मा चरमशरीरी नहीं हैं—अर्थात् उनका जन्म मोक्ष पाने का नहीं है तब उन्हें मृत्यु के पश्चात् स्वर्गलोक (देवलोक) में जाना पड़ता है। वहाँ उन्हें स्वर्ग के दिव्य सुख मिलते हैं और वे सुख उन्हें भोगने पड़ते हैं।

लेकिन ये स्वर्ग के सुख भी इस मनुष्यजीवन के लिए तो परोक्ष ही हैं—जब वे मिलें तब सही। और मोक्ष का सुख तो [illegible] दूर की बात है, बहुत आगे की बात है वह सुख—जब वे सुख मिलें तब सही—पर वर्तमान जीवन में सुख चाहिए, उसका क्या? तो—

तुम्हे इसी जीवन मे सुख चाहिये ना ? बिल्कुल, स्वर्ग और मोक्ष के सुख की आशा ही आशा मे अभी दु खी होकर जीने का क्या मतलब ? नही, दु.खी होने की कोई जरूरत नही है....वर्तमान जीवन मे भी सच्चा सुख मिल सकता है ।

- जो सुख पराधीन हो वह सच्चा सुख नही है ।
- जो सुख विनाशी हो वह सच्चा सुख नही है ।
- ऐसा भी एक उम्दा सुख है जो पराधीन नही है और विनाशी भी नही है... .उस सुख का नाम है प्रशमरति !

जिन आत्माओ के पास, जिन महात्माओ के पास यह प्रशमसुख है, उन्हे स्वर्ग के सुखो की इच्छा नही रहती.... .उन्हे मोक्ष के सुख की भी तमन्ना नही होती. ...वे तो 'मोक्षेऽप्यनिच्छ.' मे होते है ।

इस प्रशमसुख को पाने के लिये किसी भी तरह की गुलामी नही करनी है. .तुम्हारी ही अन्तरात्मा मे से वह सुख मिल जायेगा । मिलने के बाद उस सुख का अनुभव करने के लिये इन्द्रियो की परवशता भी नही होगी, चू कि यह सुख इन्द्रियातीत होगा । चाहे कान बहरे हो .. आखो मे अन्धापन हो. ..जिह्वा लकवे की शिकार हो जाय. .चमडी स्पर्श-हीन हो चले, पर प्रशमसुख की अनुभूति तो तुम अवश्य कर पाओगे । आत्मा का सुख आत्मा से ही आत्मा को, आत्मा मे महसूस करना है ।

तुम चाहे जितना प्रशमसुख लूटो....वह कभी कम नही होने का । यह सुख है ही कुछ ऐसा कि ज्यो ज्यो उसे भोगते चले, वह बढता ही रहे ।

इस प्रशमसुख की प्राप्ति होने के बाद, भौतिक—वैषयिक सुखो की इच्छा ही मृतप्राय हो जाती है । अपूर्व एवं अद्भुत प्रशमसुख मे डूबी हुई आत्माए मोक्षसुख की अनुभूति मे गहरे उतरती हैं...यह बात ग्रन्थ-कार स्वय स्पष्ट तौर पर बता रहे है ।

मोक्ष, यहीं पर है !

श्लोक : निर्जितमदमदानानां वाक्कायमनोविकाररहितानाम् ।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम् ॥२३८॥

अर्थ जिन्होंने मद और काम को जीत लिया है, जो मन-वचन-काया के विकारों से मुक्त हैं, परपदार्थों की आशाएं जिनकी अवशेषभूत हो चुकी हैं, वैसे सुविहित [शास्त्रविहित विधि के पालक वाहक] मुनियों के लिये तो यहीं पर [इस वर्तमान जीवन में ही] मोक्ष है।

विवेचन ओ मुनिराज! तुम यहीं पर, इसी जीवन में मोक्ष सुख का अनुभव कर सकते हो। यहीं पर तुम मोक्ष का सर्जन कर सकते हो, तुम्हारी आत्मा के लिये। उस सर्जन के लिये अलबत्ता, कुछ पुरुषार्थ तो करना ही होगा। उस पुरुषार्थ को इस तरह तुम बांट सकते हो

१ तुम्हारे मन को स्वस्थ बनाना, स्वस्थ रखना। उसके लिये मद व मदन पर विजय प्राप्त करना होगा। मन को आत्यंतिक रूप से अस्वस्थ बनाने वाले यदि कोई है तो ये मद और मदन, मान व काम! मानवासना और कामवासना को आत्मा में से चुन चुनकर उखाड़ फेंकना होगा।

२ मनोविकारों को दूर करने पड़ेंगे। ईर्ष्या, द्रोह, मत्सर, अभिमान-ये सारे मनोविकार हैं। सम्यग्ज्ञान के सहारे इन विकारों पर करारा प्रहार करना होगा।

३ वचनविकारों को भी दूर ही से सलाम कर देना। तुम्हारी जबान जीवहिंसा में प्रेरक नहीं बननी चाहिए। तुम्हारी जबान तुम्हारी वाणी कड़वी या कठोरतापूर्ण नहीं होनी चाहिए। तुम्हारा वचन असत्य नहीं होना चाहिए। तुम्हें हमेशा करुणापूर्ण, कोमल, मधुर और सत्य वचन बोलने का ही प्रयास-अभ्यास करना चाहिए।

४ काया के विकारों को दूर करना। जल्दबाजी में दौड़ना घबराहट में चलना कूदना ये सारे शरीर के विकार हैं। बेवजह उठना बैठना घूमना भटकना टहलना-ये भी काया के विकार हैं इन विकारों को छोड़ देना है।

५ परायी आशा, दूसरों का भरोसा छोड़ देना चाहिए। तुम्हें धन धान्य या रुपये-पैसे की, गहने वगैरह की आशा तो कतई नहीं करना है। मात्र भिक्षावृत्ति से ही गुजारा करना है। भिक्षा भी मनमानी या मुंहमांगी नहीं वरन् जिनाज्ञा के मुताबिक ग्रहण करनी है। कभी शुद्ध भिक्षा उपलब्ध न भी हो, तब भी तुम्हें अस्वस्थ या उद्वेलित नहीं होना

है । इतना मनोबल तो तुम्हे बनाना ही होगा कि बगैर भिक्षा के भी कुछ दिन तुम रह सको....स्वस्थ रहकर गुजारा कर सको... और मजे मे सयमधर्म का पालन कर सको !

- मान-सन्मान की आशा छोड़ देना ।
- आदर—सत्कार की अपेक्षा त्याग देना ।
- प्रिय वचन की आशंसा झटक देना ।
- अनुकूलता की उत्सुकता उखाड देना ।
- किये हुए उपकार के बदले की आशा भी मत रखना ।

बस ...ये पाच बातें यदि तुम्हारे जीवन के साथ जुड गई .. तो समझ लेना कि तुम्हे यही पर मोक्ष मिल जायेगा । यह 'मोक्षदशा' प्राप्त हो जाने पर फिर लोकान्त पर स्थित मोक्ष को पाना बहुत दूर की मजिल नही रहेगी ।

कौन है जो सदा सुखी ?

श्लोक : **शब्दादिविषयपरिणाममनित्यं दुःखमेव च ज्ञात्वा ।**
ज्ञात्वा च रागद्वेषात्मकानि दु.खानि संसारे ॥२३९॥

स्वशरीरेऽपि न रज्यति शत्रावपि न प्रदोषमुपयाति ।
रोगजरामरणभयैरव्यथितो यः स नित्यसुखी ॥२४०॥

अर्थ : जो [आराधक] शब्द वगैरह विषयो के परिणाम को अनित्य एव दु खरुप जानकर व ससार मे रागद्वेपात्मक दु खो को जानकर अपने शरीर पर भी राग नही करता है और दुश्मन के प्रति भी द्वेष नही करता है, वह रोग—बुढापा और मृत्यु से अव्यथित रहता है और वह (इस तरह) सर्वदा सुखी होता है ।

विवेचन व्यथारहित महात्मा सर्वदा सुखी होते है । उनके आत्मप्रदेश पर सुख का शीतल झरना कलकल निनाद करता हुआ बहता ही रहता है ।

उस महात्मा को न तो किसी रोग-बीमारी की व्यथा होती है, न ही बुढापे की चिंता या मौत का भय सताता है । वे तो रोगो को

अशाता वेदनीय कर्म का फल मानते हैं, बुढ़ापे को शरीर का पर्याय समझते हैं और मृत्यु को जीवन परिवर्तन का एक झटका मात्र मानते हैं। इस तरह की सही समझ उस महात्मा को व्यथा से व्याकुल या विचलित नहीं होने देती।

जिस महात्मा को अपने शरीर पर भी राग नहीं होता है उस महात्मा का शारीरिक बीमारी की व्यथा तो हो भी कैसे सकती है ? उनकी निगाह मे तो शरीर यानी आत्मा के लिये प्रबल बन्धनरूप है। वे हमेशा उस बन्धन को तोडने का, काटने का पुरुषार्थ ही करते रहते हैं। धीर वीर एव गभीर बनकर घोर तपश्चर्या करते रहते हैं। उनके शरीर पर कोई जानवर या आदमी कभी हमला कर दे जानलेवा हमला कर दे फिर भी वे गुस्से से बौखला नहीं उठते अपनी स्वस्थता को गवा नहीं बठते। हमला करने वाले को दुश्मन नहीं समझते। वे खधकमुनि ! उन्होने तो अपने शरीर की चमडी को उतारने के लिए छुरी लेकर आये हुए राजा के सिपाहियो से बडे प्रेम से कहा 'भाई तो मी भले लगते हो तुम ! उतार दो इस विनश्वर देह की चमडी को ! तुम देह की चमडी उतारो मैं राग-द्वेष की चमडी उतारूंगा आत्मा पर से।

शरीर पर आसक्ति हो राग हो तो शरीर पर प्रहार करने वाले पर गुस्सा आयेगा पर जिन्हे राग ही नहीं है उन्हे क्योंकर कोई दुश्मन लगेगा ? और फिर, जिन महापुरुषो ने शरीर की ममता का झटक दिया वे महापुरुष क्या स्वजन-परिजन और वैभव-संपत्ति की ममता मे जियेंगे ? कभी नहीं !

आध्यात्मिक विकासयात्रा में सबसे पहले स्वजन-परिजन की ममता छूटती है, फिर वैभव-संपत्ति का ममत्व टूटता है और इसके बाद शरीर का ममत्व भी समाप्त हो जाता है ममत्व गया कि स्वजन-परिजन निमित्तक रोष-रोस शात हो जाते हैं। वैभव-संपत्ति को लेकर होने वाले कषाय मर जाते हैं। शरीर से संबंधित द्वेष या राग अपने आप दूर हो जाता है।

न किसी जीव के प्रति गुस्सा।
न किसी के भी प्रति नाराजी।
न किसी के प्रति उदासी।

सभी जीवो के प्रति मैत्री एवं करुणा का भाव छलकने लगता है।

आत्मा को परभावो के—परपदार्थों के सुख के ममत्व से मुक्त वनाने के लिये महात्मा वैषयिक सुख 'क्या सचमुच सुख है सही?' इस वात का विश्लेषण करते है। शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्श के सुखो को लेकर गहरा चिंतन करते हुए 'वे सुख अनित्य है' ऐसा निर्णय करते हैं। 'उन सुखो का अंजाम दु.ख है'....यह दूसरा निर्णय होता है उनका।

- विषय समीप मे हो तो सुख, विषय के अभाव मे दुःख।
- विषय मनपसद हो तो सुख, नापसद हो तो दु ख।
- विषयभोग करते समय सुख, उपभोग की क्षमता क्षीण होने पर दु ख।

विषयो के राग मे से दु ख पैदा होता है।

विषयो के द्वेष मे से दु ख पैदा होता है।

कारण कि, विषयराग से पापकर्म वधता है और विषयद्वेष से भी पापकर्म वधता है...वधे हुए पापकर्म जीवात्मा को दु.खी कर डालते हैं....जब वे उदय मे आते हैं।

पाँच इन्द्रियो के विषयो मे जीवात्मा की आसक्ति उसे सुख की कल्पना करवाती है...विषयो मेन तो सुख है न कोई दु ख...। हड्डी के टुकडे को चूसने-चवाने वाला श्वान समझता है कि उसे मजा आ रहा है....रस मिल रहा है. .रसास्वाद हो रहा है...पर दरअसल मे तो हड्डी के घर्षण से क्षत उसके तलवे और जवडो मे से ही खून रिसता है।

मोक्षमार्ग की आराधक आत्मा, सम्यग्ज्ञान के प्रकाश मे यह निर्णय कर लेती है कि 'वैषयिक सुख अनित्य हैं...परिणाम मे दु खदायी है....' यह निर्णय उस आराधक को ममत्वहीन वना देता है .वनाये रखता है। फिर, इन्द्रियो के कैसे भी सुख उसके सामने आये .कैसा भी विषय या पदार्थ उसके सामने आये, फिर भी वह नही तो ललचाता है .नही खीचाता है....नही चकरा जाता है।

- इस तरह ममत्वरहित वनकर, चक्रवर्ती के वैभव को भी त्याग कर, सयममार्ग पर चल निकले महर्षि सनत्कुमार के देह मे सोलह–सोलह रोग थे, पर वे स्वय स्वस्थ थे...अव्यथित थे। सातसौ वरसो तक उनके शरीर मे रोग रहे..फिर भी महर्षि का मन निराकुल रहा....

वे तो परमानन्द की मस्ती में डूबे रहे । दुःख की कोई कल्पना ही नहीं बची थी सदा वे सुखी थे ।

❀ मौत मुँह खोले सामने खडी थी। राजा नंगी तलवार लिये लपका था मदनब्रह्म मुनि कायोत्सर्ग ध्यान में अविचलित होकर यथावत रहे। वे निर्भय थे प्रशांत थे उनका आन्तरसुख अखण्ड था - उन्हें यहा अपने शरीर पर आसक्ति थी? 'यह तलवार मेरे इस नाशवत शरीर का वध कर पायेगी, मेरी आत्मा का नहीं । मैं शुद्ध आत्मद्रव्य हू ।' यह उनका दृढ निश्चय था ।

❀ ममत्वरहित महामुनि सदा निर्भय एव निराकुल होते हैं उन्हें डर किस बात का ? रात्रि में ही सयम अंगीकार करके उसी समय श्मशान में जाकर 'अप्पाण वोसिरामि' कहकर कायोत्सर्ग ध्यान में लीन बने हुए अवंतीसुकुमाल महामुनि कितने निर्भय थे ? लोमडी अपने बच्चो के साथ उन पर झपटी उनका मास नोच डाला खून पी लिया पर महामुनि निर्भय-निराकुल रहे ।

❀ नगर के दरवाजे के पास ध्यान लगाकर खडे हुए दृढप्रहारी महात्मा की निर्भयता तो उनके चेहरे पर दिप्तीमान् हो रही थी । लोगो ने उन्हे डागी कहकर पत्थर मारे डंडे लगाये शिकारी कुत्तो से नुचवाया फिर भी उन महामुनि के मन पर डर की एक भी रेखा भी नही उभरी । उनका भीतरी सुख यथावत् रहा ।

❀ श्रेष्ठ वयमिक सुखो के सरोवर में भी ममत्वरहित होकर जी रहे सुव्रत सेठ की निर्भयता निराकुलता तो अपना सर झुका दे वसी थी । करोडो का धन उठाकर जा रहे चोरो को देखने पर भी किसी भी तरह की व्याकुलता नहीं तनिक भी घबराहट नहीं । कितना अद्भुत सयम ! ऐसे महात्मा सदा-सर्वदा सुखी ही रहते हैं ।

सुख - आनन्द

श्लोक धर्मध्यानाभिरतस्त्रिदण्डविरतस्त्रिगुप्ति गुप्तात्मा ।
सुखमास्ते निर्द्वन्द्वो जितेन्द्रियपरिषहकषाय ॥२४१॥

अर्थ धर्मध्यान मे तल्लीन, तीन दड [मनदड, वचनदड, कायदड] से विरत, तीन गुप्ति से गुप्त-सुरक्षित, इन्द्रिय-परिषह-कषाय के विजेता निर्द्वन्द्व मुनि सुखपूर्वक रहते हैं ।

विवेचन मुनिराज ! तुम्हे सुख–आनन्द मे निमग्न रहना है ? सदा प्रसन्नता का अनुभव करना है ? तो....तुम्हे मन–वाणी एवं शरीर की पूरी ताकत लगाकर इतना पुरुपार्थ करना होगा ।

१ तुम धर्मध्यान मे लीन रहो । तुम्हारे विचारो को धर्मध्यान के रग से रग डालो । आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, संस्थान-विचय, धर्मध्यान के इन चार प्रकारो में से किसी भी प्रकार मे तुम्हारे मन को जुडा हुआ रखो ।

२ जिससे आत्मा पापकर्मो से बचती रहे....वैसे विचार मत करो । आत्मा पापकर्मो से लिप्त हो वैसी वाणी का प्रयोग मत करो ! और आत्मा पर पापकर्मो का जमाव हो वैसा शरीरचेष्टा मत करो ।

३ अशुभ विचारो से तुम्हारे मूल्यवान मन को सदा बचाये रखना। सतत सद्विचारो से मन को नवपल्लवित बनाये रखना । शक्य इतना ज्यादा समय मौन रखना और शरीर को स्थिर बनाने की कोशिश करना .शुभयोग मे प्रवृत्त रखना ।

४. इन्द्रियो के विजेता बनना, जितेन्द्रिय बनना । इन्द्रियो की कभी भी गुलामी मत करना ।

५ परीपहविजेता बनना । परीपह सहन करने मे कभी भी दीन-हीन नही बनना, अपितु डटकर सहन करना ।

६ कपायविजेता बनना । क्रोध–मान–माया–लोभ पर विजय प्राप्त करना । कपायो की अधीनता तो स्वीकारना ही नही ।

७ निर्द्वन्द्व बनना । शेर की भाति पराक्रमी बनकर अकेले विचरना । . .न कोई समाज का सपर्क.. .न किसी साथी का संग....न कोई ससर्ग . न किसी वान का संघर्प ! निरंजन, अकलक परमात्मा के ध्यान में मस्त रहना । 'अवधु सदा मगन मे रहना ।'

न किसी परपदार्थ की आशा या अपेक्षा....'पर की आशा सदा निराशा !' इस सनातन सत्य को प्रतिक्षण जीवन मे जीवंत रखना, उसे जीना ।

महात्मन् ! इन्द्रियविजेता, परिपहविजेता एव कपायविजेता ऐसे तुम कभी भी निराश या निरुत्साही मत होना । दुनियादारी की कोई

ताकन तुम्ह अपनी राह से विचलित न कर पाये वैसी दृढता सजो लेना । तुम्हारा अपूर्व सत्व, तुम्हारा श्रेष्ठ आत्मवीय, रास्ते मे आने वाले प्रत्येक विघ्न एव प्रत्येक बाधा को चूर चूर कर डालेगा ! तुम्हारा सुख निराबाध रहेगा ।

'मुझे तो प्रतिपल आत्मसुख की गहराई मे उतरना ह डूबना है ' यह सकल्प कर लो ! आत्मसाक्षी से निर्णय कर लो। यह सात प्रकार का आन्तर पुरुषार्थ प्रारभ कर दो जीवन मे ! तुम्हे अवश्य सफलता मिलेगी किसी भी तरह का सदेह मत रखना । सफलता तुम्हे वरेगी ही।

मुनि का आत्मतेज

श्लोक विषयसुखनिरभिलाष प्रशमगुणगणाभ्यलङ्कृत साधु ।
द्योतयति यथा सर्वाण्यादित्य सर्वतेजांसि ॥२४२॥

अर्थ जसे सूरज, तारा वगरह के प्रकाश अभिभूत करके (स्वय क तेज स) प्रकाशमान होता है, वस ही विषयसुख की अभिलाषा स रहित एव प्रशमगुणो के समूह से सुशोभित मुनि (देव मनुष्य वगरह क तेज सुरा को अभिभूत करके) प्रकाशमान होता है ।

विवेचन ओ मुनिराज !

तुम सहस्ररश्मि की भाति प्रकाशमान हो । देव-दानव के तेज तुम्हारे तेज के समूह मे अभिभूत बन गये हैं । राजा-महाराजा और चक्रवर्ती के तेज भी तुम्हारे आध्यात्मिक तेज मे देदीप्यमान प्रकाश से पराभूत हो गये ह । इसीलिए तो वे सब तुम्हे भाव से नमस्कार करते हैं वे अपने हृदयकमल मे तुम्हारा ध्यान लगाते हैं ।

यह आध्यात्मिक दिव्य तेज तुम म प्रगट कसे हुआ ? महात्मन्, तुमने ससार के सभी वषयिक सुखो का त्याग किया है । यह त्याग मात्र बाह्य त्याग नही है, वरन् तुमने उन तमाम सुखो को मानसिक रूप से भी छोड दिये हैं तुम्हारे दिल मे उन सुखो को पाने की या भोगने की यतई इच्छा शेष नही रही है !

परन्तु इतना होने पर भी तुम्हारा दिल, तुम्हारा मन शुष्क नही बना है नीरस नही हुआ है । जिनवचनो के अध्ययन-अध्यापन, चितन-मनन और लेखन म तुम अद्भुत ज्ञानानद प्राप्त कर रहे हो।

पद्मासनस्थ होकर, नासाग्र पर दृष्टि स्थिर करके, प्राणायाम से स्थिरता प्राप्त करके तुम परमात्मा के ध्यान मे लीन बन जाते हो ।

तुम्हारे हृदय मे आत्मसुख का समुद्र लहरा रहा है. ..तुम्हारे तन-मन शात–उपशात वने हुए हैं....ओ महामुनि ! इन सव कारणो से तुम्हारा दिव्य तेज झिलमिला रहा है ।

प्रशम के सहभागी गुणो से तुम शोभित हो रहे हो । तुम्हे नही है राग, नही है द्वेष । तुम विल्कुल मध्यस्थ ो । तुम्हे अशाति नही है....सक्लेश नही है....तुम शान्तरस मे निमग्न हो ।

तुम्हे किसी भी जीव के प्रति शत्रुता नही है....अभाव नही है · तुम समशत्रु–मित्र वन गये हो ।

तुम परनिन्दा नही करते....नही स्वप्रशंसा करते हो ...तुम गुणानु-रागी हो ।

तुम क्षमा वगैरह गुणो की प्रतिमा से हो ।

तुम्हारे इस आध्यात्मिक तेज की वरावरी तो सूरज की हजार किरणे भी नही कर सकतो । एक महर्षि ने शायद इसीलिए कहा है 'द्योतयति यथा न तथा सर्वाण्यादित्यतेजासि' ।

सूर्य का तेज तो जीवात्मा को चकाचौंध वना डालता है. .जवकि तुम्हारा तेज जीवो को शीतलता वक्षता है.. .देदोप्यमान सूरज के सामने तो आख उठाकर देखना भी मुमकिन नही होता....जवकि तुम्हारे झिलमिलाते तेज को हमारी आखे तृप्त होकर पी रही है ।

ओ गुणमूर्ति तेजस्वी मुनिराज ! तुम्हारे गुण हमारे मे सक्रमित हो ..तुम्हारा तेज हमारे अज्ञान अधकार का नाश करने वाला हो ।

श्रेष्ठ आराधना प्रशम की !

श्लोक : सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी विरतितपोवलयुतोऽप्यनुपशान्तः ।
तं न लभते गुणं यत् प्रशमसुखमुपाश्रितो लभते ॥२४३॥

अर्थ · सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी और व्रत-तपोवलयुक्त होने पर भी जो साधक उपशान्त नही होता है वह, वैसे गुणो को प्राप्त नही कर सकता कि जिन गुणो को प्रशमसुख मे डूवा हुआ साधक प्राप्त करता है ।

विवेचन श्री मुनिराज !

तुम अशान्त–उद्विग्न क्यों हो ? तुम्हारी मुखकांति म्लान क्या है ? तुम्हारी आत्मा के आगन मे तो सम्यग्दर्शन का रत्नदीप जल रहा है । तुम्हारे आत्ममंदिर मे तो शास्त्रज्ञान के शत–सहस्त्र दियों का प्रकाश आलोकित हो रहा है । पाच महाव्रतो के वीर सुभट चौकन्ने होकर तुम्हारी सुरक्षा कर रहे हैं और तपश्चर्या की तीक्ष्ण तलवार तुम्हारे हाथ मे है फिर तुम अशान्त क्यो ? उद्विग्न क्यो ?

मुनिराज ने सामने देखा । उनकी आखो मे शिकायत थी वेदना थी उन्होने कहा

'पूज्यवर, पचास पचास बरस गुजर गये इस विरतिधर्म का पालन करते हुए जिनशासन के द्वारा निर्दिष्ट मोक्षमार्ग पर श्रद्धा थी और आज तो वह काफी गहरी एवं सुदृढ बन चुकी है साधु हुआ तब से गुरुचरणो मे बैठकर विनयपूर्वक शास्त्रो का अध्ययन करता रहा हू मेरे परिचित लोग मुझे विद्वान कहते हैं । कई शास्त्र मुझे कठस्थ भी हैं नियमित एकासन वगैरह तप करता हू फिर भी, शरीर पर का राग कम नही होता शत्रु पर का द्वेष फीका नही पडता रोग कभी परेशान कर डालते हैं तो कभी मौत का भय सिहरन पैदा कर देता है राजा कुमारपाल के शब्दो मे कहू तो

'मम त्वदाज्ञां वहतोऽपि मूर्ध्ना
शांति न यात्येष कुतोऽपि हेतो ?

'ओ प्रभु तेरी आज्ञा को सर पर उठा कर भी न जाने क्यो परम शांति नही मिलती !'

परम वात्सल्य के सरोवर समान भगवान उमास्वाती ने मुनिराज के सर पर हाथ रखा और गभीर स्वर मे कहा 'मुनिराज, उपशांत होईये, कषायों का उपशांत करने का पुरुषार्थ करो । तुम जिन आत्मगुणो को प्रकट करना चाहते हो वे तब प्रगट होंगे । शास्त्रज्ञान के सहारे आत्मज्ञान प्राप्त करने का लक्ष्य बनाओ ! पर–पर्याय से सर्वथा निवृत्त हो जाओ । परपदार्थों की अपेक्षा को उगने ही मत दो आत्मभाव को स्थिर शांत –प्रशांत बनाओ प्रशमरस के झरने को आत्मप्रदेश मे फूटने दो बहने दो तुम्हारी श्रद्धा को, ज्ञान को विरति को, तप–त्याग को –इस पुरुषार्थ की दिशा मे केन्द्रित करो ।'

आत्मभाव मे स्थिर होने का !

चित्तवृत्तियो को शात बनाने की ।

तप–जप, व्रत–नियम, ज्ञान–ध्यान, यह सब प्रशमभाव के वगैर निरर्थक से हो जाते है । आत्मसतुष्टि नही मिलती है...भीतरी सतोष की अनुभूति उजागर नही होती ! आत्मगुणो का आविर्भाव नही होता । साधना–आराधना का लक्ष्य 'प्रशमभाव' की प्राप्ति को वना लो ।

परम आत्मविशुद्धि का असाधारण कारण है प्रशमभाव । प्रशमभाव से ही आत्मशुद्धि शक्य है, यह वात कभी भी भूलना मत ।

१८ हजार शीलांग

श्लोक : सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी विरतितपोध्यानभावनायोगैः ।
शीलाङ्गसहस्राष्टादशकमयत्नेन साधयति ॥२४४॥
धर्माद् भूम्यादीन्द्रियसंज्ञाभ्यः करणतश्च योगाश्च ।
शीलाङ्गसहस्त्राणामष्टादशकस्य निष्पत्तिः ॥२४५॥

अर्थ : सम्यग्दृष्टि वैसा ज्ञानी व्रत-तप ध्यान–भावना और योग मे शील के १८ हजार अगो को विना प्रयास साध लेता है ।
[1]धर्म से, [2]पृथ्वीकाय वगैरह से, [3]इन्द्रियो से, [4]सज्ञा से, [5]करण और [6]योग से शील के १८ हजार अगो की उत्पति होती है।

विवेचन . शील यानी सयम !

शील यानी श्रामण्य के मूल–उत्तर गुण । उन मूल–उत्तर गुणो के १८ हजार प्रकार है । उन्हे १८ हजार 'शीलाग' कहा जाता है । मुनि को अपने जीवन मे उन १८ हजार शीलांग का पालन करने का होता है । एक विशाल समुद्र वाहुवल से तैरना होता है ।

---

१ क्षमा, आर्जव, मार्दव, शौच, सत्य, सयम, त्याग, तप, ब्रह्मचर्य, आकिंचन्य ।
२ पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, वेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चऊरिन्द्रिय, पचेंद्रिय, अजीवकाय ।
३ श्रवणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय ।
४ आहारसज्ञा, भयसज्ञा, मैथुनसज्ञा, परिग्रहसज्ञा ।
५ करण, करावण, अनुमोदन ।
६ मन, वचन, काया ।

उन १८ हजार शीलांग का स्वरूप जानें।

१	१० यति धर्म	१०	यतिधर्म, काय, इन्द्रिय, संज्ञा,
	१० काय	×१०	करण एवं योग के संयोजन से
		१००	१८ हजार शीलांग होते हैं।
२	५ इन्द्रिया	×५	
		५००	
३	४ संज्ञा	×४	उदाहरण के तौर पर १ शीलांग
		२०००	के क्षमावान आत्मा श्रवणे
४	३ करण	×३	न्द्रिय का निग्रह करके, आहार-
		६०००	संज्ञा से मुक्त होकर, पृथ्वीकाय
५	३ योग	×३	का आरम्भ (हिंसा) मन से ना
		१८०००	करें।

इस तरह अट्ठारह हजार प्रकार होते हैं संयमधर्म के।

इन अट्ठारह हजार प्रकार से युक्त संयम का पालन करना है यह करने के लिये साधु के पास—

१ सम्यग्दर्शन चाहिए।
२ सम्यग्ज्ञान चाहिए।
३ सर्वविरति चाहिए।
४ तपश्चर्या चाहिए।
५ ध्यान चाहिए।
६ भावना चाहिए।
७ योग [प्रशस्त] चाहिए।

१ मुनिराज, तुम्हें यदि १८ हजार शीलांग का बड़ा भारी समुद्र तरना है तो तुम्हारा श्रद्धाबल अद्वितीय चाहिएगा। परमात्मतत्त्व की, गुरुतत्त्व की और धर्मतत्त्व की स्पष्ट समझ के साथ उनकी शक्ति, उनका सामर्थ्य एवं उनके प्रभावों का भी स्पष्ट बोध चाहिएगा। सर्वज्ञभाषित नौ तत्त्वों की पूरी समझ से युक्त जिनशासन पर प्रगाढ़ राग चाहिएगा। श्रद्धा में से निर्भयता, शूरवीरता और अडिगता पैदा करनी होगी।

२ तुम्हारे पास शास्त्रज्ञान चाहिएगा। सूत्र का ज्ञान एवं अर्थ का ज्ञान चाहिएगा। शास्त्रों के हार्द तक तुम्हें पहुँचना होगा। इसके लिये सतत उन शास्त्रों के चिंतन-मनन में जुटे रहना होगा। शास्त्रों से, गुरुपरंपरा से और आत्मानुभव से तुम्हें तत्त्वनिर्णय करना होगा।

३ तुम्हे जीवनपर्यन्त सर्वविरति-सामायिक मे रहना है। मन-वचन-काया से किसी भी तरह की पापप्रवृत्ति तुम्हे करनी नही है, करवानी नही है .नही उसकी अनुमोदना भी करनी है। तुम्हे इस तरह प्रतिपल-हरक्षण जाग्रत रहना होगा। किसी भी तरह का पाप तुम्हारे मन-वचन-काया को मलिन न कर जाय, इसके लिये सतत जागृत रहना होगा। समतारस मे डूब जाने का है तुम्हे।

४ तुम्हे वाह्य तप एव आभ्यतर तप मे आगे वढना है। सुखशीलता कही तुम्हे प्रमादी न वना दे...इसके लिये सतर्कता वरतनी होगी। अनशन-ऊनोदरी, वृत्तिसक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश और सलीनता की आराधना उचित समय एव उचित स्थान पर करने की है...विनय, प्रायश्चित वगैरह आभ्यतर तप की आराधना भी अप्रमत्त वनकर करनी है।

५ ध्यानोपासना तो तुम्हारे सासो के साथ वुन जानी चाहिए। धर्मध्यान मे तुम्हे अपने मन को लगातार जोडे रखना है। जिनाज्ञा का चितन, पापाचरणो के कटुपरिणामो का विचार, शुभाशुभ कर्म के विपाक का चितन और समग्र राजलोक मे रही हुई जीवसृष्टि का अलग अलग दृष्टिकोण से चितन करना होगा। तुम्हारे इर्दगिर्द वनती रोज-व-रोज की घटनाओ का मूल्याकन इस चितनदृष्टि के जरिये करना है, दुनिया की दृष्टि से नही। इस तरह यदि तुम धर्मध्यान का अभ्यास करते रहोगे तो एक धन्य दिन ऐसा भी उगेगा कि तुम शुक्लध्यान करने के लिये शक्तिशाली वन पाओगे।

६ वारह भावनाओ का सुदीर्घ अध्ययन करके तुम्हे अपने विचारो को भावनामय वना देना है। अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, ससार, आस्रव, सवर, निर्जरा, लोकस्वरूप, धर्मस्वाख्यात और वोधिदुर्लभ, इन वारह भावनाओ से प्रतिदिन प्रतिपल भावित होना है। साथ ही साथ मैत्री-प्रमोद-करुणा और माध्यस्थ, इन चार भावनाओ को भी हृदयस्थ करनी है। इन भावनाओ के मनन से ही तुम प्रशमरस की अनुभूति कर पाओगे। इन भावनाओ के अभ्यास के वगैर तो ज्ञानी-तपस्वी भी शान्ति का अनुभव नही कर सकते। **'न भावनया विना विदुषामपि शान्तसुधारसः'**

७ मन-वचन-काया के योगो को, प्रवृत्तियो को प्रशस्त-पवित्र रखने

के लिये जागरुक रहना। इन तीन योगो के सहारे ही तुम्हे भवसागर को तैरना है, यह बात भूलना मत।

इन सात प्रकार की आराधना से तुम्हारा सयमजीवन रग जाय, फिर तुम्हें १८ हजार शीलाग के पालन के लिये अलग पुरुषार्थ या प्रयत्न करना ही नहीं पडेगा। वह तो सहज भाव मे हो जायेगा। तुम शीलार्णव को पार कर जाओगे। विशुद्ध आत्मस्वरूप को अवश्य पा लोगे। मुनिराज, तत्पर बने रहो सात प्रकार की इस आराधना मे! धीर-वीर एव पराक्रमी बन कर कूद जाओ आराधना के महोदधि मे!

ससारभीरुता – बुनियादी गुण

श्लोक शीलार्णवस्य पार गत्वा सविग्नसुगमपारस्य।
धर्मध्यानमुपगतो वैराग्य प्राप्नुयाद्योग्यम् ॥२४६॥

अर्थ ससारभीरु मुनि के द्वारा सरलता से पार किया जा सके ऐसे शील रूप समुद्र का पार कर के जो मुनि धर्मध्यान मे लीन बनता है, उसे योग्य वैराग्य की प्राप्ति होती है।

विवेचन १८ हजार शीलाग का महोदधि तैरना कोई हसी-मजाक का खेल नहीं है वह तो ससारभीरु मुनि ही तर सकता है। चतुर्गतिमय ससार के परिभ्रमण से मुनि भयभीत रहता है, शास्त्रदृष्टि से उसने ससार का स्वरूप जाना होता है दुःख त्रास, व्यथा और वेदना से कुलबुलाता हुआ ससार, उस महात्मा को तनिक भी आकर्षित नहीं कर पाता। इसलिए वह मन-वचन और काया से ऐसी एक भी प्रवृत्ति नहीं करते है कि जिससे परिणामस्वरूप उन्हे ससार मे जन्म-मरण करने पडे!

वह महात्मा क्षमादि दस प्रकार के मुनिधर्म का पालन सरलता से ही प्रखर पुरुषार्थशील बन पायेगा अगर वह ससारभीरु होगा। पृथ्वीकाय के आरम्भ [हिंसा] से वह तो ही विरक्त रह सकेगा, यदि वह ससार के परिभ्रमण से ऊबा हुआ हो! पाँच इन्द्रियो का निग्रह वह तब ही कर पायेगा जब कि उसका ससार आकर्षण मर गया हो! चार कषायो का निग्रह वह तो ही कर पायेगा.. यदि वह ससार का दु खमय जान कर उससे सशक हो गया हो!

उसकी समझ स्पष्ट होती है कि पृथ्वीकाय वगैरह के आरंभ-समारभ करने से जीव को ससार मे भटकना पडता है ! वह जानता होता है कि पाँच इन्द्रियो के विषयोपभोग मे ससार के दु ख-दावानल मे जलना पडता है, उसने आत्मसाक्षी से निर्णय किया होता है कि चार सज्ञाओ की परवशता जीवात्मा को ससार के पातालकूप मे पटक देता है ।

अत वह महात्मा सरलता से १८ हजार शीलाग का पालन कर सकता है...उसका पालन करते करते वह धर्मध्यान मे लीन बन जाता है । ज्यो ज्यो धर्मध्यान की लीनता बढती है त्यो त्यो वैराग्यभाव भी वृद्धिगत बनता है । उत्कृष्टता को प्राप्त करता है..वह श्रेष्ठ प्रशम-भाव मे बहने लगता है । प्रशमभाव मे उत्कट रति–प्रीति का अनुभव करता है । ससारभीरुता, मुनिजीवन का बुनियादी गुण है । ससार के वैषयिक सुखो की निर्गुणता जानकर वह आत्मा श्रमणजीवन अंगीकार करता है...ससार के सुखो मे दु ख का दर्शन करनेवाला महात्मा, संसार-सुखो की चकाचौंध मे चकित कैसे बनेगा ?

ओ मुनिराज !

संसार के वैषयिक सुखो मे दु खदर्शन करना कभी भी भूलना मत । तुम्हारा यह दिव्य दर्शन ही तुम्हे शीलांग-सागर को तैरने की शक्ति दे पायेगा, सामर्थ्य दे पायेगा । सबूर...जिस दिन तुम्हारी यह दिव्यदृष्टि खो गयी .तुम उस दिन वैषयिक सुखो की भ्रमणा मे भटक जाओगे ! तुम्हारा वैराग्यभाव हवा बनकर उड़ जायेगा .और तुम धीरे धीरे दु ख दावानल की तरफ गिरने लगोगे । तुम्हारा संसारत्याग, तुम्हारे व्रत-तप सब कुछ स्वाहा हो जायेगा. ।

'ससार भीरुता' के गुण को अखंड रखो । धर्मध्यान मे लीन बनो ।

धर्मध्यान का स्वरूप !

श्लोक : आज्ञाविचयमपायविचयं च सद्ध्यानयोगमुपसृत्य ।
तस्माद्विपाकविचयमुपयाति संस्थानविचयं च ।।२४७।।
आप्तवचनं प्रवचनं चाज्ञा, विचयस्तदर्थनिर्णयनम् ।
आस्रव-विकथा-गौरव-परीषहाद्येष्वपायस्तु ।।२४८।।
अशुभ-शुभकर्मपाकानुचिन्तनार्थो विपाकविचयःस्यात् ।
द्रव्य क्षेत्राकृत्यनुगमनं संस्थानविचयस्तु ।।२४९।।

अर्थ [संसार-समुद्र का पारगामी साधु] आज्ञाविचय और अपायविचय नाम के ध्यानयोग को प्राप्त करके विपाकविचय तथा संस्थान विचय को प्राप्त करता है।

आप्त का वचन या प्रवचन [आज्ञा] उसका चिन्तन करना आज्ञाविचय और आस्रव, विकथा, [illegible] से उत्पन्न अपायों का चिन्तन करना, यह है अपायविचय।

अशुभ और शुभ कर्मों के विपाक का चिन्तन करना वह विपाकविचय कहा है और द्रव्य तथा लोक के आकार का चिन्तन करना वह संस्थानविचय कहा जाता है।

विवेचन महान् श्रुतधर आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने धर्मध्यान की स्तुति करते हुए कहा है

'अनेक जन्मों में उपार्जित किये हुए प्रबल अशुभ कर्मों के [illegible] के लिए [illegible]।

- तप के सभी प्रकारों में धर्मध्यान श्रेष्ठ तप है।
- धर्मध्यान आन्तर तप स्वरूप है।

ऐसा उत्तम ध्यानयोग जिस महात्मा को प्राप्त हुआ हो, उसमें चार लक्षण धर्म-ध्यान के मन में प्रगट होते हैं।

१ आज्ञारुचि श्री जिनेश्वर देव के वचन की अनुपमता, कल्याणकारिता, [illegible] देखकर उन पर श्रद्धा होती है।

२ निसर्गरुचि [illegible] होता है।

३ उपदेशरुचि जिनवचन के उपदेश का श्रवण करने का भाव [illegible] जीवों को [illegible] होता है।

४ सूत्ररुचि द्वादशांगी के अध्ययन-अध्यापन की [illegible] होती है।

धर्मध्यान के चार आलम्बन भी शास्त्रीय ग्रन्थों में बताये गये हैं

---

१ [illegible] । [illegible] ।
[illegible] । —[illegible]

२ [illegible] ।
—औपपातिक सूत्र

३ [illegible] ।
—[illegible]

जिनके लिये वन और नगर [जनपद] समान है...स्वजनवर्ग और शत्रुवर्ग जिनकी आत्मा से अलग है [अर्थात् मित्र-शत्रु पर तुल्यवृत्ति है] कोई वास से शरीर को चीर डाले या कोई चदन से देह को विलेपन करे ..दोनो के प्रति जिसे समान भाव है वैसे साधु को,

आत्मा से ही रममाण, तृण एव मणि को एकरूपता समझने वाला, मिट्टी की भाति सोने का भी त्यागी, स्वाध्याय ध्यान मे तत्पर, प्रमाद से बिल्कुल निर्लेप वैसे साधु को,

अध्यवसायविशुद्धि के कारण प्रमत्तयोगी की अपेक्षया विशुद्ध योगवाले, श्रेष्ठ चारित्रशुद्धि एव लेश्याशुद्धि को प्राप्त करनेवाले साधु को,

वैसे कल्याणमूर्ति साधु को घाती कर्मो के क्षय से या एकदेश [आशिक] के क्षय से उत्पन्न होनेवाली अनेक प्रकार की ऋद्धियो के वैभव से युक्त अपूर्वकरण [नामक गुणस्थानक] प्राप्त होता है।

विवेचन : धर्मध्यान मे लीन आत्मा स्वगुणो की कितनी उमदा प्राप्ति करता है उसका वर्णन इन छह श्लोकों के माध्यम से किया गया है। पहले, धर्मध्यान करने के लिये उद्यत महात्मा किस तरह धर्मध्यान करता है, उसका वर्णन किया गया है।

1. जिनाज्ञा का चिंतन 'वीतराग—सर्वज्ञ परमात्मा ने कितना यथा-स्थित तत्त्वदर्शन करवाया है! कितना सर्वांगसुदर मोक्षमार्ग बतलाया है! परस्पर अविरोधी—अविसंवादी कितनी अद्भूत धर्मपद्धति दर्शायी है! स्याद्वाद—अनेकातवाद की कैसी दिव्यदृष्टि प्रदान की है। 'जो कोई मुमुक्षु जिनवचन के अनुसार जीवन जीता है...वह आत्मगुणो की अपार सपत्ति प्राप्त कर लेता है। आत्मा का नित्य, स्वाधीन सुख उसे प्राप्त हो जाता है।' इस तरह जिनाज्ञा का सम्यक् आलोचना करता रहे और आतर आनद की अनुभूति करता रहे! सूत्रार्थविषयक अभ्यास करता रहे!

2 अपायो का चिंतन . हिसा करने से, झूठ बोलने से, चोरी करने से, अब्रह्मसेवन करने से, परिग्रही बनने से, जीवात्मा दुर्गति मे जाता है और असंख्य दु ख का शिकार होता है..इसलिए मै हिसा वगैरह आश्रवो का सेवन नही करुगा। स्त्रीकथा, भोजनकथा, देशकथा,

ग्रार गजकथा करने से आत्मा पापकर्मों से वधती है इसलिए ऐसी विकथाए नही करूगा । रसगृद्धि मे, ऋद्धि मे और सुख-शीलता मे जीवात्मा यदि आसक्त होता है तो वह दुख के दरिये मे डूब जाता है अत मैं ग्रारज म नही डूबुगा यदि मैं क्षुधा वगरह परिषहो को समताभाव म सहन नहीं करूगा तो नरक गति एव तियँच गति के घोर दुख मुझे सहने पडेंगे ! अत मैं समताभाव से परीषहो को सहन करुगा ।

इस तरह अनर्थों का चिंतन कर के अनर्थों से बचने के लिये जागरूक रहे ।

3 कर्मविपाको का चिंतन ४२ प्रकार के पुण्यकर्मों के फल का विचार करें । ८२ प्रकार की पाप प्रकृतिया क उदय के बारे मे सोचे यानी कि 'शातावेदनीय कर्म [पुण्यकम] के उदय से जीव को निरोगी शरीर मिलता हैं अशाता वेदनीय [पापकम] के उदय से शरीर मे रोग–व्याधि पदा होती है यशकीर्ति [पुण्यकम] कम के उदय से लोगा म जीव की प्रशसा होती है अपयश नामकम (पापकम) के उदय से लोगो में जीव की निन्दा होती है उच्चगोत्र [पुण्यकम] कम के उदय स जीव सम्भ्रात व खानदान परिवार मे पैदा होता है जबकि नीचगोत्र [पापकम] कम के उदय से जीव नीचगोत्र म–कुल में जन्म लेता है !

4 संस्थान का चिंतन धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोक-व्यापी है । आकाशास्तिकाय लोकालोकव्यापी है चौदह राजलोक मे उर्ध्वलोक–अधोलोक–मध्यलोक ये तीन क्षेत्र है । पुद्गलद्रव्य क अनेक आकार है अचेतन महास्कध सपूर्ण लोक के आकार मे है ..केवलि-समुद्घात के समय जीव भी लोक का आकार धारण करता है । चौदह राजलोक की पुरुषाकृति का चिंतन किया करे ।

इन चार प्रकार के चिंतन के परिणामस्वरूप,

5 यह महात्मा ससार से अतीत को मध्यार म स्थित अनर्थों की प्रचुरता ...उनको दिल का कपा दे ...शुभाशुभ कर्मों के उदय म स प्रादुर्भूत अगम्य विडम्बनाए उनके मन को भू भना दे...चौदह राजलोकमय विराट सृष्टि में हो रहा जीवो का अविरत परिभ्रमण देश-कालान्तर

उसकी देह पसीने से नहा उठे....ससार उसे डरावने दैत्य से भी कही ज्यादा भयकर दिखे ! वह हमेशा उद्विग्न रहे..भयभीत रहे...जागृत रहे.. 'कही मेरे से कोई पाप न हो जाये ! नाहक कही मैं प्रमाद का शिकार न हो जाऊ ! कही कोई पापपिशाच मुझे पकड ना ले !'

6 **भवोद्वेग से महात्मा क्षमाशील बना रहे :** सासारिक सुखो के प्रति जो विरक्त हो जाता है... उसे क्षमागुण सहजरूप मे सिद्ध हो जाता है । अपने शरीर के प्रति भी ममत्वरहित बने हुए महात्मा को दुनिया मे कोई भी शत्रु नजर आयेगा ही नही ! शरीर पर आक्रमण करने वाले को भी वह मित्र ही मानेगा ! जिस साधक आत्मा ने स्वजन, परिजन, सपत्ति और स्वय के शरीर को भी पराया माना .इन सबके प्रति जिसका आकर्षण नष्ट हो गया ..उस आत्मा को कोई भी जीवात्मा कभी अपना अपराधी या गुनहगार नजर नही आयेगा ! वह तो सहजता से क्षमाशील बन जायेगा !

7. **निरभिमानी बना रहे :** क्षमाशील आत्मा मे अभिमान होगा ही नही ना ? क्षमा व नम्रता तो सहचरी है ! जहा क्षमा हो वहा नम्रता होगी ही ! जहा नम्रता होगी वहा क्षमा रहेगी ही ! जिस के मन में देहाभिमान भी नही रहा उन्हे भला फिर कुलाभिमान, रूपाभिमान या बलाभिमान होगा कैसे ? वह निराभिमानी होगा । मदरहित होगा । उसके देह पर नम्रता की खिली-खिली चांदनी उभर रही होगी .उसकी वाणी मे नम्रता-मृदुता के फूल झरते होगे ! उसके विचार भी नम्रता की खुश्बू से तरबतर होगे !

8 **सरल बन जाये :** क्रोध और मान पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् वह महात्मा माया पर भी विजय प्राप्त करेगा । कभी किसी जीव के साथ छलावा करने का विचार उसके मन मे उगेगा ही नही । किसलिए माया करनी ? क्यो माया करनी ? भव-संसार के सभी सुखो के प्रति वैराग्य पैदा हो जाने के पश्चात्. .अपने व्यक्तित्व के प्रति भी निर्मोही बनने के पश्चात् माया किसलिए करनी ? ससार से विरक्त आत्मा को कुछ भी छुपाने का नही होता है ! फिर वह क्योकर कपट का सहारा लेगा ? उसके मन के एकाध कोने मे भी छलना-माया के विचार प्रविष्ट नही हो सकते !

9 निर्लोभी बने संसार के सुखों से विरक्त आत्मा की सारी तृष्णाएं शांत हो जाती हैं। न कोई लोभ न कोई तृष्णा आत्मगुणों को प्रकट करने का आतरपुरुषार्थ करते हुए महात्मा को संसार के भौतिक ऐन्द्रिय सुखों की चाहना हो ही कैसे सकती है? चक्रवर्ती और देव देवेन्द्र के साम्राज्य भी उसके लिये तिनके के बराबर हैं। शारीरिक सुखों के प्रति भी उनमें उदासीन भाव ही होता है। आशा तृष्णा के नागपाश से मुक्त योगी समताभाव के प्रशांत समुद्र में तैरता रहता है।

10 ऐसे तृष्णाविजेता योगी जंगल में या नगर में रहें उसको कुछ फर्क नहीं पड़ता। वह महात्मा क्षेत्रातीत बनकर घूमता है। उसे न तो जंगल का अकेलापन अकुलाता है नही नगर या शहर की रौनक-चहलपहल उन्हें आकर्षित कर पाती है। उसे नहीं खींचता है जंगलों का सौंदर्य नहीं उचाहट देता है नगर का शोर शराबा।

ऐसे निर्मोही महात्मा के पास कोई मित्र बनकर आये या कोई शत्रु बनकर आये महात्मा को दोनों के प्रति समभाव होता है। दोस्त के प्रति लगाव नहीं दुश्मन से तनिक भी दुराव नहीं।

एस योगीपुरुष के शरीर पर कोई शीतल चंदन का विलेपन करे कि छुरी से जख्म करें योगीपुरुष दोनों को समानरूप से देखते हैं। चंदन का लेप करनेवाला उनके लिये अपना नहीं कि छुरी से प्रहार करनेवाला उनके वास्ते गैर नहीं।

ऐसे महात्मा के समक्ष कीमती रत्नों और मूल्यवान मणियों का ढेर हो कि तुच्छ घास का ढेर हो महात्मा के लिये दोनों के बीच कुछ फर्क नहीं। रत्न या मणि उन्हें लुभा नहीं सकते कि घास के ढेर उन्हें अकुला नहीं सकते।

ऐसे अवधूत के सामने सोने की पाट पड़ी हो या मिट्टी के ढेले बिखरे हों अवधूत को क्या लेना देना किसी से? सोना देखकर उनकी आंखों में चमक नहीं आने की कि मिट्टी देखकर उनकी आत्मा में वितृष्णा नहीं जगने की।

कोई भी द्रव्य राग द्वेष नहीं जगा सकता, कोई भी क्षेत्र खुशिया-नाराजी पैदा नहीं कर सकता। कोई भी काल (समय) रति या अरति नहीं उगा सकते। कोई भी भाव आनंद या शोक पैदा नहीं कर सकते।

ऐसी विशिष्ट आत्मस्थिति को प्राप्त करने वाले मुनि धर्मध्यान की भूमिका से तीव्र गति से शुक्लध्यान की ओर आगे बढते रहते हैं।

11. ऐसे मुनि हमेशा आत्म-रमणता मे लीन रहते हुए परमसुख की अनुभूति करते रहते हैं...आत्मगुणो को ही रमणता! परमब्रह्म की ही मस्ती! बाहरी दुनिया के साथ कोई प्रीति या लगाव नही! अपने सयमयोगो मे ही आनन्द प्राप्त करते है वे।

12. मन-वचन-काया को स्वाध्याय-शास्त्राध्ययन मे जुडे हुए रखते है वे महामुनि। धर्मग्रन्थो का अध्ययन-अध्यापन-परावर्तन, चिंतन और मनन, इनमे वे डूबे रहते है। दिन-रात के आठ प्रहर मे से वे पाच प्रहर शास्त्राभ्यास-स्वाध्याय मे बिताते है।

13. कभी वे पद्मासन लगाकर, आखो को नासाग्रन्यस्त कर के श्री नवकार मत्र का ध्यान करते है...कभी कायोत्सर्गध्यान मे लीन बन जाते हैं .चौवीस तीर्थंकरो के ध्यान मे गहरे उतरते है। कभी हृदय-कमल मे अरिहत वगैरह नौ पदो का ध्यान रचाते हैं।

14. इस तरह ज्ञानोपासना मे, ध्यानाराधना मे और सयमयोगो के पालन मे महामुनि पलभर भी प्रमाद नही करते है...वे सदैव अप्रमत्त रहते है। जीवन का एकाध क्षण भी प्रमाद का शिकार न बने इसकी वे सतर्कता बरतते है। सदा जाग्रत रहते है। मन के विचारों को भी प्रमाद का स्पर्श नही होने देते।

15. इन सबसे उन महात्माओ के अध्यवसाय ज्यो ज्यो विशुद्ध-विशुद्धतर होते जाते है..त्यो-त्यो लेश्याए विशुद्ध बनती चलती है। तेजोलेश्या, पद्मलेश्या या शुक्ललेश्या, तीन मे से कोई भी एक लेश्या उनमे रहती है। कृष्णलेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्या तो उन्हे छू भी नही सकती।

17 ऐसे महात्मा का चारित्र परम विशुद्ध बनता है! प्रशमरस मे निमग्न रहने वाले ऐसे महात्मा आत्मभाव की स्थिरतारूप श्रेष्ठ चारित्र को प्राप्त करते है।

18 इससे वे कल्याणमूर्ति बनते है ..भद्रमूर्ति बनते है। काया मे स्थैर्य, वाणी मे माधुर्य, आंखो मे करुणा. .और भावो मे परम विशुद्धि। ऐसे भद्रमूर्ति महात्मा के दर्शन करने मात्र से दुरित दूर हो तेजा हैं।

आत्मा को शांति, प्रसन्नता एवं स्वस्थता प्राप्त होती है। काषायिक भाव उपशांत होते हैं।

19 घातीकर्म—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय यदि सर्वथा क्षय हो जाये तो वे महात्मा वीतराग सर्वज्ञ बन जाते हैं। सर्वथा क्षय न हो, आंशिक क्षय हो तो भी उनमें आत्मगुणों का विपुल प्रकटीकरण हो जाता है।

20 घातीकर्मों के क्षयोपशम से उन महात्मा को अनेक प्रकार की लब्धियाँ (विशिष्ट शक्तियाँ) प्राप्त होती हैं। स्वयंभू लब्धियाँ भी पैदा हो जाती हैं। वे आकाशमार्ग से उड़ सकते हैं। वे मनचाहा रूप धारण कर सकते हैं। ऐसी अनेक लब्धियाँ प्राप्त होती हैं उन्हें।

21 और वे 'अपूर्वकरण' नामक आठवें गुणस्थानक पर पहुँच जाते हैं। 'अपूर्वकरण' की भीतरी आध्यात्मिक प्रक्रिया में वे घातीकर्मों का क्षय विपुल मात्रा में करते रहते हैं।

छट्ठे गुणस्थान 'प्रमत्तसंयत' से आठवें अपूर्वकरण गुणस्थानक तक पहुँचने का यह आध्यात्मिक मार्ग है। आंतरिक भावना का क्रम है भीतरी सुख की अनुभूति की प्रक्रियाएँ हैं।

आठवें गुणस्थानक से ऊपर के गुणस्थान पर चढ़ते हुए महात्मा की आत्मदशा कैसी होती है, ग्रंथकार महर्षि अब उसका वर्णन कर रहे हैं।

निःसंगता अणगार की !

श्लोक सातर्द्धिरसेष्वगुरुः सम्प्राप्य विभूतिमसुलभामन्यैः ।
सक्तः प्रशमरतिसुखे न भजति तस्यां मुनिः संगम् ॥२५६॥

अर्थ साता, ऋद्धि और रस में प्रेम नहीं रखने वाले एवं प्रशमरति के सुख में आसक्त मुनि दूसरों से अप्राप्य ऐसी विभूति [लब्धि] प्राप्त कर के भी उसमें ममत्व नहीं रखते !

विवेचन मनचाहे भोजन में आसक्त व्यक्ति का मन जैसे भोजन में ही रहा रहता है, प्रिय व्यक्ति के प्रेम में आसक्त मनुष्य का मन जिस प्रकार प्रियजन में ही रममाण रहता है...प्रिय क्रीड़ा में आसक्त व्यक्ति का मन क्रीड़ा में ही घूमता है, वैसे ही...प्रशमरति के सुख में आसक्त

मुनि का मन भी प्रशमरस मे ही निमग्न बना रहता है। आत्मानंद की अनुभूति मे आकंठ डूबा रहता है।

ऐसे महामुनि के जीवन में सुखशीलता नहीं होती....आरामप्रियता नहीं होती. वे तो बरसों के बरस अप्रमत्तभाव से आत्मध्यान में बीताते है। शारीरिक सुख-सुविधा का विचार तक उनके दिमाग मे नही आता। उन्हें वैभवशाली जीवन का भी मोह नही रहता है...जनसंपर्क से सदा दूर रहने वाले उन मुनि के लिये, दुनिया को अपनी तरफ आकर्षित करने की लालसा क्या महत्व रखती है ? दुनिया की निगाहों में ऊपर उठना भी उनके लिये कोई महत्व नही रखता। दुन्यवी मान-सन्मान का मूल्य उनके लिये बूंद के बराबर होता है..उनके दिल मे न तो होती है दुनिया को खुश करने की तनिक भी इच्छा या नही होती है उनके मन मे दुनिया की प्रशंसा सुनने की जरा सी भी कामना! बलवत्ता, सकल जीवसृष्टि के प्रति उनके हृदयगिरि मे विशुद्ध मैत्रीभाव का झरना अवश्य बहता रहता है। करुणा से उनका हृदय कोमल जरुर होता है ..परन्तु भीतर मे और बाहर से वे निर्बंधन होते हैं। रसनेंद्रिय की सूक्ष्म भी उत्तेजना उनके मन मे नही होती है। रसवृत्ति पर उन्होंने विजय पा लिया होता है। किसी भी ऐन्द्रिक विषय की रुचि उन्हें सता नही सकती।

ऐसे महासाधक आत्मा मे स्वयंभू विशिष्ट शक्तिओं का ज्वार फूटने लगता है। वे यदि चाहे तो आकाश मे उड़ सकते हैं, वे यदि चाहे तो स्वयं के अनेक रूप कर सकते हैं...वे यदि चाहे तो आकाश मे से हीरे-मोती बरसा सकते हैं....वे सोचे तो आकाश मे फूल उगा सकते है. .वे जो चाहे वह चमत्कार कर सकते हैं...परन्तु वीतरागता के प्रति तीव्र गति से आगे बढ़ने वाले मुनि..महामुनि ऐसी कोई भी न तो इच्छा रखते हैं....नही ऐसा कुछ करते है। खुद के पास दिव्य शक्तियां होने पर भी वे कभी उसका प्रयोग या उपयोग नही करते हैं। चूंकि उन शक्ति के प्रयोग-उपयोग करने के लिये साधक को बहिर्भाव मे जाना पडता है...प्रशमरस के मानसरोवर में से बाहर निकलकर किनारे पर आना पड़ता है...किसी भी साधक को वह कैसे कबूल होगा ? वह इसे कतई पसन्द नही करेगा। उसे तो प्रशमरस में ही आसक्ति होती है।

यह बात भूलना मत कि यह आत्मस्थिति धर्मध्यान की श्रेष्ठ भूमिका पर आती है। शुक्लध्यान के निकट एकदम निकट पहुँचे हुए महात्मा की होती है। बाहरी जगत के साथ के तमाम रिश्ते–नाते छूट गये हों और भीतरी जगत में जिनका प्रवेश हो चुका हो, आंतर सृष्टि में जिन्हें मजा आ गया हो ..वैसे महात्माओं की भीतरी सृष्टि का यह बयानमात्र है। उस आंतरसृष्टि भीतरीसृष्टि का वैभव जो कि विस्मयजनक होता है अब ग्रंथकार उसका वर्णन करने जा रहे हैं।

अणगार की विभूति

श्लोक या सर्वसुरवरर्द्धिर्विस्मयनीयापि सानगारर्द्धेः ।
नार्घति सहस्रभागं कोटिशतसहस्रगुणितापि ॥२५७॥

अर्थ आश्चर्यकारी सभी देवेन्द्रों की ऋद्धि [विभूति] को भी यदि एक लाख करोड़ से गुणाकार की जाय तो भी वह अणगार की ऋद्धि के एक हजारवें हिस्से में भी नहीं आती।

विवेचन तुमने देवलोक के देवों के वैभव का वर्णन सुना है? क्या है? देवेन्द्रों की ऋद्धि समृद्धि के चमत्कारी वर्णन सुने हैं सही? अनुत्तर देवलोक के देवों के विस्मयजनक वर्णन सुनकर कभी आश्चर्यचकित बने हो? हाँ ..आश्चर्य की परंपरा खड़ी कर दे ऐसे वे वर्णन हैं। उनके निवासस्थान के वर्णन, उनके शरीर का वर्णन, उनकी जीवनचर्या का वर्णन... उनके आयुष्य का वर्णन ...उनकी शक्ति का वर्णन, उनकी क्षमता का वर्णन, ये सारे वर्णन विस्मय में डुबा देने वाले हैं। यह सब सुनकर या [illegible] क्षणभर के लिये तो मनुष्य का हो जाय कि 'यदि वहाँ जाया जा सकता हो और वहाँ रहा जा सकता हो तो मैं अभी इसी क्षण वहाँ पहुँच जाऊँ।'

ऐसे भौतिक श्रेष्ठ सुखों को भी आदमी एक लाख से गुणाकार करे, दो लाख से गुणाकार करे...या करते करते...एक करोड़ से गुणाकार करे.. दो करोड़ से गुणाकार करे...और फिर एक लाख से उनका गुणाकार करे ..तो वे सुख कितने सारे बढ़ जायेंगे? क्या कल्पना में भी सब गिनता है...कितना बड़ा गुणाकार हो जाय? गणना के हिसाब से और गुणवत्ता के दृष्टिकोण से उन गुणाकार किये हुए सुखों को

कल्पना भी तुम कर सकते हो ? वह कल्पना भी यदि कर सको तो ही तुम्हे धर्मध्यान की श्रेष्ठ भूमिका मे रहे हुए महात्मा के आन्तरसुख की कल्पना आ सकेगी। तुम इतना तो सोचो कि, देवलोक के वैसे गुणाकार किये हुए सुख उन्हे सामने नजर आते हो...उन्हे वे प्राप्त कर सके वैसी स्थिति हो...फिर भी उन सुखो का जिन्हे जरा भी आकर्षण नही है... उन महात्माओ के पास कैसा सुख होगा ? देवलोक के दिव्य सुखो से भी कही बेहतर सुख उनके पास होना चाहिए। तब ही वे देवलोक के सुखो को ठुकरा देते है....वे देवेन्द्रो को भी कह देते है : 'तुम्हारे सुख हमारे सुख की तुलना नही कर सकते। हमारे सुखो के हजारवें हिस्से मे भी तुम्हारा सुख खडा नही रह सकता।'

देवेन्द्र भी उन महात्मा के गभीर वचनो को समझ लेते है और उनके चरणो मे अपना सर झुका देते है। देवेन्द्र, महात्मा के भीतरी.. आध्यात्मिक सुखो की कल्पना कर सकते है ..और वे उन सुखो की तरफ ललचा जाते हैं..वे महात्मा के समक्ष प्रार्थना करते है. . 'हे महात्मन्, आप जिस शाश्वत एव स्वाधीन भीतरी सुख की अनुभूति करते हो. . वैसा सुख हमे भी चाहिए...इसके लिये हमे मनुष्य जन्म प्राप्त हो वीतराग का धर्मशासन मिले....धर्मध्यान की पगडडी मिले।'

'धर्मध्यान' के सतत अभ्यास से, रस-ऋद्धि और शाता के सर्वथा त्याग से एव लब्धि-शक्तियो के प्रति अनौत्सुक्य से अणगार ऐसा सुख अनुभव कर सकते है। हालाकि उस सुख का वर्णन शब्दो मे नही हो सकता। वह आनन्द, वह अनुभूति अनिर्वचनीय है।

यथाख्यात चारित्र

श्लोक : तज्जयमवाप्य जितविघ्नरिपुर्भवशतसहस्रदुष्प्रापम्।
चारित्रमथाख्यातं सम्प्राप्तस्तीर्थकृत्तुल्यम्॥२५८॥

अर्थ : उन पर विजय प्राप्त कर के [विभूति-लब्धि का उपयोग न करते हुए] विघ्न करनेवाले शत्रु [क्रोध वगैरह कषायो] को जीतकर, लाखो जन्मो मे दुर्लभ, तीर्थंकर के जैसा 'यथाख्यात-चारित्र' प्राप्त करता है।

विवेचन : जब वह महात्मा, स्वयं को प्राप्त हुई लब्धियों, शक्तियो के प्रति भी पूर्णतया निरपेक्ष बनता है और क्रोधादि कषायो पर संपूर्ण

विजय प्राप्त करता है, तब उस महात्मा को श्रेष्ठ चारित्रगुण की सहज प्राप्ति होती है। उस चारित्र का नाम है 'यथाख्यात चारित्र'।

इस यथाख्यात चारित्र' को शास्त्रीय दृष्टि से समझ लें, चूंकि, इसका वास्तविक एवं विस्तृत स्वरूप धर्मशास्त्र में ही जानने को मिलता है।

— पहली बात तो यह है कि ग्रन्थकार ने 'यथाख्यात' को बजाय 'अथाख्यात' शब्द का प्रयोग किया है कारिका में, वह भी सार्थक ही है। 'यथाख्यात' का व्युत्पत्ति अर्थ समझें 'यथा ख्यात तथा' जैसा चारित्र तीर्थकरों ने कहा है वैसा—उसका नाम यथाख्यात। अर्थात् मोहनीयस्य निरवशेषस्योपशमात् क्षयाच्च आत्मस्वभावस्यावस्थालक्षण यथाख्यातचारित्रम्।' मोहनीय कर्म के संपूर्ण उपशम से या क्षय से आत्मस्वभावरूप जो अवस्था है उसका नाम है 'यथाख्यात चारित्र'।

अथाख्यात का भावार्थ भी उपयुक्त ही है। 'अथ' शब्द 'पश्चात्' के अर्थ में ही प्रयुक्त है। संपूर्ण मोह के उपशम के पश्चात् या क्षय के पश्चात जो चारित्रगुण प्रकट होता है उसका नाम अथाख्यात-चारित्र।

— यथाख्यात चारित्र का गुण, ११ १२-१३ १४वें गुणस्थानक[1] पर आत्मा में प्रकट होता है।
— यथाख्यात संयमी महात्मा वीतराग होते हैं।
— यथाख्यात चारित्री या तो निर्ग्रन्थ होते हैं या स्नातक[2] होते हैं।
— यह चारित्र निरतिचार होता है।
— तीर्थंकर के तीर्थकाल में और तीर्थस्थापना में पूर्व भी होता है।
— यथाख्यातचारित्री कर्मभूमि में ही पैदा हुआ होता है। कोई उनका अपहरण करके अकर्मभूमि में ले जा सकता है।
— ११ वें गुणस्थानक वाले यथाख्यात चारित्री मृत्यु के पश्चात् अनुत्तर देवलोक में जाते हैं। १२ - १३ - १४ गुणस्थानक वाले तो मोक्ष में ही जाते हैं।

1 ११ वाँ गुणस्थानक 'उपशान्त मोह' कहा जाता है।
१२ वाँ गुणस्थानक 'क्षीणमोह' कहा जाता है।
१३ वाँ गुणस्थानक 'सयोगी केवली' कहा जाता है।
१४ वाँ गुणस्थानक 'अयोगी केवली' कहा जाता है।
2 निर्ग्रन्थ' तथा 'स्नातक' के बारे में परिशिष्ट में पढ़ें।

— अकषायी (कषायमुक्त) होते हैं।
— परमशुक्ल लेश्यायुक्त होते हैं, और अलेशी होते हैं।
— ११-१२ वे गुणस्थानक पर वर्धमान परिणाम वाले होते है। तेरहवे गुणस्थानक पर अवस्थित–परिणाम वाले होते है।
— केवल 'शातावेदनीय' कर्म बांधते है, १० वें गुणस्थानक पर अबंधक होते हैं।
— ११ वे गुणस्थानक के 'यथाख्यात चारित्री' के ज्यादा से ज्यादा तीन भव होते है।
— उपशमभाव या क्षायिकभाव होता है। ११ वे गुणस्थानक पर उपशम भाव होता है। १२-१३-१४ वे गुणस्थानक पर क्षायिक भाव होता है।

ग्रन्थकार ने यहा पर जिस 'यथाख्यात चारित्री' की बात कही है वह बारहवे 'क्षीणमोह' गुणस्थानक के चारित्र की है। तेरहवे गुणस्थानक पर स्थित तीर्थंकर परमात्मा मे जैसा यथाख्यात चारित्र होता है, वैसा ही चारित्र बारहवे गुणस्थानक पर रहे हुए महात्मा का होता है। इसलिए इस चारित्र की अपेक्षया वे महात्मा तीर्थंकर के समान कहे जाते है।

शुक्लध्यान

श्लोक शुक्लध्यानाद्यद्वयमवाप्य कर्माष्टकप्रणेतारम्।
संसारमूलबीजं मूलादुन्मूलयति मोहम्॥ २५९॥

अर्थ : प्रथम दो शुक्लध्यान [पृथक्त्व वितर्क सविचार एव एकत्व वितर्क–अविचार] प्राप्त कर के [ध्यान कर के] आठो कर्मो के नायक एव संसारवृक्ष के मूल बीजरूप मोह को [साधक] जडमूल से उखाड फेंकता है।

विवेचन : क्षपकश्रेणि – आरोहण मे आत्मा के अत्यत विशुद्ध भाव ही कारणभूत होते हैं। वे भाव सर्वप्रथम तीन प्रकार के होते हैं :

सपृथक्त्व, सविचार एव सवितर्क।

[1]सपृथक्त्व मे भावो की अनेकता होती है। एक द्रव्य के चितन

1 द्रव्याद् द्रव्यान्तर याति, गुणाद् याति गुणान्तरम्।
पर्यायादन्यपर्याय सपृथक्त्व भवत्यत॥ — गुणस्थानक्रमारोहे

मे से दूसरे द्रव्य के चिंतन मे जाता है एक गुण के चिंतन मे से दूसरे गुण के चिंतन मे जाता है एक पर्याय के चिंतन मे से दूसरे पर्याय के चिंतन मे जाता है।

[1]'सवितर्क' यानी श्रुतचिंता। अपने शुद्ध आत्मानुभूत भावश्रुत के आलंबन मे जो भावजन्य–अन्तर्जल्प चले उसे सवितर्क कहते है।

[2]सविचार यानी संक्रम। भावो का संक्रम। एक अर्थ के चिंतन मे से दूसरे अर्थ के चिंतन मे जाना एक शब्द के चिंतन मे से दूसरे शब्द के चिंतन मे जाना और एक योग पर से अन्य योग पर जाना। [ये योग मन–वचन–काया के समझना]

इस तरह 'पृथक्त्व–वितर्क–सविचार' नामक प्रथम शुक्लध्यान करने के पश्चात, वे महात्मा द्वितीय शुक्लध्यान मे प्रविष्ट होते हैं। द्वितीय शुक्लध्यान भी तीन प्रकार का होता है। एकत्व, सवितर्क एव अविचार।

[3]एकत्व यानी केवल अपने आत्मद्रव्य का चिंतन करना या एक ही पर्याय का विचार करना, या एक ही गुण का चिंतन करना।

[4]सवितर्क यानी भावश्रुत के आलंबन मे अपनी शुद्धात्मा का चिंतन करना।

[5]अविचार यानी शब्द–अर्थ और योगो को संक्रम किये बगर किसी एक शब्द का या अर्थ का या योग का चिंतन करना।

'एकत्व–सवितर्क–अविचार' नामक दूसरा शुक्लध्यान करती हुई आत्मा स्वानुभूति करती है, और समरसीभाव प्राप्त करती है। यथा

1 स्वशुद्धात्मानुभूतात्म भावश्रुतावलम्बनात् ।
अन्तर्जल्पो वितर्कः स्यात् यस्मिन्स्तत् सवितर्कजम् ॥
2 अर्थादर्थान्तरे शब्दाच्छब्दान्तरे च संक्रमः ।
योगाद्योगान्तरे यत्र सविचारं तदुच्यते ॥
3 निजात्मद्रव्यमेकं वा पर्यायमथवा गुणम् ।
निश्चलं चिन्त्यते यत्र तदेकत्वं विदुर्बुधा ॥
4 निजशुद्धात्मनिष्ठं हि भावश्रुतावलम्बनम् ।
चिन्तनं क्रियते यत्र सवितर्कं तदुच्यते ॥
5 यद्व्यञ्जनार्थयोगेषु परावर्तविवर्जितम् ।
चिन्तनं तदविचारं स्मृतं सद्ध्यानकोविदैः ॥ — गुणस्थानक्रमारोह

कर्मों के राजा जैसा मोहनीय–कर्म कि जो नसारवृक्ष का मूल–वीज है, उसका क्षय हो जाता है । आत्मा वीतराग वनती है । किस क्रम से [साधक] समूचा मोहनीय कर्म नष्ट करता है, वह क्रम अब निर्दशित है ।

मोहनीय कर्म नष्ट करने का क्रम

श्लोक : पूर्वं करोत्यनन्तानुबन्धिनाम्नां क्षयं कषायाणाम् ।
मिथ्यात्वमोहगहनं क्षपयति सम्यक्त्वमिथ्यात्वम् ॥२६०॥
सम्यक्त्वमोहनीयं क्षपयत्यष्टावतः कषायाँश्च ।
क्षपयति ततो नपुंसकवेदं स्त्रीवेदमथ तस्मात् ॥२६१॥
हास्यादि तथा षट्कं क्षपयति तस्माच्च पुरुषवेदमपि ।
संज्वलनानपि हत्वा प्राप्नोत्यथ वीतरागत्वम् ।२६२॥

अर्थ : [साधक] पहले अनतानुबधी नामक कषायो का [क्रोध-मान-माया-लोभ] नाश करता है. उसके वाद प्रवल मिथ्यात्व-मोह का क्षय करता है, तत्पश्चात् मिश्रमोह का क्षय करता है

[इसके वाद] सम्यक्त्व मोहनीय का नाश करता है । पश्चात् आठ कषायो का [अप्रत्याख्यानावरण क्रोध वगैरह चार एव प्रत्याख्याना-वरण क्रोध वगैरह चार] क्षय करता है। इसके वाद नपुसकवेद का नाश करता है । तत्पश्चात्त् स्त्रीवेद का क्षय करता है।

[तत्पश्चात्] हास्य वगैरह छह प्रकृतियो का क्षय करता है फिर पुरुषवेद का क्षय करता है। इसके वाद सज्वलन कषायो को नष्ट कर के वीतरागता प्राप्त करता है।

विवेचन . क्षपकश्रेणि पर चढनेवाले महात्मा मोहनीय कर्म की २७ प्रकृतियो का किस तरह और कैसे क्रमिकरुप से नाश करते हैं...वह क्रम इन तीन कारिकाओ मे वताया है । उस क्रम का विशद विवेचन करने से पूर्व, मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियो की सक्षिप्त जानकारी होना जरुरी है । अपन पहले उन २८ प्रकारो को जाने ।

आठ कर्मो मे मुख्य कर्म है मोहनीय कर्म । जीवात्मा की मूढता एव अविवेक इस कर्म की पैदाईश है । इस कर्म के मुख्य दो प्रकार हैं . दर्शन मोहनीय एव चारित्र मोहनीय। अश्रद्धा का कारण है दर्शन मोहनीय व अनाचार का कारण है चारित्र मोहनीय ।

—दर्शन मोहनीय कर्म के ३ प्रकार हैं

१ मिथ्यात्व मोहनीय
२ मिश्र मोहनीय [सम्यक्त्व-मिथ्यात्व]
३ सम्यक्त्व मोहनीय

जो जीवात्मा मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय से आक्रान्त होता है उसे सर्वज्ञ-वीतराग परमात्मा अच्छे नहीं लगते। उनका बतलाया हुआ धर्मशासन अच्छा नहीं लगता। उसे रागी द्वेषी परमात्म-स्वरूप भाता है। वह अधर्म को धर्म मानता है, कुगुरु को सद्गुरु समझता है या फिर धर्म, गुरु या परमात्मा को मानता ही नहीं है।[1]

जो जीवात्मा मिश्र मोहनीय कर्म के उदय से ग्रस्त होता है, वह कुछ मिनटों के लिये [अन्तमुहूर्त] मध्यस्थ रहता है। उसे सर्वज्ञभाषित धर्म पर राग भी नहीं होता और द्वेष भी नहीं होता।

जीवात्मा सम्यक्त्वमोहनीय कर्म के असर तले जीता है, उसे अधिकतर सर्वज्ञभाषित धर्मतत्त्वों के बारे में शंका संदेह होता रहता है। सम्यक्त्वमोहनीय कर्म मिथ्यात्वमोह का ही शुद्ध स्वरूप है। मोह का प्रबल आवेग उछलने पर वह पुनः मिथ्यात्व के भाव में फिसल जाता है।

चारित्र मोहनीय कर्म के दो प्रकार हैं।

१ कषाय मोहनीय [१६]
२ नोकषाय मोहनीय [९]

- अनन्तानुबंधी क्रोध मान-माया लोभ [४]
- अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान-माया-लोभ [४]
- प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ [४]
- संज्वलन क्रोध मान माया-लोभ [४]

1 मिथ्यात्वजनित लौकिक वासना के प्रभाव से आत्मा से अलग ऐसे शरीर में आत्मा का वास्तविक अभेद का मिथ्याभास होता है। पौद्गलिक धन-संपत्ति वगैरह में आसक्ति पैदा होती है। अल्पज्ञ-अनाप्त पुरुष के द्वारा निर्मित शास्त्रों के अध्ययन से 'आत्मा एकान्तिक तौर पर नित्य है या क्षणिक है' ऐसी मिथ्याबुद्धि पैदा होती है। कुप्रवचनानिर्दिष्ट स्वर्ग वगैरह के साधनों में ममत्वबुद्धि पैदा होती है। [महोपाध्याय श्री यशोविजयजी-उपदेशरहस्य से]

नष्ट करके तीसरे हिस्से को सज्वलन माया मे डालता है। सज्वलन माया के तीन हिस्से बनाता है। दो हिस्सों का नाश करके तीसरे हिस्से को संज्वलन लोभ मे डालता है। सज्वलन लोभ के तीन हिस्से करता है...दो हिस्से नष्ट करता है और —

तीसरे हिस्से के सख्यात [अनेक] टुकडे कर डालता है। उस लोभ के सख्यात टुकडो का नाश करता हुआ वह आगे बढता है [यह प्रक्रिया नौवे गुणस्थानक पर होती है। अतः इस नौवें गुणस्थानक का नाम 'बादरसपराय' है। बादर=बडा, सपराय=लोभ कषाय। लोभ के बडे बडे टुकडे यहा नष्ट हो जाते है। उस मे अतिम लोभटुकडा जो रहता है, उसके असख्य टुकडें कर डालता है!

उन असख्य सूक्ष्म लोभ के टुकड़ो का नाश वह जिस गुणस्थानक पर करता है वह गुणस्थानक 'सूक्ष्म सपराय' कहलाता है। उन सारे सूक्ष्म लोभकणो का सपूर्ण नाश होने पर वह आत्मा आगे बढ जाती है ..दसवे गुणस्थानक से सीधे बारहवे गुणस्थानक पर पहुँच जाती है।

['ग्यारवे गुणस्थानक को जो जीव स्पर्श करता है वह आगे नही बढ सकता, अपितु नीचे उतरता है। क्षपकश्रेणी मे चढती हुई आत्मा ११ वे गुणस्थानक को स्पर्श बगैर साधे ही बारहवें गुणस्थानक पर पहुँच जाती है]

बारहवे गुणस्थानक पर आत्मा, मोहनीय कर्म का सपूर्ण नाश कर के आई होने से वीतराग होती है...फिर भी वह छद्मस्थ होती है! चूंकि

1 ग्यारहवाँ गुणस्थानक 'उपशम-श्रेणि' मे चढा हुआ जीवात्मा ही छूता है....
इस गुणस्थानक पर आत्मा ज्यादा से ज्यादा केवल एक अन्तर्मुहूर्त समय तक ही रह सकती है।
इस गुणस्थानक पर यदि जीवात्मा की मृत्यु हो जाये तो वह मरकर अनुत्तर देवलोक मे जन्म लेगा, वहा उसे चौथा गुणस्थानक प्राप्त होगा।
आगमिक मत के मुताबिक मनुष्य एक भव मे उपशम श्रेणि या क्षपक श्रेणि दो मे से एक ही श्रेणि चढ सकता है।
कर्मग्रथो के मतानुसार एक भव मे मनुष्य दो बार श्रेणि पर चढ सकता है: एक बार उपशम श्रेणि पर चढा हो तो वह एक बार क्षपकश्रेणि लगा सकता है। दो बार उपशमश्रेणि लगायी हो तो फिर वह क्षपकश्रेणि नही लगा सकता है!

दर्शनावरण, ज्ञानावरण और अंतराय—इन कर्मों का नाश करना बाकी होता है। अर्थात्—बारहवें गुणस्थानक पर आकर कुछ [थोड़ी क्षणों के लिये] विश्राम करके जब दो समय शेष रहता है तब पहले समय मे निद्रा और प्रचला—इन दो दर्शनावरण की प्रकृति का नाश करता है। और अंतिम समय मे एक ही प्रहार मे ज्ञानावरण–५, दर्शनावरण–४ व अंतराय–५ का खात्मा कर डालता है।

और तेरहवें गुणस्थानक के पहले ही समय मे सर्वज्ञ–सर्वदर्शी हो जाती है।

आत्मा सर्वज्ञ–सर्वदर्शी तो तेरहवें गुणस्थानक पर बनती है परंतु बारहवें गुणस्थानक पर वीतराग हुई आत्मा सर्वज्ञ की भांति ही पूर्णचन्द्र के जैसी शोभायमान होती है राहु का एक भी अंश जब चन्द्रमा को छूता नहीं है तब वह पूर्णचन्द्र कहलाता है। उसी तरह मोहनीय कर्म का एक भी अंश आत्मा को जब स्पर्श नहीं करता है तब वह वीतराग कहलाती है। यह बात ग्रन्थकार अब बता रहे है।

शुक्लध्यानी पूर्णचन्द्र से

श्लोक सर्वोद्घातितमोहो निहतक्लेशो यथा हि सर्वज्ञः।
भात्यनुपलक्ष्यराह्वंशो मुक्तः पूर्णचन्द्र इव ॥२६३॥

अर्थ समस्त मोह को नष्ट करनेवाले एवं क्लेशों [क्रोधादि का] का हनन करनेवाले मुनि नहीं दिखनेवाले राहु के मुख वगैरह अंशों से मुक्त पूर्णचन्द्र की भांति शोभायमान होते हैं।

विवेचन मोहनीय कर्म को राहु की उपमा दी गई है।

वीतराग बनी हुई आत्मा को पूर्णचन्द्र की उपमा दी गयी है।

राहु का और चन्द्रमा का संबंध है। शत्रुता का संबंध है।

जैनागमों मे सूरज, चांद ग्रह–नक्षत्र तारे वगैरह को परिभ्रमणशील कहा गया है। 'चन्द्रलोक' को 'चन्द्र का विमान' दर्शाया गया है। चन्द्र का विमान जिस ऊँचाई पर आकाश मे परिभ्रमण करता है [मेरु के इर्दगिर्द] उससे कुछ नीची सतह पर राहु का ग्रह परिभ्रमण करता है। ज्यों ज्यों राहु का विमान चन्द्रमा के विमान के नीचे आता जाता है त्यों त्यों चन्द्रमा आवरित हो जाता है जिस दिन 'चन्द्र' पूरा ढक

जाता है उस दिन को 'ग्रमावास्या' कहा जाता है। इस के वाद राहु की गति मे वदलाव आता है और चन्द्र राहु मे मुक्त होने लगता है...जव संपूर्णतया मुक्त हो जाता है, तव उसे पूर्णचन्द्र कहा जाता है... परंतु इसके दूसरे ही दिन राहु वापस चन्द्र के नीचे आना चालु हो जाता है। और धीरे धीरे पद्रह दिन मे तो फिर चद्र को पूरा ढांप देता है।

वीतराग वनी हुई आत्मा को पूर्ण चन्द्र की जो उपमा दी गयी है वह एकदेशीय–एकपक्षीय है। मोहनीय कर्म का नाश करने के पश्चात् कभी भी आत्मा पर वापस मोहनीय का आवरण नहीं छा सकता। राहु तो वापस चन्द्र को ढाप देता है। मोहनीय कर्म फिर से आत्मा को नही लग सकता। वीतराग आत्मा नित्य-स्थिर पूर्णचन्द्र सी होती है।

प्रश्न : कारिका [श्लोक] मे घातितमोह कहने के पश्चात् निहत-क्लेश कहने की आवश्यकता क्या है? मोह का नाश होने पर क्लेशो [कषायो] का नाश हो ही जाता है न?

उत्तर : क्रोध वगैरह कषायो की तीव्रता–प्रवलता एवं दुर्दमता वताने के लिये उसका अलग निर्देश किया गया है। यह ग्रन्थरचना की एक पद्धति है। जिस वात पर वजन दिया जाना हो उसका निर्देश अलग से भी किया जाता है। दर्शन–मोहनीय कर्म की प्रवलता से भी चारित्र मोहनीय कर्म की प्रवलता सविशेष होती है। चारित्र मोहनीय कर्म का नाश करने के लिये आत्मा को प्रवल पुरुषार्थ, कड़ा परिश्रम करना पड़ता है।

हालाकि, वारहवे गुणस्थानक का समय तो केवल अन्तर्मुहूर्त [दो घडी = ४८ मिनिट] का ही होता है फिर भी वे दो घडिया आत्मा को पूर्णचन्द्र की शोभा देती है। अभी वह सर्वज्ञ नही है..फिर भी सर्वज्ञ सी ही उसकी शोभा है।

चित्त को स्थिर कर के, गहरे ध्यान मे लीन होकर. वारहवे गुणस्थानक के उस वीतराग महात्मा को देखने की कोशिश करना! पूर्णचन्द्र की कल्पना करके, उन महात्मा की समतारस से आप्लावित मुखमुद्रा को देखना! अपूर्व शीतलता एवं शांति की अनुभूति होगी!

शुक्लध्यान : प्रचंड अग्नि

श्लोक - सर्वेन्धनैकराशीकृतसंदीप्तो ह्यनन्तगुणतेजाः ।
ध्यानानलस्तप प्रशम-संवरहविर्विवृद्धबलः ॥ २६४ ॥

अर्थ सभी इंधनो का ढेर लगाकर उसे सुलगाया जाये और वह जिस रूप से जल उठता है उससे भी अनंतगुनी तेजपुंज [अग्निपुंज] ध्यानाग्नि होती है। चूंकि उसमें तप, प्रशम और संवर का घी डाला गया होता है। उससे ध्यानाग्नि की शक्ति बढ़ती है।

विवेचन ध्यान को अग्नि की उपमा दी गयी है। चूंकि अग्नि स्वयं शुद्ध होता है। दुनिया मे गंगा का पानी पवित्र माना गया है फिर भी उसमे कुछ दोष होते है उन्हे दूर करने के लिये अग्नि का उपयोग किया जाता है। अग्नि को शुद्ध करने की आवश्यकता नही रहती चूंकि वह स्वयं शुद्ध होती है।

इसलिए ध्यान को अग्नि की उपमा दी गई है। अग्नि सुलगाने का काम करती है। 'ध्यानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते क्षणात् ।' ऐसा आप्तवचन है। ध्यान की अग्नि कितनी प्रचंड होती है यह समझाने के लिये ग्रंथकार ने कहा कि दुनियाभर का इंधन एकत्र कर के सुलगाया जाये और जो प्रचंड आग पैदा होगी उस आग में दाहक शक्ति कितनी प्रचंड होगी? उससे भी अनंतगुना दाहक शक्ति ध्यान की आग मे होती है। तो ही वह ध्यानाग्नि अनंत अनंत कर्मों को भस्मसात कर डालती है।

ध्यानाग्नि को विशेष प्रज्वलित करने के लिए उसमें घी डालना पड़ता है। वह घी होता है तप का! प्रशम का! और संवर का! ध्यान में, शुक्लध्यान मे लीन बनी हुई आत्मा में सहज भाव से घी डलता जाता है। उस आत्मा को ध्यानकाल में उपयोग नहीं रखना पड़ता है कि 'मैं तप करूं, मैं प्रशमभाव में रहूं, मैं मेरी आत्मा में आनेवाले कर्मों को रोकूं?'

शुक्लध्यान में ये तीन तत्त्व सहायक होते हैं। इन तीन तत्त्वों के सहारे ही शुक्लध्यान में प्रवेश हो सकता है। शुक्लध्यान की शक्ति को मर्यादित ... बढ़ानेवाले भी ये ही तीन

तत्त्व है। तप यानी बाह्य अनशन वगैरह तप नही परन्तु श्रुतज्ञानरूप और आत्मज्ञानरूप तप समझने का है। उसे तप कहा जाता है जो कि कर्मो को जलाये ! इसलिए अन्य शास्त्रो मे ज्ञान को भी अग्नि की उपमा दी गई है। शुक्लध्यान में ज्ञानाग्नि और ध्यानाग्नि अभिन्न रहते है। इस से उसकी दाहकशक्ति काफी बढ जाती है।

शुक्लध्यानी महात्मा प्रशान्त होते है...प्रशमरस से वे आप्लावित रहते है....इसलिए कर्म जलते है वे स्वय नही जलते ! सूक्ष्मसंपराय चारित्र और यथाख्यात चारित्र के सवरभाव से वे इतना स्थिर होता है [चारित्र स्थिरतारूपम्] कि, शुक्लध्यानी की दाहकशक्ति उसके सहारे ज्यादा वृद्धिगत बनती है।

आँखो से यह आग दिखती नही है कि शरीर से इस आग का अनुभव नही होता है ! वैसी यह अद्भूत आध्यात्मिक आग है। आत्मा को परम विशुद्ध करनेवाली यह आग है..इस आग की दाहकशक्ति का विशेष खयाल ग्रथकार स्वय दे रहे है !

जो बांधता है वह भुगतता है !

श्लोक : क्षपकश्रेणिमुपगत: स समर्थः सर्वकर्मिणां कर्म ।
क्षपयितुमेको यदि कर्मसंक्रमः स्यात् परकृतस्य ।।२६५।।
परकृतकर्मणि यस्मान्नाक्रामति संक्रमो विभागो वा ।
तस्मात् सत्त्वानां कर्म यस्य यत्तेन तद्वेद्यम् ।।२६६।।

अर्थ : क्षपकश्रेणि पर चढी हुई वह आत्मा, यदि दूसरे जीवो के द्वारा बाधे गये कर्मो का [स्वय मे] सक्रमण हो सकता हो तो, अकेले ही सभी जीवो के कर्मो का क्षय करने मे समर्थ होती है।

परन्तु एक जीव के कर्म दूसरे जीव के कर्मो मे न तो सपूर्णतया संक्रमित होते हैं न ही एकाध अश-हिस्सा उसमे मिल सकता है। अत जो जीव कर्म बाधता है वही जीव कर्म भुगतता है।

विवेचन : चाहे जीवात्मा हो, महात्मा हो कि परमात्मा हो, उनकी सारी की सारी शुभ भावनाए भी फलवती नही बनती है ! उत्तम और उत्तमोत्तम पुरुषो के दिल मे वैसी शुभ भावनाए हिलोरे लेती है :

'दुनिया के सभी जीवो के दुःख मैं दूर करु और परम सुख की तरफ उन्हे ले जाऊ। दुनिया मे कोई जीव दुःखी नही रहना चाहिए।' परन्तु आज तक हुए अनत तीर्थकरो मे से किसी की भी यह शुभभावना सफल नही हो सकी है। कारण कि विश्व व्यवस्था जो कि शाश्वत् है, उसमे परिवर्तन नही किया जा सकता।

आतरिक जगत की भी आध्यात्मिक जगत की भी कुछ शाश्वत-अपरिवर्तनीय व्यवस्थाए हैं उसमे परिवर्तन की कोई शक्यता ही सर्वज्ञो ने नही देखी है। उसमे की एक वास्तविकता यह है कि —

एक जीवात्मा के द्वारा उपार्जित कर्मो का दूसरा जीवात्मा नष्ट नही कर सकता। अर्थात् एक आत्मा शुक्लध्यान की प्रचड आग मे अपने अनत अनत कर्मों को जला रहा हो उस आग मे अन्य जीवात्मा के कर्मों को ला लाकर नही डाला जा सकता। अरे थोडे भी कर्म लाकर नही जलाये जा सकते। चूकि एक जीवात्मा के कर्म अन्य जीव मे सक्रमित नही हो सकते। यह अपरिवर्तनीय शाश्वत नियम है।

यदि यह सभव होता हो सकता तो तीर्थकर बननेवाली आत्मा मे तो अपार करुणा भरी हुई होती है। वह आत्मा भी शुक्लध्यान मे प्रवेश करती है ध्यान की प्रचड आग भी सुलगती है उसमे वह ससार के सभी जीवो के कर्मो का सक्रमण करके जला सकती और सभी जीव तमाम आत्माए वीतराग बन जाती। परन्तु यह सभव नही है। इसीलिये तो ससार के अनत अनत जीव अपने किये कर्म खुद भुगत रहे हैं।

जिस जीवात्मा को अपने कर्मो का क्षय करना हो, उसे स्वय ही शुक्लध्यान मे प्रविष्ट होना होगा। शुक्लध्यान की प्रचड आग मे अपने कर्मो को जलाकर ही वह वीतराग बन सकता है।

जो बाधे वही छोडे।
जो बाधे वही भोगे।

मोहनीय का क्षय करो

श्लोक : **मस्तकसूचिविनाशात्तालस्य यथा ध्रुवो भवति नाश. ।**
तद्वत् कर्मविनाशो हि मोहनीयक्षये नित्यम् ।।२६७।।

अर्थ : तालवृक्ष की चोटी पर जो सूचि-शाखा ऊगी हुई रहती ह, उस शाखा का नाश करने से, जैसे तालवृक्ष का नाश अवश्यमेव हो जाता है, उसी भाति मोहनीयकर्म का क्षय होते ही सारे कर्मो का अवश्य नाश हो जाता है !

विवेचन : मोहनीय कर्म का नाश होने से दूसरे कर्मो का नाश हो ही जाये, ऐसा कैसे हो सकता है ?

दुनिया मे क्या ऐसा देखने को मिलता है क्या कि एक वस्तु का नाश हो जाने पर, उस से सलग्न दूसरी वस्तुओ का भी नाश हो जाय ? वैसी जिज्ञासा तत्त्वगवेषक के मन मे पैदा होना सहज है ! वैसी जिज्ञासा की सतुष्टि करते हुए ग्रन्थकार महर्षि, दुनिया मे से एक ऐसा वृक्ष खोज निकालते हैं और कहते है :

देखो, यह तालवृक्ष है । तालवृक्ष की चोटी पर जो शाखा ऊगी हुई है उसे तोड डालने से यह सारा तालवृक्ष अपने आप नष्ट हो जायेगा ! उसी तरह मोहनीय कर्म का नाश होने पर दूसरे कर्म अपने आप नष्ट हो जाते हैं ! पहले घातीकर्म नष्ट होते हैं...पश्चात् अघाती कर्म नष्ट होते हैं । अत मोहनीयकर्म को नष्ट करने के लिये प्रचड पुरुषार्थ करना चाहिए !

तालवृक्ष काफी ऊँचा-लम्बा होता है । उसकी चोटी पर पहुँचना मुश्किल कार्य होता है ! चोटी परकी शाखा को पकडकर तोडना या काटना तो और भी ज्यादा मुश्किल होता है...उसी तरह मोहनीयकर्म का नाश करने का कार्य भी काफी कठिन है ! बारहवे गुणस्थानक पर पहुँचना कितना कठिन कार्य है ? उत्तरोत्तर....क्रमिक गुणस्थानको की ऊचाई पर पहुँचने के लिये आत्मा मे अत्यत अपूर्व बल चाहिए । शारीरिक ताकत के साथ-साथ मानसिक बल चाहिए और आध्यात्मिक बल भी अपेक्षित है । बल के साथ बुद्धि चाहिए । ज्ञान चाहिए ।

अपूर्व साहस जतलाकर जो आत्मा बारहवे गुणस्थानक पर पहुँच जाती है, वह मोहनीयकर्म की शाखा को काट डालती है ! फिर वह क्या करती है वह ग्रन्थकार अब बता रहे हैं .

श्लोक छद्मस्थवीतराग काल सोऽन्तर्मुहूर्तमथ भूत्वा ।
युगपद विविधावरणान्तरायकर्मक्षयमवाप्य ॥२६८॥

अर्थ अन्तर्मुहूर्त [दो घडी = ४८ मिनट] तक वह छद्मस्थ वीतराग [बारहवें गुणस्थानक पर] रह कर, एक साथ विविध आवरण [ज्ञानावरण, दर्शनावरण एव अन्तराय कर्म] का क्षय कर के

विवेचन वीतराग होकर जैसे कि दो घडी विश्राम लेती है आत्मा! हालांकि दूसरा शुक्लध्यान तो चालु ही रहता है। 'एकत्व वितर्क-अविचार' नामक ध्यान करते हुए अनंतगुना आत्मविशुद्धि प्राप्त करती है। उनका मन अविचल होता है श्रुतज्ञान में उपयुक्त होता है, परन्तु अर्थ, व्यजन और योग की सक्राति नही होती। जब इस ध्यान के दो ही समय शेष रहते है तब, पहले समय मे दर्शनावरण कर्म की सत्ता मे स्थित दो प्रकृतियो 'निद्रा' व 'प्रचला' का नाश करती है। दूसरे समय मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण[1] [बाकी बचा], और अंतराय कर्म का नाश करती है।

केवलज्ञान

श्लोक शाश्वतमनन्तमनतिशयमनुपममनुत्तर निरवशेषम ।
सम्पूर्णमप्रतिहत सम्प्राप्त केवलज्ञानम् ॥२६९॥
कृत्स्ने लोकालोके व्यतीतसाम्प्रतभविष्यत कालान ।
द्रव्यगुणपर्यायाणा ज्ञात्वा दृष्ट्वा च सर्वार्थं ॥२७०॥
क्षीणचतु कर्मांशो वेद्यायुर्नामगोत्रवेदयिता ।
विहरति मुहूर्तकाल देशोना पूर्वकोटि वा ॥२७१॥

अर्थ शाश्वत् अनन्त निरतिशय, अनुपम, अनुत्तर निरवशेष सपूर्ण और अप्रतिहत केवलज्ञान को प्राप्त करता है,
लोक अलोक म सपूर्ण वस्तुओ को जानने की वजह से भूत वतमान और भविष्यकाल के द्रव्य गुण और पर्यायो को सभी प्रकार से देखता है जानता है,
चार [घाती] कर्मों का जिसने क्षय कर लिया है वह और वेदनीय आयुष्य, नाम गोत्र कर्म का अनुभव करनेवाले [केवलज्ञानी] एक मुहूर्त तक या कुछ कम [८ वर्ष] कम एक क्रोड पूर्व बरस तक विचरते हैं।

1 चक्षुदर्शनावरण अचक्षुदर्शनावरण अवधिदर्शनावरण केवलदर्शनावरण।

विवेचन चार घाती कर्मो का नाश होने पर, आत्मा मे केवलज्ञान प्रगट होता है। केवलज्ञान का स्वरूप बताते हुए ग्रन्थकार महर्षि बता रहे हैं :

१. केवलज्ञान **शाश्वत्** होता है। आत्मा मे प्रकट होने के बाद सदाकाल रहता है।

२. केवलज्ञान **अनन्त** होता है। कभी भी इस ज्ञान का अन्त नही आता है। नष्ट नही होता है।

३ केवलज्ञान **महातिशययुक्त** है। यानी कि उससे ज्यादा बढकर और कोई ज्ञान नही है।

४. केवलज्ञान **अनुपम** होता है। दुनिया मे ऐसी कोई तुलना नही जो कि केवलज्ञान को लागू हो।

५. केवलज्ञान **अनुत्तर** होता है। इस ज्ञान से बढकर उत्कृष्ट अन्य कोई ज्ञान नही है।

६. केवलज्ञान **निरवशेष** होता है। यह ज्ञान आत्मस्वरूप होता है।

७ केवलज्ञान **संपूर्ण** होता है। लोकालोक के सारे ज्ञेय पदार्थो को जाननेवाला होता है।

८ केवलज्ञान **अप्रतिहत** होता है। इन ज्ञान के बीच मे कोई पृथ्वी-पर्वत या सागर बाधा नही बनते !

कितना अपूर्व है यह केवलज्ञान !

आत्मा मे यह ज्ञान होने पर भी, आवारक कर्मो के दुष्प्रभाव से जीवात्मा कितने घोर अज्ञान मे भटकता है! वीतराग बने बगैर केवलज्ञानी नही हुआ जा सकता! इसका तात्पर्य यह है कि ज्यों-ज्यो राग-द्वेष कम होते जाते हैं.. त्यो-त्यो ज्ञान का प्रकाश बढता है....फैलता जाता है! सपूर्ण राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं तब पूर्ण ज्ञान का शाश्वत् प्रकाश आत्मा मे प्रगट होता है। वह प्रकाश लोकव्यापी-अलोकव्यापी हो जाता है।

लोक मे [१४ राजलोक मे] रहे हुए और अलोक मे [१४ राजलोक के बाहर का अनत लोक] रहे हुए सभी द्रव्यो को केवलज्ञानी देखते हैं...और जानते हैं! सभी द्रव्यो के सारे पर्यायो को जानते है और देखते हैं। भूतकालीन पर्यायो को भूतकालीन रूप मे, वर्तमानकालीन

पर्यायों को वर्तमानकालीन रूप में एवं भविष्यकालीन पर्यायों को भविष्य-कालीन रूप में जानते हैं देखते हैं। एक एक द्रव्य को उसके अनंत पर्यायों से जानते हैं देखते हैं।

चार कर्मों का समूल नाश करनेवाले और चार कर्मों का अनुभव करनेवाले केवलज्ञानी इस पृथ्वी पर भव्य जीवों को प्रतिबोधित करते हुए विचरते हैं। कम से कम समय होता है एक मुहूर्त का और ज्यादा से ज्यादा समय होता है एक करोड पूर्व वर्ष [आठ वर्ष कम] का।

'मुहूर्त' 'पूर्व' ये काल समय के मापसूचक शब्द हैं। जैनागमों में काल समय के माप अलग अलग नामों के द्वारा निर्दिशित हैं।

— सबसे कम काल को 'समय' की संज्ञा दी गई है।
— असंख्य समय = १ आवलिका
— २५६ आवलिका = १ क्षुल्लक भव
— १७॥ क्षुल्लक भव = १ श्वासोच्छ्वास [१ प्राण]
— ७ प्राण = १ स्तोक
— ७ स्तोक = १ लव
— ७७ लव = १ मुहूर्त
— १ मुहूर्त = २ घडी [४८ मिनट]
[मुहूर्त पूरा न हो तब तक उसे 'अन्तर्मुहूर्त' कहा जाता है]
— ३० मुहूर्त = १ दिन [अहोरात्र = २४ घंटे]
— १५ दिन = १ पक्ष
— २ पक्ष = १ मास [महिना]
— २ मास = १ ऋतु
— ३ ऋतु = १ अयन [दक्षिणायन उत्तरायन]
— २ अयन = १ वर्ष
— ८४ लाख वर्ष = १ पूर्वांग
— ८४ लाख पूर्वांग = १ पूर्व

[१ पूर्व में ७०५६० अबज वर्ष होते हैं यानी कि ७०५६ करोड बरस।]

महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य का उत्कृष्ट आयुष्य एक करोड पूर्व वर्ष का होता है। ऐसा उत्कृष्ट आयुष्यवाला मनुष्य अपनी आठ साल की

उम्र मे दीक्षा ले । दीक्षा लेते ही केवलज्ञानी बने, तो वह केवलज्ञानी के रूप मे एक करोड़ पूर्व वर्ष तक जिये.... [आठ बरस कम समझने के] इतने दीर्घ आयुष्यवाले मनुष्य भरतक्षेत्र मे [भरतक्षेत्र पाँच है] या ऐरवत क्षेत्र मे [ऐरवत क्षेत्र भी पाँच है] नही होते है । इन क्षेत्रो की सविस्तार जानकारी धर्मशास्त्रो मे पढने को मिलती है । परन्तु वर्तमान समय मे अपन उन सभी क्षेत्रो मे नही जा सकते ! महाविदेह क्षेत्र भी पाँच है, वहा हमेशा तीर्थंकर भगवत मौजूद रहते हैं...उनका विचरण होता है । उन क्षेत्रो का बहुत जानकारीभरा वर्णन आगम-ग्रन्थो मे उपलब्ध है । पर अपन वहा जा नही सकते ! हालाकि फिलहाल उपलब्ध दुनिया के नक्शो पर इन क्षेत्रो का—प्रदेशो का कोई उल्लेख नही मिलता है !

आठ वर्ष कम इसलिए कहा गया है चू कि मनुष्य आठ साल की उम्र मे ही दीक्षा ले सकता है....अर्थात् साधु बन सकता है ! ८ साल की उम्र के पूर्व नही तो साधु हुआ जा सकता है....नही गृहस्थवेश मे केललज्ञान प्रगट होता है !

केवली—समुद्घात

श्लोक **तेनाभिन्नं चरमभवायुर्दुर्भेदमनपवर्तित्वात् ।**
तदुपग्रहं च वेद्यं तत्तुल्ये नामगोत्रे च ॥२७२॥

अर्थ अतिम भव का आयुष्य अभेद्य होता है. .चू कि उसका अपवर्तन नही होता [घटाया नही जा सकता!] उससे [आयुष्य से] उपग्रहित वेदनीय कर्म भी उसके जितना ही होना चाहिए । [आयुष्य कर्म की जितनी स्थिति हो उतनी ही स्थिति वेदनीय कर्म की होनी चाहिए] नामकर्म व गोत्रकर्म भी उसके समान होने चाहिए ।

विवेचन : केवलज्ञानी का आयुष्यकर्म निरुपक्रम होता है। आयुष्यकर्म को घटाने की [कम करने की] कितनी भी कोशिशे करे फिर भी वह नही घटता ! जितना आयुष्यकर्म बधा हो, उतना भोगना ही पडता है ! जबकि जिन जीवो का आयुष्यकर्म सोपक्रम होता है, उनका आयुष्य-कर्म विशेष प्रयत्न के द्वारा कम किया जा सकता है ।

ज्ञानावरणादि चार घाती कर्मो का आयुष्य के साथ विशेष सबध नही होता परतु वेदनीय, नाम और गोत्रकर्मो का आयुष्यकर्म के साथ

गाढ नाता होता है। वेदनीयादि तीन कर्म आयुष्यकर्म पर निर्भर रहते हैं। आयुष्य की समाप्ति के साथ वेदनीयादि की समाप्ति हो जाती है। अर्थात् जितनी स्थिति [बंध] आयुष्यकर्म की होती है, उतनी ही स्थिति वेदनीयादि तीन कर्मों की होनी चाहिए।

परन्तु नियम ऐसा नहीं है कि जीवात्मा जब आयुष्यकर्म की स्थिति बांधता है, जितने बरसों की बांधे उतने ही बरसों की स्थिति वेदनीयादि कर्मों की बांधे! ज्यादा भी बांध ली हो! तब क्या करना?

जिन जीवों का पुनर्जन्म होनेवाला हो, उन जीवों के लिये तो सवाल नहीं रहता है। चूंकि जो वेदनीयादि कर्म भुगते बिना ही रह गये हों [आयुष्य समाप्त हो गया हो और वेदनीय वगैरह कर्म शेष रह गये हों] वे दूसरे-आगामी जन्मों में भोगे जा सकते हैं। परन्तु जिन जीवों का पुनर्जन्म नहीं होनेवाला हो जो उसी भव में मोक्ष में पहुँचने वाले हों और वेदनीय आदि तीन कर्म भोगे बिना के रह गये हों उनका क्या करना? वे कर्म [वेदनीय वगैरह] शुक्लध्यान में जल नहीं सकते और उन कर्मों को मोक्ष में साथ तो ले जाने से रहे! अब क्या करना? अतः केवलज्ञानी महात्माओं ने वेदनीयादि कर्मों की स्थिति को घटा कर, आयुष्यकर्म की स्थिति के बराबर [उसके जितनी] करनी पड़े! बेशक, कुछ विशेष प्रक्रियाओं के जरिये वेदनीयादि तीन कर्मों की स्थिति घटायी जा सकती है! पर यह प्रयोग अन्य कोई जीवात्मा नहीं कर सकता! मात्र केवलज्ञानी ही यह प्रक्रिया आजमा सकते हैं। यह प्रयोग करने की क्षमता सामर्थ्य मात्र केवलज्ञानी में ही होती है। यही बात ग्रन्थकार महात्मा बतला रहे हैं

श्लोक यस्य पुनः केवलिनः कर्मभवत्यायुषोऽतिरिक्ततरम्।
स समुद्घातं भगवानथ गच्छति तत् समीकर्तुम् ॥२७३॥

अर्थ जिन केवलज्ञानी का आयुष्यकर्म से ज्यादा स्थिति के वेदनीयादि कर्म होते हैं वे भगवान वेदनीयादि तीन कर्मों को आयुष्यकर्म के बराबर समान करने के लिए 'समुद्घात' करते हैं।

विवेचन टीकाकार आचार्यदेव ने 'समुद्घात' की परिभाषा करते हुए कहा है

'सम्यग्-उत्कृष्टं-हननं-गमनं-समुद्घातः।' आत्मा का उत्कृष्ट गमन [लोकव्यापी] उसका नाम है समुद्घात। इस व्याख्या को तनिक गहराई से समझे .

[1]'समुद्घात' आगमो मे सात प्रकार के दर्शाये गये हैं : १. वेदनीय, २ कषाय, ३. मरणान्तिक, ४ वैक्रिय, ५ तेजस्, ६. आहारक और ७ केवली।

इनमे प्रथम छह [वेदनीय से आहारक] समुद्घात छद्मस्थ आत्मा कर सकती है। इन छह समुद्घात के पुद्गल प्राण - भूत - जीव और सत्त्व का घात करते है, घर्षण करते है, सघट्टा करते है, परिताप पैदा करते है, उपद्रव करते है, किलामणा पैदा करते है...। जिनके शरीर मे से ये पुद्गल निकलते है...उन्हे तीन, चार या पाँच 'क्रियाए' भी लगती हैं।

परन्तु, केवली समुद्घात में तो, केवलज्ञानी के शरीर मे से आत्म-प्रदेश बाहर नीकलते है, शरीर का त्याग किये बगैर! आत्मप्रदेश जब शरीर से बाहर निकलते है तब अलग अलग तरह की आकृतियां बनती है और बिखरती है! ग्रन्थकार ने दो कारिका मे 'केवली-समुद्घात' का वर्णन किया है।

श्लोक : दण्डं प्रथमे समये कपाटमथ चोत्तरे तथा समये।
मन्थानमथ तृतीये लोकव्यापी चतुर्थे तु ॥२७४॥
संहरति पंचमे त्वन्तराणि मन्थानमथ पुनः षष्ठे।
सप्तमके तु कपाटं संहरति ततोऽष्टमे दण्डम् ॥२७५॥

अर्थ : पहले समय मे दंड, दूसरे समय मे कपाट, तीसरे समय मे मन्थान और चौथे समय मे लोकव्यापी होता है।
पाँचवें समय मे मन्थान के अन्तराल के प्रदेशों को दूर करता है [सकुचित बनाता है] छट्ठे समय मे मन्थान को सहरित करता है, सातवें समय मे कपाट को और आठवें समय मे दंड को संहरित करता है।

विवेचन : केवलज्ञानी जब अपना आयुष्य एक अन्तर्मुहूर्त का शेष हो तब यह 'समुद्घात' की विशिष्ट प्रक्रिया करते है। इस प्रयोग मे कर्म-

1 देखो परिशिष्ट मे

बन्ध होने का सवाल हो नहीं अपितु कर्मों की निजरा होती है। केवल आठ समय का ही यह समुद्घात का प्रयोग होता है पर अदभूत और आश्चयजनक !

पहले समय मे अपने शरीर के जितनी चौडी और उध्वलोक-अधोलोक जितनी ऊँची, अपनी आत्मा की दडाकृति बनाते ह ।

दूसरे समय मे पूव--पश्चिम--उत्तर--दक्षिण मे आत्मा की कपाटाकृति बनाते हैं ।

तीसरे समय म आत्मा की मथनाकृति बनाते हैं ।

चौथे समय मे आत्मा समग्र लोकव्यापी [१४ राजलोक व्यापी] बन जाती है ।

पाँचवें समय मे मथानरूप हो जाती है ।

छठवें समय मे कपाटरूप मे होती है ।

सातवें समय मे दडरूप बनती है

आठवें समय मे आत्मा शरीरस्थ हो जाती ह ।

इस 'समुदघात' प्रयोग के द्वारा केवलज्ञानी महात्मा वदनीयकम, नामकम व गोत्रकम की स्थिति [बरस, महीने, दिन, घटे, पल समय] घटा कर आयुष्यकम की स्थिति के बराबर कर देते हैं। किस क्रम से इन तीन कर्मों का स्थिति घटती है इसका सविस्तार विवेचन भी पचसग्रह कमप्रकृति वगरह ग्रथो म उपलब्ध है ।

वेदनीय, नाम और गोत्र कम की स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भाग प्रमाण होती है उसके कल्पना मे ही असख्य हिस्से कर उन असख्य हिस्सो मे से एक ही हिस्सा शेष रखे और बाकी के सभी हिस्सो का प्रथम समय मे ही [दडाकृति बनकर] नष्ट कर ।

इस तरह स्थिति का नाश करके तीनो कर्मों के रस का क्षय करता है। तीनो कर्मों मे स्थित--रस के मन ही मन कल्पना से अनत हिस्से करें । एक अनतवां हिस्सा बचाकर बाकी के तमाम हिस्सो का नाश कर ।

---शेष बचा हुआ स्थिति का असख्यातवा भाग और रस का एक अनन्तवाँ भाग, उसके क्रमश असख्य और अनत हिस्से करें कल्पना से ही ! उसका एक--एक हिस्सा शेष रखते हुए बाकी के तमाम हिस्सो को समुदघात के दूसरे समय म [कपाटाकृति बनकर] नष्ट कर ।

—५-६-७-८ समयो मे स्थितिघात व रसघात की प्रक्रिया चलती रहती है। असख्यवार स्थितिघात-रसघात होते रहते है। यो करते करते, वेदनीय वगैरह तीन कर्म, आयुष्य कर्म की स्थिति जितने हो जाते है... अन्तर्मुहूर्त पूरा हो जाता है .. आयुष्यकर्म पूरा होता है... साथ ही वेदनीयादि कर्म पूरे होते है। और आत्मा विदेह बन जाती है। सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाती है।

प्रश्न विना भोगे हुए कर्मो का नाश कैसे मान लिया जाये ? किये हुए–बाधे हुए कर्म तो अवश्य भोगने ही पडते है, वैसा सिद्धान्त नही है क्या ?

उत्तर : किये हुए या बाधे हुए कर्म तो जीव को भोगने ही पडते हैं, पर भुगतने का तरीका एक ही नही है... जो कि तुम जानते हो। अन्य भी तरीके है। जो प्रचलित तरीका है वह **रसोदय से कर्म भोगने** का तरीका है। [रसोदय का दूसरा नाम 'विपाकोदय' भी है] जैसे कि अशाता-वेदनीय का उदय-विपाक हुआ... शरीर मे बुखार चढा .. वह दु ख भुगतना पडे . पर कोई अशाता-वेदनीय कर्म इस तरह भी उदय मे आ सकता है आत्मा वैसे भी भुगतती है कर्म को, कि सुख-दु.ख व्यक्त रूप मे अनुभूत न हो . उस प्रकार के उदय का नाम है 'प्रदेशोदय'।

सभी कर्मो को विपाकोदय से नही भोगा जा सकता। यदि ऐसा माने कि बाधे हुए सभी कर्म विपाकोदय से ही भोगने पडते है और भोगकर ही नष्ट करने होते है तब तो वह शक्य ही नही होगा। हर एक जीव अपने असख्य जन्मो मे विविध मन के परिणामो से-विचारो से नरक वगैरह गतियो मे जो कर्म बाधे होगे .उन कर्मो का मनुष्यजन्म मे किस तरह नाश होगा ? उन उन कर्मो को भोगने के लिये उन्हो गतियो मे जाना पडेगा। तब ही विपाकोदय से भोगा जा सकेगा। उन उन गति के योग्य कर्मो का विपाकोदय उन्ही गतियो मे होता है। इस तरह तो आत्मा का मोक्ष हो ही नही सकता। अत प्रदेशोदय से कई कर्म भोगकर उन्हे नष्ट किया जा सकता है .वैसा मानना होगा।

श्लोक : **औदारिकप्रयोक्ता प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्टः।**
मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तम-षष्ठ-द्वितीयेषु ॥२७६॥
कार्मणशरीरयोगी चतुर्थके पञ्चमें तृतीये च।
समयत्रयेऽपि तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात् ॥२७७॥

अर्थ — पहले और आठवें समय में वह [केवलज्ञानी][1] औदारिककाययुक्त इष्ट है [होता है], सातवें, छठे व दूसरे समय में वह मिश्र औदारिक काययुक्त इष्ट है [होता है]।

चौथे, पाँचवें और तीसरे समय में वह [केवलज्ञानी] कार्मणकाययोग वाला होता है और इन तीन समयों में वे अवश्यमेव अनाहारक होते हैं।

विवेचन — वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से या क्षय से तथा पुद्गलों के अवलम्बन से होनेवाले आत्मप्रदेशों के परिस्पन्द-कंपन व्यापार को 'योग' कहा जाता है। आलम्बन की अपेक्षा से देखा जाये तो योग के तीन प्रकार हैं —

१ मनोयोग — मनोवर्गणा के पुद्गलों के अवलम्बन से आत्मा का जो प्रदेश-कंपन होता है वह।

२ वचनयोग — भाषावर्गणा के पुद्गलों के अवलम्बन से आत्मा का जो प्रदेश-कंपन होता है वह।

३ काययोग — औदारिकादिवर्गणा के पुद्गलों के अवलम्बन से आत्मा का जो प्रदेश कंपन रूप व्यापार होता है वह।

प्रस्तुत में, 'केवली समुद्घात' की प्रक्रिया में 'काययोग' का उपयोग होता है। काययोग के सात प्रकार हैं — १ औदारिक, २ औदारिकमिश्र, ३ वैक्रिय, ४ वैक्रियमिश्र, ५ आहारक, ६ आहारकमिश्र, ७ कार्मण। 'केवली समुद्घात' में इन सात 'काययोग' में से औदारिक, औदारिक मिश्र एवं कार्मण काययोग का उपयोग होता है। मनोयोग और वचनयोग का [illegible] पर इस समुद्घात की प्रक्रिया में किसी भी तरह का प्रयोजन नहीं होता है।

समुद्घात की आठ समय की सूक्ष्म क्रिया में किस समय कौन सा योग होता है —यह बताया जा रहा है —

प्रथम समय में औदारिक काययोग होता है, चूँकि यहाँ पर शरीर [illegible] में आत्मप्रदेश विद्यमान होते हैं। आत्मप्रदेश [illegible] धारण करके

---

1 योग का सविस्तर वर्णन परिशिष्ट में देखें।

2 [illegible]

—आचार्यश्री हरिभद्रसूरि '[illegible]'

हैं । इस क्रिया मे औदारिक-काय-योग का प्राधान्य होता है। प्रथम समय मे आत्मा आहारी होती है और आहार ग्रहण करने के लिये औदारिक काययोग नितांत आवश्यक है ।

[1]दूसरे समय मे कार्मणयोग मे मिश्र औदारिक योग होते है । दूसरे समय मे आत्मप्रदेश कपाटाकृति मे बदल जाते है ..इस क्रिया मे स्थूल शरीर के साथ सूक्ष्म शरीर भी प्रयत्नशील बनता है ।

तीसरे समय मे केवल सूक्ष्म शरीर प्रयत्नशील होता है । आत्म-प्रदेश मथनाकृति हो जाते है । इस प्रक्रिया मे केवल कार्मण शरीर ही सक्रिय होता है ।

पाँचवे समय मे जब आत्मप्रदेश सिकुडते हैं...मंथानरूप मे बदल जाते है... तब भी कार्मण-काययोग ही होता है ।

छट्ठे समय मे भी जब आत्मप्रदेश ज्यादा सिकुडते हैं और कपाटरूप बनते हैं तब पुनः औदारिक काययोग के साथ कार्मणशरीर कार्यशील बनता है ।

सातवें समय मे जब आत्मप्रदेश और ज्यादा संकुचित होते है और दंडाकृति बनते है तब भी स्थूल व सूक्ष्म दोनो शरीर सक्रिय होते हैं ।

आठवे समय मे जब आत्मप्रदेश शरीरस्थ बन जाते हैं तब केवल औदारिक काययोग होता है । कार्मण शरीर होता है सही, पर वह सक्रिय नहीं रहता है ।

इस तरह समुद्घात के आठ समय के दौरान काययोगो का चिंतन कर के उन आठ समय मे आहार-अनाहार की स्पष्टता करते है । शरीर-रहित होने के पश्चात् तो आहार का सवाल ही पैदा नही होता । ससारी-कर्मबद्ध-शरीरधारी जीव के लिये ही आहार का प्रश्न खड़ा रहता है ।

समुद्घात के आठ समय मे तीसरे, चौथे और पाँचवे समय मे आत्मा अनाहारी होता है, चूंकि उन समय मे केवल सूक्ष्म शरीर ही सक्रिय रहता है ! आहार की आवश्यकता स्थूल शरीर को रहती है !

1 पढमट्ठमसमएसु ओरालियकायजोग जुजई, वियइछट्ठसत्तमेसु समएसु ओरालियमीसगशरीरकाययोग जुंजइ, तइयचउत्थपचमेसु कम्मसरीरकायजोगं जुंजई ।
— श्री प्रज्ञापनायाम् / पद–३६

इन तीन समय के अलावा पाच समय मे औदारिक शरीर सक्रिय हाता है, इसलिए वहा आत्मा आहारी हानी है। आहार ग्रहण करती है पर कम पुद्गल ग्रहण नही करती है।

योगनिरोध

श्लोक स समुद्घातनिवृत्तोऽथ मनोवाककाययोगवान भगवान्।
यतियोग्ययोगयोक्ता योगनिरोध मुनिरुपति ॥२७८॥

अर्थ मन-वचन काया के योग वाले वे केवलज्ञानी समुद्घात से निवृत्त होकर मुनिओं के योग्य योगो का करते हुए 'योगनिरोध' करते हैं।

विवेचन समुदघात की क्रिया से निवृत्त होने के पश्चात केवलज्ञानी मन वचन-काया के तीनो योगो म प्रवत्त रहते हैं[1]।

१ [2]अनुत्तर देवलोक के देवो का तत्त्वचिंतन अपूर्व हाता है। उनकी आत्मस्थिति वीतराग जसी होती है। अवधिज्ञान का दिव्य प्रकाश होता है उन देवो को कभी तत्त्वानुप्रेक्षा करते हुए शका या सदेह पदा हो जाता ह ता वे उसके निवारण के लिये मनुष्यलोक म नही आते। उनकी शका का निवारण केवलज्ञानी करते हैं। इसके लिये वे मनोवगणा क पुद्गल ग्रहण करके मनरुप म परिणत करते हैं। पुद्गलो की रचना ही प्रत्युत्तर स्वरुप हो जाती है अवधिज्ञान से ही वे देव देखकर समाधान प्राप्त कर लेते ह। केवलज्ञानी का यह मनो योग 'सत्यमनोयोग' होता है या 'असत्यामृषामनोयोग' होता है।

२ मनुष्यलोक मे मनुष्य या देव, केवलज्ञानी के पास आये और जिज्ञासा व्यक्त करे तब, तथा धमदेशना देते समय केवलज्ञानी भाषा-वगणा के पुदगल ग्रहण करके वचनयाग का नियाजित करते हैं। यह

1 तिणिवत्ति समुग्घाभा तिन्नि वि जोग जिणो पउजिज्जा।
सच्चमसच्चामोस व सो मण तह वई जोग ॥
ओरालकायजोग गमणाइ पाडिहारियाण च।
पच्चपए करिज्जा जोगनिरोह तभा कुणइ ॥

— चतुर्थ कर्मग्रन्थ टीकायाम

2 देवर्षिभूत्वा तदन तरमत्य ताप्रकम्प लेश्यातीत परमनिर्जराकारण ध्यान प्रतिपित्सुरवश्य योगनिरोधायोपक्रमत। — प्रज्ञापना टीकायाम्

वचनयोग **सत्यवचनयोग** या **असत्यामृषावचनयोग** होता है। दूसरे योग नहीं होते हैं।

३. केवलज्ञानी गमनागमन की व आहार-निहार की क्रिया करते होते हैं यानी काययोग तो होता ही है। यह **औदारिक काययोग** होता है।

[1]अन्तर्मुहूर्तकाल यथायोग्य तीन योग में प्रवर्तित होकर तुरंत ही 'योगनिरोध' करने का उपक्रम करते हैं...क्योंकि —

—अत्यंत निश्चल लेश्यातीत परम निर्जरा के हेतुभूत ध्यान करना होता है।

—समय समय पर होते योगनिमित्तक कर्मबन्ध को रोकना होता है।

—जब तक कर्मबन्ध चालु हो तब तक मोक्ष नही हो सकता।

श्लोक : **पंचेन्द्रियोऽथ संज्ञी यः पर्याप्तो जघन्ययोगी स्यात्।**
निरुणद्धि मनोयोगं ततोऽप्यसंख्यातगुणहीनम् ॥२७९॥

अर्थ : जो पचेन्द्रिय, संज्ञी, पर्याप्त एवं जघन्य योगवाला होता है, वे उससे भी असंख्यात गुणहीन मनोयोग को रोकते हैं!

विवेचन जब तक योग [मन-वचन-काया के] होते है वहा तक लेश्या होगी ही। **'योगपरिणामो लेश्या'** यह सिद्धात है...यानी कि लेश्यातीत ध्यान हो ही नही सकता।

दूसरी बात—जब तक योग हो तब तक कर्मबंध भी होने का ही। **'जोगा पयडिपएसं ठिई-अणुभागं कसायओ कुणइ'** यह सिद्धात है। योग से प्रकृतिबंध एवं प्रदेशबंध होता है। कषाय से स्थितिबंध व रसबंध

1 पभूण भंते! अणुत्तरोववाइया देवा तत्थ गया चेव समाणा इह गयेण केवलिणा सद्धि आलाव वा सलाव वा करेत्तए? से केणट्ठेणं भंते? गोयमा! जएण अणुत्तरोववाइया देवा तत्थ गया चेव समाणा अट्ठं वा हेउं वा पसिण वा कारण वागरण वा पुच्छति तएण इह गए केवलि अट्ठं वा० जाव वागरणं वा वागरेइ। से तेणट्ठेणं भंते इह गए केवलि अट्ठं वा जाव वागरेइ। तएणं अणुत्तरोववाइया देवा तत्थ गया चेव समाणा जाणंति, पासंति। से केणट्ठेणं भंते? गोयमा, तेसिणं देवाणं अणताओ मणोदव्ववग्गणाओ लद्धाओ पत्ताओ अभिसमण्णागयाओ भवंति, से तेणट्ठेणं जएणं इह गए केवलि०जाव पासइ।

— भगवतीसूत्रे/शतक-५/उद्देश ४

होता है। इस तरह समय समय पर कर्मबंध होना रहे तो मोक्ष नहीं हो सकता। जबकि मोक्ष में तो जाना ही है इसलिये वे महात्मा योग-निरोध करते हैं।

योगनिरोध की प्रक्रिया में सब से पहले वे मनोयोग का निरोध करते हैं। किस तरह मनोयोग का निरोध करते हैं वह यहां पर ग्रंथकार संक्षेप में बता रहे हैं।

[1] 'सज्ञी' पर्याप्त पंचेंद्रिय जीवात्मा जब अपनी पर्याप्तियां पूर्ण कर लेता है अर्थात मन पर्याप्ति पूरी होने के पहले समय में जितने मनोवर्गणा के पुद्गल ग्रहण करता है और जितना उसका मनोयोग होता है उससे असंख्य गुणहीन मनोयोग का केवलज्ञानी प्रत्येक समय में नाश करते जाते हैं। असंख्य समय में वे संपूर्ण मनोयोग का नाश कर लेते हैं—

वचनयोग का निरोध केवलज्ञानी किस तरह करते हैं उसका निरूपण करते हुए ग्रंथकार बतला रहे हैं।

श्लोक *द्वीन्द्रियसाधारणयोर्वागुच्छ्वासावधो जयति तद्वत्।*
पनकस्य काययोगं जघन्यपर्याप्तकस्याधः ॥२८०॥

अर्थ जिस तरह (जीवात्मा) मनोयोग का निरोध करता है वैसी तरह वचनयोग और श्वासोच्छ्वास का निरोध करता है। बेइन्द्रिय जीव को जो वचनयोग होता है और साधारण वनस्पति के जीव को जो श्वासोच्छ्वास होता है, उससे भी असंख्यगुण हानि से समस्त वचनयोग और श्वासोच्छ्वास का निरोध करता है। इसके पश्चात् जघन्य पर्याप्त साधारण वनस्पति के जीव को जो काययोग होता है, उससे भी असंख्य-गुणहीन काययोग का निरोध करता हुआ जीव समस्त काययोग का निरोध करता है।

---

1 पज्जत्तमत्तस्स सण्णिस्स जत्तियाइं जहण्णजोगिस्स।
होंति मणोदव्वाइं तव्वावारो य जम्मत्ता ॥
तदसंखगुणविहीणं समए समए निरुंभमाणो सो।
मणसो सव्वनिरोहं करे असंखेज्ज समएहिं ॥

—प्रज्ञापनाटीकायाम

विवेचन [1]पर्याप्त दोइन्द्रिय जीव को जो जघन्य वचनयोग होता है, उससे असख्यगुणहीन वचनयोग को केवलज्ञानी समय समय मे नष्ट करते जाते हैं। सपूर्ण 'वचनयोग' का नाश करने मे असख्य समय लगता है।

[2]पर्याप्त साधारण–वनस्पति के जीव को प्रथम समय मे जो श्वासोच्छ्वास होते है, उससे असख्यातगुणहीन श्वासोच्छ्वास को प्रतिसमय अवरुद्ध करता जाता है। इस 'श्वासोच्छ्वास' का सपूर्ण निरोध करने मे असख्य समय लगता है।

[3]वचनयोग और श्वासोच्छ्वास का निरोध करने के पश्चात् केवलज्ञानी काययोग का निरोध इस तरह करते है : सूक्ष्म अपर्याप्त साधारण वनस्पति के जीव को, उत्पत्ति के प्रथम ही समय मे कि जब जीव को सर्वाल्प वीर्य होता है, तब उसका जो काययोग होता है, उससे असख्यातगुणहीन काययोग का समय समय मे निरोध करते हुए केवलज्ञानी असख्य समय मे सपूर्ण काययोग का निरोध करते है। ['योग-निरोध' का और ज्यादा गहराई से स्वरूप समझने के लिये **पंचसंग्रह** ग्रंथ की टीका का सर्वांगीण अध्ययन करना चाहिए।]

तीसरा-चौथा शुक्लध्यान

श्लोक **सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति काययोगोपगतो ध्यात्वा ।**
विगतक्रियमनिवर्तित्वमुत्तरं ध्यायति परेण ॥२८१॥

अर्थ : काययोग का निरोध करती हुई आत्मा सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती [तीसरा शुक्लध्यान] रचाकर फिर विगतक्रिया-अनिवर्ती [चौथा शुक्लध्यान] लगाती है।

---

1 तओ अणतर बेइन्दियपज्जत्तगस्स जहण्णजोगिस्स हेट्ठा असंखिज्जगुणपरिहीण दोच्च वतिजोग निरु भति। —प्रज्ञापनायाम्/पद-३६, सूत्र-३४६

2 'पचसग्रह' की टीका मे—वादर काययोग के आलबन वादर मनोयोग से का अ तमुंहूर्त मे निरोध करता है....अन्तर्मुहूर्तकाल उसी अवस्था मे रहते हुए श्वासोच्छ्वास का निरोध करता है—इस तरह का प्रतिपादन है.. .तत्त्व केवली गम्य है।

3 तओ अणतर चण सुहुमस्स पणगजीवस्स अपज्जवयस्स जहण्णजोगिस्स हेट्ठा असखेज्जगुणपरिहीण तच्च कायजोग निरु भति। —प्रज्ञापनायाम्/पद-३६

विवेचन काययोग का निरोध करते हुए केवलज्ञानी भगवंत को तीसरा शुक्लध्यान होता है। अर्थात वे 'सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती' नामक ध्यान में 'काययोग' से मुक्त होते हैं। परंतु, केवलज्ञानी का यह ध्यान काया की स्थिरतारूप ही होता है, जबकि छद्मस्थ जीव का यह ध्यान मन की स्थिरतारूप होता है।

जब काययोग के निरोध की प्रक्रिया चलती है तब आत्मस्पंदात्मिका सूक्ष्मक्रिया होती है, वह क्रिया अ निवृत्त (अप्रतिपाती) होती है, अत इस ध्यान का नाम 'सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती' है।

तेरहवे 'सयोगी केवली' गुणस्थानक के चरम समय में निम्न दर्शित सात पदार्थ नष्ट हो जाते हैं एक ही साथ नष्ट हो जाते हैं।

१ तीसरा शुक्लध्यान, २ सवकीट्टी [तीन योगो को कम करने की सूक्ष्म प्रक्रिया], ३ शाता वेदनीय कर्म का बंध, ४ नामकर्म और गोत्रकर्म की उदीरणा, ५ शुक्ललेश्या ६ स्थितिघात रसघात, ७ तीन योग।

इसके पश्चात आत्मा, चौदहवें 'अयोगी केवली गुणस्थानक' पर पहुँच जाती है। इस गुणस्थानक पर सूक्ष्म बादर कोई योग नही होता है। शेष कर्मों का क्षय करने के लिये आत्मा यहा पर 'विगतक्रिया अनिवर्ती' नामक चतुर्थ शुक्लध्यान में प्रविष्ट होती है।

स्थितिघात वगैरह किसी भी तरह की कोशिश के बगर, केवलज्ञानी महात्मा शेष कर्मों को भुगतकर नष्ट करते हैं। जो कर्म सत्ता में होते हैं, उदय में नहीं होते, उन कर्मों को वेद्यमान कर्मों में संक्रमित करके नष्ट करते हैं।

मुक्ति प्राप्त करने की पूर्वक्षणों में केवलज्ञानी का शरीर कितना हो जाता है उसका वर्णन करते हुए कहते हैं

अवगाहना कम होती है

श्लोक चरमभवे संस्थानं यादृग् यस्योच्छ्रयप्रमाणं च।
तस्मात् त्रिभागहीनावगाह-संस्थानपरिणाह ॥२८२॥

अर्थ अंतिमभव में जैसा जिसका संस्थान हो [आकार आकृति हो] और ऊँचाई हो उससे तृतीयांश कम हो जाता है।

विवेचन आत्मा शरीरव्यापी है।

जितने कद का शरीर हो....उस शरीर मे स्थित आत्मा का प्रमाण [कद] भी उतना ही होता है। यानी शरीर की जो आकृत्ति - ऊँचाई हो वही आकृति और ऊँचाई आत्मा की। केवलज्ञानी के लिये भी यही नियम होता है, परन्तु शरीर के नाक, कान, मुख, पेट वगैरह काफी हिस्सा खाली होता है। उन खाली हिस्सो मे आत्मप्रदेश नही होते है। केवलज्ञानी जब 'काययोग' का निरोध करते है तब, 'सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती' ध्यान के द्वारा, शरीर के वे रिक्त हिस्से घनीभूत हो जाते है, अर्थात् शरीर सिकुडता है.. .उसके साथ आत्मप्रदेश भी शरीर के अनुरुप हो जाते है। शरीर की आकृति और ऊँचाई, तीसरे हिस्से की कम हो जाती है, घट जाती है। शरीर के रिक्त हिस्से नही रहते है।

यह क्रिया पूर्ण होने पर काययोग के निरोध की क्रिया पूरी होती है....'सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती' ध्यान भी पूर्ण होता है।

चरम शरीर की आकृति और ऊँचाई का तीसरा भाग घटते ही जो आकृति एवं ऊँचाई शेष रहती है...आत्मा की भी वही आकृति और वही ऊँचाई हो जाती है। मोक्ष मे–सिद्धावस्था में भी आत्मप्रदेशों की अवगाहना उस तरह की ही रहती है!

श्लोक : **सोऽथ मनोवागुच्छ्वासकाययोगक्रियार्थविनिवृत्तः।**
अपरिमितनिर्जरात्मा संसारमहार्णवोत्तीर्णः ॥२८३॥

अर्थ . मनोयोग, वचनयोग, श्वासोच्छ्वास और काययोग के निरोध की क्रिया से निवृत्त हुई वह आत्मा कर्मों की अपरिमित निर्जरा करती है और ससाररूप महासागर को तैर जाती है।

विवेचन . चाहे.. .अभी तो आत्मा तेरहवे गुणस्थानक के चरम समय मे से...चौदहवे गुणस्थानक मे प्रविष्ट हो रही है, फिर भी वहा नही होती है कोई मन की क्रिया या वचन की क्रिया, नही होती है श्वास लेने-छोडने की कोई क्रिया...नही कोई शारीरिक क्रिया-प्रक्रिया शेष रहती है ! उस समय मे आत्मा की स्थिति कैसी होती है, उसका ग्रन्थकार विश्लेषण बतला रहे हैं। दो विशिष्ट बाते बताते हैं :

- अपरिमित निर्जरा।
- ससारसागर का किनारा

हालांकि अतिम ७२ + १३ [मतान्तर से ७३ + १२] कर्मप्रकृतियाँ अभी जुडी हुई हैं आत्मा के साथ। आत्मा कर्मबद्ध है फिर भी उन कर्मों की निजरा निश्चितरूप से होती है और बहुत अल्प समय में भवसागर के किनारे [सिद्धशिला] पर उतर जाने का होने से भगवान उमास्वाती 'ये तो लग गये किनारे पहुँच गये उस पार' बोल उठते हैं।

शेष ८५ कर्मों की निजरा कब और किस आत्मस्थिति में करते हैं, उसका स्पष्ट वर्णन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं

शैलेशी अवस्था

श्लोक ईषद्ध्रस्वाक्षरपञ्चकोद्गिरणमात्रतुल्यकालीयाम ।
संयमवीर्याप्तबल शैलेशीमेति गतलेश्य ॥२८४॥

अर्थ संयम और वीर्य से प्राप्त किए हुए बलशाली और अलेशी यत्नशाली हुए एक पाँच ह्रस्वाक्षरों के [इ उ ऋ ऌ म] उच्चारण काल प्रमाण शैलेशी को प्राप्त करते हैं।

विवेचन चौदहवें गुणस्थानक पर कोई लेश्या नहीं होती। योग ही नहीं तो लेश्या भी नहीं। आत्मा अलेशी—लेश्यारहित होती है अतिम गुणस्थानक पर। न योग ..न लेश्या। न कर्म का बंध। केवल कर्मों की निजरा ही निजरा।

वहा होता है 'व्युपरतक्रिया अनिवर्ती' नामक चतुर्थ शुक्लध्यान और वहा होता है आत्मा के अनत वीर्य में से और श्रेष्ठ संयम में से प्रादुर्भूत अनुत्तर बल। ऐसी आत्मा वहा शैलेशी अवस्था को प्राप्त करती है। इस शैलेशी अवस्था का समय कितना होता है? उतना ही कि जितना समय 'इ उ ऋ ऌ म' ये पाँच ह्रस्वाक्षर बोलने में लगे।

[1]शैलेशी व्युत्पत्ति अर्थ

शैल यानी पर्वत, और शैलेशी अर्थात् पर्वतों का राजा मेरु। मेरु

1 सेलेसो किल मेरु सेलेसी होई जा तहाऽचलया।
होउ च असेलेसी सेलेसी होई थिरयाए ॥३०६५॥
अहवा सेलोव्व इसी सलसी होई साऽतिथिरयाए।
स च अलसी होई सेलेसी होयाऽलोवाओ ॥३०६६॥
सील व समाहाण निच्छयओ सव्वसंवरो सोय।
तस्सेसो सीलेसो सेलेसी होई तदवत्था ॥३०६७॥
—विशेषावश्यक भाष्ये

कैसा स्थिर होता है ? उसके जैसी आत्मावस्था 'शैलेशी अवस्था' कही गयी है ।

—या, ऋषि-मुनि शैलेश जैसे स्थिर होते हैं, उनकी स्थिरता को शैलेशी कहा जाता है । शैलेशी यानी ऋषि-मुनिओं की स्थिरता !

'सेअलेशी' [वह अलेशी] में से 'अ' का लोप हो जाने से 'सेलेसी' हो जाता है । [आत्मा इस अवस्था में अलेशी होती है उस पर आधारित यह एक अर्थ निकाला गया है ।]

—शील का एक अर्थ है समाधान । चौदहवें गुणस्थानक पर समूचे संसार का समाधान है । उस समाधान को प्राप्त करनेवाली आत्मा शीलेश कही जाती है—उस अवस्था का नाम शैलेशी !

—शील का दूसरा अर्थ है 'सर्वसंवर' । अयोगी गुणस्थान सर्वसंवर का है । वह सर्वसंवर करनेवाली आत्मा शीलेश कही जाती है । उसकी अवस्था का नाम होगा शैलेशी ।

शैलेशी कार्य

असंख्य गुणश्रेणि में पहले जमे हुए कर्मों का प्रत्येक समय में क्षय करता है । [गुणश्रेणी यानी उदय समय से पीछे पीछे के समय में असंख्य–असंख्य गुणाकारयुक्त कर्मदलिकों की रचना][1]

—अयोगी गुणस्थानक के द्विचरम समय में [चरम समय के पहले के समय में] ७२ कर्मप्रकृतियों का क्षय करता है ।

—चरम समय में १३ कर्मप्रकृतियों का क्षय करता है :

१ मनुष्यगति, २. मनुष्यानुपूर्वी, ३ मनुष्य-आयुष्य, ४ पंचेन्द्रिय जाति, ५ त्रस नाम, ६ बादर, ७ पर्याप्त, ८. सुभग, ९. आदेय, १०. वेदनीय, ११. उच्चगोत्र, १२ यश, १३. जिननाम [यदि तीर्थंकर हो तो, सामान्य केवली हो तो बारह प्रकृतियों को नष्ट करते हैं]

1 तदसंखेज्जगुणाए गुणसेढीए रइय पुराकम्मं ।
समए समए खवयं कमसो सेलिकालेण ॥२०८२॥

2 मणुयगई-जाइ-तस-बायर च पज्जत्त-सुभगमाएज्जं ।
अन्नयरवेयणिज्जं नराउमुच्चं जसोनाम ॥
संभवओ जिणनाम नराणुपूव्वी य चरिमसमयम्मि ।
सेसा जिणसंताओ दुचरिमसमयम्मि निन्दति ॥

यही बात [शलेशी अवस्था मे होनेवाले कार्य की] ग्रन्थकार स्वय दो कारिका के द्वारा कहते रहे हैं।

श्लोक पूर्वरचित च तस्या समस्थेय्यामथ प्रकृतिशेषम ।
समये समये क्षपयत्यसख्यगुणमुत्तरोत्तरत ।।२८५।।

चरमे समये सख्यातीतान विनिहंति चरमकर्मांशान ।
क्षपयति युगपत कृत्स्न वेद्यायुर्नामगोत्रगणम ।।२८६।।

अर्थ पहले की शेष कर्मप्रकृतियो को [वेदनीय नाम, गोत्र आयुष्य का] शलेशी की समयपक्ति म, प्रत्येक समय म असख्यगुणा असख्यगुणा खपाता है।

अतिम समय म, असख्य चरम कर्माशो का नाश करता है। व तरह एक साथ समस्त वेदनीय नाम गोत्र और आयुष्यकर्म का नाश करता है।

विवेचन 'शलेशी' काल के प्रत्येक समय मे, शेष कर्मों की प्रकृतिया को असख्यगुणी असख्यगुणी खपाता है। ७२ कर्मप्रकृतियो स्वरूप-सत्ता से नष्ट होती हैं, वे निम्न हैं

देवद्विक, शरीरपचक, अगोपाग-३ बधन ५ सस्थान-५, सघयण-६, सघातन-५, शुभ विहायोगति, अगुरुलघु, निर्माण, उपघात, पराघात, उच्छ्‌वास, अशुभ विहायोगति, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दु स्वर, दुभग, अनादेय, अयश, प्रत्येक, अपर्याप्त, नीचगोत्र, और शाता-अशाता म से एक।

चरम समय मे शेष १३ कर्मप्रकृतिया का सत्ताविच्छेद होता है।

शरीर का त्याग

श्लोक सर्वगतियोग्यससारमूलकरणानि सर्वभावीनि ।
औदारिक-तैजस कार्मणानि सर्वात्मना त्यक्त्वा ।।२८७।।

देहत्रयनिर्मुक्त प्राप्य ऋजुश्रेणिवीतिमस्पर्शाम् ।
समयेनैकेनाविग्रहेण गतोर्ध्वमप्रतिघ ।।२८८।।

सिद्धिक्षेत्रे विमले जन्मजरामरणरोगनिर्मुक्त ।
लोकाग्रगत सिद्ध्यति साकारेणोपयोगेन ।।२८९।।

अर्थ : सर्व गति [नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव] के योग्य संसार-परिभ्रमण [जन्म-मृत्यु] मे निमित्त व सर्वत्र होनेवाले [चार गति मे] औदारिक, तैजस, कार्मण [कही पर वैक्रिय-तैजस-कार्मण] शरीरो का उनके सर्वस्वरूप मे त्याग करके...

तीन देह से सर्वथा मुक्त आत्मा, स्पर्शरहित ऋजुश्रेणी प्राप्त करके, विग्रहगतिरहित, एक ही समय मे अप्रतिहत गति से ऊपर जाकर...

जन्म-जरा-मरण-रोग से सर्वथा मुक्त आत्मा, लोक के अग्रभाग पर जाकर विमल ऐसे सिद्धिक्षेत्र मे साकारोपयोग से सिद्ध बनती है।

विवेचन : जिसका अस्तित्व चारो गति मे सर्वत्र है और जीव के ससार-परिभ्रमण का जो मूल कारण है, उस शरीर के बारे मे कुछ विस्तृत समझना चाहिए। यहा प्रमुखतया 'द्रव्यलोकप्रकाश', 'कर्मग्रन्थ-टीका' एव 'तत्त्वार्थसूत्र' इन तीन ग्रथो के आधार पर विवेचन किया जा रहा है।

अलबत्ता, देहधारी जीव अनत है। हर एक जीव के शरीर अलग अलग होने से शरीर भी अनत है। परन्तु उन-उन शरीरो की रचना की दृष्टि से, कार्य की दृष्टि से एव गुणवत्ता की दृष्टि से शरीर के पाँच विभाग बतलाये गये है।

[1]जिनेश्वरदेवो ने शरीर के पाँच प्रकार बतलाये है —

१. औदारिक
२. वैक्रिय
३. आहारक
४. तैजस
५. कार्मण

शरीरो की व्याख्या :—

१ [1]'उदार' शब्द पर से 'औदारिक' शब्द बना है। उदार यानी श्रेष्ठ। इस शरीर की श्रेष्ठता, तीर्थंकर भगवत एव गणधर भगवंतो के शरीर की अपेक्षया समझनी है। औदारिक-वर्गणा के श्रेष्ठ पुद्गलो से बननेवाले शरीर को औदारिक शरीर कहा जाता है।

1 औदारिकं वैक्रिय च देहमाहारकं तथा।
तैजसं कार्मणं चेति देहा पञ्चोदिता जिनै ॥ — द्रव्यलोकप्रकाशे
औदारिक-वैक्रियाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि। — तत्त्वार्थसूत्रे

[1]'कर्मग्रन्थ' की टीका मे उदार का अर्थ शरीर की ऊँचाई करके कहा गया है कि 'पाँचो शरीर मे सबसे ज्यादा ऊँचाई औदारिक शरीर की होती है। ज्यादा से ज्यादा एक हजार योजन से भी कुछ अधिक ऊंचाई होने से वह औदारिक कहा जाता है। [वैक्रिय शरीर की ऊँचाई (सहज भवधारणीय) से औदारिक शरीर की ऊँचाई ज्यादा होती है। उत्तरवैक्रिय शरीर की अपेक्षा से नही। उत्तर वैक्रिय शरीर तो एक लाख योजन का भी संभवित है]

'औदारिक शरीर नामकर्म' के उदय से औदारिक शरीर के प्रायोग्य पुद्गल ग्रहण करके औदारिक शरीररूप मे परिणमित करे और आत्म-प्रदेशो के साथ अभेदरूप मे संबंधित करते हैं।

२ [2]जो शरीर कभी छोटा, कभी बडा, कभी पतला, कभी चौडा, कभी एक तो कभी अनेक, कभी दृश्य तो कभी अदृश्य इत्यादि विविध विक्रियाएं धारण कर सकता है, वह है वैक्रिय शरीर।

एक मे से अनेक होनेवाला, अनेक मे से एक होनेवाला, छोटे मे से बडे होनेवाला, बडे मे से छोटा होनेवाला, आकाश मे से जमीन पर आनेवाला, व जमीन पर से आकाश मे उडनेवाला दृश्य मे से अदृश्य होने वाला, अदृश्य मे से दृश्य होनेवाला, यह वैक्रिय शरीर दो प्रकार का होता हैं। [3]औपपातिक और लब्धिजन्य। देवो का और नरक के जीवो का जन्म मे जो शरीर होता है वह औपपातिक कहलाता है। मनुष्य एवं तिर्यंचो का वैक्रिय लब्धि से यह शरीर मिलता है यानी वे वैक्रिय शरीर बना सकते हैं उसे कहते हैं लब्धिजन्य।

---

1 यद्वोदार सातिरेकयोजनसहस्रमानत्वाच्छेषशरीरापेक्षया बृहत्प्रमाण बृहत्ता चास्य वैक्रिय प्रति भवधारणीयसहजशरीरापेक्षया द्रष्टव्या।
[प्रथम कर्मग्रन्थ टीकायाम]

2 क्रिया विशिष्टा नाना वा विक्रिया तत्र संभवम् ॥
एकानेकमनेक वा दीर्घ ह्रस्व महल्लघु।
भवेद् दृश्यमदृश्य वा भूचर वापि खेचरम् ॥ [द्रव्यलोकप्रकाश]

3 तच्च द्विधा औपपातिक लब्धिप्रत्यय च। तत्रौपपातिकमुपपातजन्मनिमित्त, तच्च देवनारकाणा, लब्धिप्रत्यय तिर्यङ्मनुष्याणाम्। [कर्मग्रंथ टीकायाम्]

'वैक्रियशरीर नामकर्म' के उदय से वैक्रिय शरीर के योग्य पुद्गल जीव ग्रहण करता है और उन पुद्गलो को वैक्रिय शरीररूप मे परिणत बनाता है। वह शरीर आत्मप्रदेशो के साथ घुलमिल जाता है।

३ [1]आकाश और स्फटिकरत्न के समान स्वच्छ–निर्मल व अनुत्तर देवलोक के देवो की काति से भी ज्यादा दीप्तिमान् आहारक शरीर होता है। यह शरीर चौदहपूर्वधर (श्रुतकेवली) महात्मा बनाते है। तीर्थंकर भगवत की शोभा देखने के लिये या कोई अन्य विशिष्ट प्रयोजन से दूर रहे हुए श्रुतकेवली यह शरीर बनाते है। विशिष्ट लब्धि से (आहारक लब्धि) जिसका निर्माण हो सकता हो वह आहारक शरीर कहलाता है। मन:पर्यवज्ञानी और चारणमुनि इस लब्धि से निर्माण कर सकते है। शास्त्रों के अभ्यास से 'आमर्ष औषधि' आदि की ऋद्धि प्राप्त होने से भी आहारक शरीर बनाया जा सकता है।

'आहारक शरीर नामकर्म' के उदय से आहारक शरीर के योग्य पुद्गल ग्रहण करके आहारक शरीर के रुप मे परिणमन करते हैं। परिणमन करके जीवप्रदेश के साथ एकरस बनाते है।

४ [2]'तैजस' यानी उष्ण। उष्ण पुद्गलो से तैजस शरीर का निर्माण होता है। इस शरीर से तेजोलेश्या वगैरह सिद्ध की जा सकती है। भोजन किये हुए आहार का परिणमन (पाचन) भी यही शरीर करता है। जिस जीवात्मा को किसी विशिष्ट तपश्चर्या से लब्धि प्राप्त होती है उसे, प्रयोजन उपस्थित होने पर तैजस शरीर मे से तेजोलेश्या निकलती है और कार्य-प्रयोजन सिद्ध कर देती है। यह तैजस शरीर सभी जीवों को होता है।

---

1 आकाशस्फटिकस्वच्छं श्रुतकेवलिना कृतम्।
अनुत्तरामरेभ्योऽपि कान्तमाहारकं भवेत्॥

श्रुतावगाहाप्तामर्षौषध्याद्यृद्धि: करोत्यद।
मनोज्ञानी चारणो वोत्पन्नाहारकलब्धिक॥ [द्रव्यलोकप्रकाशे]

2 सव्वसउन्हसिद्ध रसाइआहारपागजणग च।
तेअगलद्धिनिमित्त च तेअग होई नायव्व॥ [जीवाभिगमसूत्र-टीका]

[1]तजस शरीर मे से निकली हुई तेजोलेश्या के द्वारा जिस तरह क्रुद्ध जीवात्मा अन्य का निग्रह कर सकता है (जला सकता है) उसी तरह तजस शरीर मे से शीतलेश्या भी निकलती है। इस शीतलेश्या से जीवात्मा यदि तुष्टमान हो तो अनुग्रह भी करता है।

तजस शरीरनामकर्म के उदय से तजस शरीर के योग्य पुदगलो का ग्रहण करके तैजस शरीर के रूप मे परिणत करता है और आत्म-प्रदेशो के साथ एकरस बनाता है।

५ [2]जीवप्रदेशो के साथ क्षीर नीर की भाति एकरस होकर घुल गये अनत कर्मप्रदेश ही कार्मण शरीर है। 'कर्मणो विकार कार्मणम्'। कर्मों का विकार वह है कार्मण शरीर। औदारिक वगरह चार शरीरो का बीजरूप यह कार्मण शरीर है।

—भववृक्ष के बीजभूत इस कार्मण शरीर का नाश हो जाने पर शेष शरीरो का जन्म नही हो सकता है।

एक गति से मे दूसरी गति मे जाते हुए जीव का यह कार्मण शरीर (तजस शरीर के साथ) सहायककारण है। तजस—कार्मण शरीर से सहित आत्मा मृत्युदेश को छोडकर उत्पत्तिदेश की तरफ जाती है।

प्रश्न यदि कार्मण शरीर के साथ जीव दूसरी गति मे जाता है तो वह आता जाता क्यो दिखायी नही देता है?

उत्तर कार्मण शरीर और तजस शरीर के पुदगल अतिसूक्ष्म होते है अत वे इन्द्रियगोचर नही है। दिख नही सकते।

कार्मण शरीरनामकर्म के उदय से जीवात्मा कार्मणशरीर के योग्य पुदगलो को ग्रहण करके कार्मणशरीर के रूप मे परिणमित करता है। और आत्मप्रदेशो के साथ एकरस बनाता है।

इस तरह पाच शरीरो का स्वरूप दर्शन-करके अब, प्रस्तुत मे औदारिक, तजस, और कार्मण—इन तीन शरीरो का विषय होने से उनके बारे मे विशेष जानकारी अपन प्राप्त कर ले

1 यस्मादव भवत्यव शीतलेश्याविनिर्गम ।
स्याता च रोषतोषाभ्या निग्रहानुग्रहाविति ॥ [द्रव्यलोकप्रकाशे]

2 क्षीरनीरवदन्योन्य श्लिष्टा जीवप्रदेशक ।
कर्मप्रदेशा येऽनन्ता कार्मण स्यात् तदात्मकम् ॥
सर्वेषामपि देहाना हेतुभूतमिद भवेत् ।
भवान्तरगतौ जीवसहाय च सतत्तम् ॥ [द्रव्यलोकप्रकाशे]

- देवगति मे जानेवाला जीव मस्तक मे से निकलता है और
- मोक्ष मे जानेवाला जीव सभी अंगो से निकलता है।

संसार मे जकडकर रखनेवाले कर्मो का अंत होते ही, उसी क्षण, अन्तराल गति मे बीच मे रहे हुए अवकाश प्रदेशो का स्पर्श किये वगैर आत्मा ऊपर उठती हुई सिद्ध हो जाती है।

अंतराल गति दो प्रकार की होती है :

ऋजु एवं वक्र।

—मोक्ष मे जानेवाले जीव की ऋजुगति होती है। जब वह अपना पूर्व शरीर छोडता है तब उसे पूर्व शरीरजन्य वेग मिलता है. इस से वह धनुष मे से छूटे हुए तीर की भांति सीधा ही सिद्धशिला पर पहुँच जाता है।

—चार गति मे से किसी भी गति मे जानेवाले जीव की अंतराल गति वक्र होती है। टेढी गति से जानेवाले जीव को भी पूर्वशरीर-जन्य वेग मिलता है, लेकिन वह वेग, जहा से जीव को मुड़ना पड़ता है, वहा तक ही कार्य करता है। वहा से आगे बढ़ने के लिए जीव के साथ रहा हुआ कार्मण शरीर प्रयत्न करता है। इसलिए आगमो मे कहा गया है विग्रहगति [अंतरालगति] मे कार्मणयोग ही होता है।

कहने का मतलब यह है कि वक्रगति से जानेवाला जीव केवल पूर्व शरीरजन्य प्रयत्न से नये स्थान पर नही पहुँच सकता है। उसके लिये नया प्रयत्न कार्मण शरीर से होता है।

—जीव की स्वाभाविक गति तो सीधी ही है.... सीधी गति को 'अनुश्रेणि-समश्रेणी' कहा जाता है। उसका अर्थ यह है कि पहले जिस आकाशक्षेत्र मे जीव स्थित होता है, वहा से गति करते समय उसी आकाशक्षेत्र की सरल-सीधी रेखा मे ऊपर चला जाता है। श्रेणि का अर्थ है : पूर्वस्थान जितनी ही [कम नही या ज्यादा नही] सरलरेखा-समांतर—सीधी लाईन है। ऋजुगति से मोक्ष मे जाते समय सीधी रेखा का भंग नही होता यानी कि एक भी मोड नही आता बीच मे। वह तो पूर्व स्थान से सीधी-सरलरेखा मे मोक्षस्थान पर पहुँच जाता है। बिल्कुल भी आगे-पीछे नही।

—अनराल गति की समयमर्यादा जघन्य से एक समय की है और उत्कृष्ट चार समय की है। ऋजुगति हो तब एक समय और वक्रगति हो तब दो तीन या चार समय की होती है। इस समय की सख्या का आधार मोड की सख्या पर निभर है। वक्रगति मे एक मोड हो तो काल दो समय का लगेगा, दो मोड हो तो तीन समय का और तीन मोड हो, तो काल चार समय का लगेगा।

'कारिका २८७ मे ग्रथकार ने 'अस्पशाम् ऋजुश्रेणिवीतिम्' कहा है। स्पशरहित ऋजुश्रेणि मे ऊपर जाती है आत्मा। अर्थात् सिद्धशिला तक पहुँचने के रास्ते म जो आकाशप्रदेश आते हैं उसे स्पश किये बिना गति करती है। इस गति का नाम 'अस्पृशद् गति' है। यदि बीच के प्रदेशो को छूते हुए गति करे तो आत्मा एक समय म सिद्धशिला पर पहुँच नही सकती, इसलिए वह बीच के प्रदेशो को स्पश नही करती।[1]

इस बारे मे दो अन्य मत भी हैं।

१ 'महाभाष्य' की टीका म कहा गया है कि जीव जिन आकाश प्रदेशो को छूकर रहा हो उस सिवाय के अन्य आकाशप्रदेशो को स्पश किये बगर गति करता है।

२ 'पचसग्रह' की टीका मे कहा गया है कि जितने आकाशप्रदेशो की अवगाहना कर के जीव यहा रहा होता है उतने ही आकाशप्रदेशो की, ऊपर जाते समय अवगाहना करता जाता है।'

इन भिन्न मतव्यो के बारे अपन कुछ भी नही कहेगे, चू कि तत्त्व तो सवज्ञ जानते हैं। प्रशमरति के टीकाकार आचायश्री का मत 'पचसग्रह' की टीका का एव महाभाष्य की टीका के पक्ष मे है। उन्होने कहा है कि 'न स्वावगाहप्रदेशात् प्रदेशान्तर स्पृशतीत्यस्पर्शोऽयुच्यते।'

'ईषत्प्राग्भारा' पृथ्वी

जन्म-जरा-मरण-रोग मे सवथा एव सवदा मुक्त हुई आत्मा लोक के अग्रभाग पर गई हुई, विमल बसे सिद्धिक्षेत्र मे साकारोपयोग स सिद्ध बनती है।'

1 अत्र च अस्पृशती सिद्धयन्तरालप्रदेशान् गतिर्यस्य स अस्पृशद् गति। अन्तराल प्रदेशस्पशन हि नकेन समयेन सिद्धिरिष्यते। तत्र च एक एव समय, अत अन्तराले समयान्तरस्याभावात् अन्तराप्रदेशानामसस्पर्शनम्॥

—औपपातिकसूत्र-टीकायाम्

लेश्यामुक्त, योगमुक्त, कर्ममुक्त एव देहमुक्त वनी हुई आत्मा जन्म-जरा-मृत्यु-रोग मे मुक्त है। अब चार गति मे मे किसी भी गति मे उसका जन्म नही होगा। जन्म ही नही....फिर रोग तो होगे ही कैसे ? वृद्धत्व का सवाल ही नही, और मौत का भी डर नही !

जन्म-जरा-मृत्यु और रोग से मुक्त आत्मा ससार मे नही रह सकती ! ऊर्ध्वगमन करती हुई वह आत्मा एक ही समय मे लोकाग्र पहुँच जाती है। लोक के अग्रभाग पर रुक जाती है। अलोक मे वह प्रवेश नही कर पाती। चूकि जीव और पुद्गल की गति मे सहायक धर्मास्तिकायद्रव्य लोकाग्र तक ही होता है। चाहे आत्मा परमशुद्ध हो....और अनत शक्तिसपन्न हो फिर भी गतिसहायक धर्मास्तिकाय के वगैर स्वतत्ररुप से वह गति नही कर सकती !

लोक [चौदह राजलोक] के अग्रभाग पर 'इषत् प्राग्भारा' नामक पृथ्वी है। वह सिद्धभूमि है। 'ठाणागसूत्र,' 'पन्नवणासूत्र' मे इस पृथ्वी के अनेक नाम बताये गये है। जैसेकि मुक्ति, सिद्धि, मुक्त्यालय, सिद्धालय, लोकाग्रा, लोकाग्रस्तूपिका, सर्वप्राण-भूत-जीव-सत्त्व-सुखावहा, वगैरह।

[1]'उत्तराध्ययनसूत्र' में इस 'इषत्प्राग्भारा' पृथ्वी का वर्णन इस प्रकार मिलता है -

* अनुत्तर देवलोक मे स्थित सर्वार्थसिद्ध विमान से यह पृथ्वी १२ योजन ऊँचाई पर है।
* उर्ध्वमुख छत्र के आकारवाली है।
* ४५ लाख योजन के आयामवाली है [Diameter] १,४२,३०,२४९ योजन की परिधि है [Circumference] बीच मे से आठ योजन चौड़ी है...फिर चारो तरफ सभी दिशाओ मे पतली हो जाती है....अतिम छोर तो मक्खी की पाख से भी पतला होता है।

1 बारसहि जोयणेहि सव्वट्ठस्सुवरिं भवे ।
ईसीपब्भारनामा पुढवी छत्तसंठिया ॥
पणयालीस सयसहस्सा जोयणाण तु आयया ।
तावइय चेव वित्थिन्ना तिगुणो तस्सेव परिरओ ॥
अट्ठजोयण वाहल्ला सामज्झम्मि वियाहिया ।
परिहायमाणचरं ता मच्छीय-पत्ताओ तणुयरी ॥ उत्तराध्ययनसूत्रे/अ० ३६

'औपपातिक सूत्र' में 'इषत्प्राग्भारा पृथ्वी का वर्णन इस प्रकार किया गया है

— शखचूर्ण जसी विमल है।

— मृणाल, चन्द्रकिरण, तुषार, गो क्षीर जसे श्वेत धवल होते है वसी शुभ्र होती ह।

— समग्र पृथ्वी श्वेत सुवर्णमयी है।

— निर्मल है निष्पक है दर्शनीय है प्रासादिक है, शुभ है सुखप्रदा है।

यह इषत्प्राग्भारा पृथ्वी 'सिद्धशिला' के नाम से फिलहाल पहचानी जाती है। ग्रन्थकार ने उसका नाम सिद्धिक्षेत्र सिद्धक्षेत्र दिया है। तीन देह से मुक्त हुई, जन्म जरा-मृत्यु से विमुक्त हुई आत्मा इस 'इषत्प्राग्भारा पृथ्वी पर पहुँच जाती है।

[1]वहा वह 'साकारोपयोग से सिद्ध होती है।

— ज्ञानोपयोग को 'साकारोपयोग' कहा गया है। दर्शनोपयोग को अनाकारोपयोग' कहा गया है।

[2]सिद्धो के केवलज्ञान का 'साकारोपयोग' कहा गया है। सब लब्धियो की प्राप्ति 'साकारोपयोग' में मानी गयी है। सिद्ध होना यह भी एक प्रकार की लब्धि है। अत प्रथम समय में मुक्तात्मा साकारोपयोग (ज्ञानोपयोग) मे होती है दूसरे समय में मुक्तात्मा 'अनाकारोपयोग [दर्शनोपयोग] मे होती है।

[श्री सिद्धसेन दिवाकरसूरिजी के मत से एक ही समय में ज्ञानो पयोग-दर्शनोपयोग होता है अर्थात् उन्हो ने मुक्तात्मा का साकारोपयोग मे ही माना है।

ग्रन्थकार अब मार्ग में सुख का और मुक्तात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते है—

1 रिजुसेढी पडिवन्नो समयपएसतर अफुसमाणो ।
एग समएण सिज्झइ अह सागारोवउत्तो सो ॥

2 सव्वाओ लद्धिओ ज सागारोवओगलाभाओ ।
तेणेह सिद्ध लद्धी उप्पज्जइ तदुवउत्तस्स ॥ —विशेषावश्यकभाष्य टीकायाम

मोक्षसुख :

श्लोक : सादिकमनन्तमनुपममव्याबाधस्वभावजं स प्राप्तः ।
केवलसम्यग्ज्ञानदर्शनात्मा भवति मुक्तः ॥२८७॥

अर्थ : [illegible]

[illegible]

विवेचन : [illegible]

१. सादि-अनन्त, २. अनुपम, ३. अव्याबाध ।

१. सादि = आरम्भ, सादि = प्रारम्भयुक्त...मुक्त आत्मा का सुख प्रारम्भयुक्त होता है... उसकी शुरूआत होती है... उसका सुख अनादि नहीं है। कर्मों का क्षय होता है...तब आत्मा के सुख की उत्पत्ति होती है...इसलिए उसे 'सादि' कहा जाता है...सादि है... फिर भी अनंत है। उस सुख का कभी अंत नहीं आता है। अमर आत्मा का सुख भी अनन्त ही होता है।

२. दुनिया में ऐसी कोई उपमा-तुलना नहीं है जो मुक्त-आत्मा के सुख को दी जा सके!

एक राजा किसी जंगल में जा पहुँचा। उसके पास खाना-पीना कुछ नहीं था। भूख के मारे वह बेहाल हो रहा था....कि अचानक एक आदिवासी आदमी वहाँ से गुजरा। वह राजा को भूखा-प्यासा समझकर अपनी झोंपड़ी में ले गया। बड़े प्रेम से जो भी रूखा-सूखा था वह खिलाया .फिर उसे नगर तक छोड़ने के लिये आया। राजा भी आदिवासी पर खुश हो गया था....राजा ने आदिवासी को आग्रह कर के कुछ दिन नगर में रखा। कीमती वस्त्र...अलंकार दिये....रहने को महल दिया.... एक औरत से शादी कर दी.. वह आदिवासी उस सुखभोग में डूब गया...

उधर बारिश का मौसम आया....आकाश में बादल गरजने लगे.... मोर भी नाचने-गाने लगे। यह देखकर आदिवासी को अपना गाँव...

---

1 अव्याबाधमक्षयं सिद्धसुखं, [illegible] [अपवर्गसिद्धि-प्रकरण]

—श्री पंचसूत्रे / सूत्र-५

अपनी झोपडी अपने लोग सब याद आ गये। वह राजा की इजाजत लेकर जंगल मे गया वहा दूसरे उसके रिश्तेदारो ने नगर के बारे मे उससे पूछा 'नगर कैसा होता है? क्या होता है वहा?' वह बेचारा वनवासी जवाब नही दे पाया चूंकि वहा जंगल मे वैसी कोई उपमा नही थी कि जिसे बताकर वह कह सके कि 'नगर ऐसा होता है!'

'अत मुक्त आत्मा का सुख 'अनुपम' है।

(३) मुक्त आत्मा का सुख अव्याबाध होता है। वहा के सुख मे कोई बाधा नही रुकावट नही पीडा का नामोनिशान नहीं! संघर्ष नही! यदि अमूर्त आकाश को आघात पहुँचाया जा सकता है तो अमूर्त, अरूपी आत्मा को बाधा पहुँच सकती है। किसी भी प्रकार के दु ख से रहित बिना किसी मिलावट का सुख होता है, सिद्धक्षेत्र मे रहे हुए अनंत अनंत सिद्ध जीवो का!

ऐसे सिद्ध जीवो मे क्षायिक समकित होता है। [यह सम्यक्त्व आत्मस्वरूप होता है पौद्‌गलिक नही होता] केवलज्ञान और केवल-दर्शन होते हैं।

भारतीय दर्शनो मे 'सांख्यदर्शन' का महत्वपूर्ण स्थान है। यह दर्शन पुरुष प्रकृतिवादी दर्शन है। यह दर्शन मोक्ष मे ज्ञान का निषेध करता है। वह कहता है मुक्त आत्मा मे ज्ञानगुण हो ही नही सकता! जैनदर्शन मुक्त आत्मा मे ज्ञानादि गुणो को मानता है। ज्ञान ज्ञानी का भेदाभेद संबंध मानता है। अनेक प्रकार के अकाट्य तर्कों से सांख्यदर्शन की एकांत मान्यता का खंडन किया गया है।

मुक्त आत्मा मे ज्ञानादि गुण भेदाभेद संबंध से होते हैं, उसका निर्देश ग्रंथकार ने इसी कारिका [श्लोक] मे 'केवल सम्यक्त्वज्ञानदर्शनात्मा भवति मुक्त' कहते हुए कर दिया है।

आत्मा मे ज्ञानगुण है-' यो कहा जा सकता है और 'आत्मा ज्ञानस्वरूप है' ऐसा भी प्रयोग किया जा सकता है।

---

1 पौद्‌गल्याप्यविपर्यस्तत्त सिद्धगुरुत्त समु।
यथा पुरगुरु वन म्लेच्छाशामगोचर ॥ [द्रव्यनोप्रमाणे]

मुक्त आत्मा अभावरूप नहीं है !

श्लोक : मुक्तः सन्नाभावः स्वालक्षण्यात् स्वतोऽर्थसिद्धेश्च ।
भावान्तरसंक्रान्तेः सर्वज्ञाज्ञोपदेशाच्च ॥२६१॥

अर्थ : अपने लक्षण से, स्वत अर्थसिद्धि से, भावसक्रांति से और सर्वज्ञभाषित आगम के उपदेश से मुक्त आत्मा अभावरूप नही है !

विवेचन : 'मोक्ष' नही है...मुक्त आत्मा नही हो सकती !' वैसा मंतव्य प्राचीन समय मे प्रचलित था। उस मत के पास भी तर्क थे ..दलीलें थीं...

श्रमण भगवान महावीरस्वामी ने जिस दिन धर्मतीर्थ की स्थापना की थी, उसी दिन उनके पास ११ विद्वान ब्राह्मण आये थे...उनमे सबसे छोटे और ११ वे 'प्रभास' का मंतव्य था कि : 'मोक्ष नही है' उनके अपने तर्क भी थे जैसे कि .

(१) जिस प्रकार बुझा हुआ दिया किसी अन्य पृथ्वी पर नही जाता है... न आकाश मे जाता है ..दिशाओ मे भी नही जाता है... विदिशा मे नही जाता है, पर तेल पूरा होने पर केवल शाति प्राप्त करता है .वैसे ही मृत्यु पायी हुई आत्मा अन्य किसी पृथ्वी पर नही जाती है...आकाश मे भी नही जाती है..दिशा या विदिशा मे जाने का भी सवाल नही उठता ! परन्तु क्लेश का क्षय होने से केवल वह शात हो जाती है। दिये के नाश की भाति जीव का नाश होता है...अतः मोक्ष नही है।

(२) जिसका अनादि संयोग होता है....उसका कभी वियोग नही होता है। ज्यो आकाश और जीव का अनादि सयोग होने से उनका कभी वियोग नही होता है, उसी प्रकार जीव और कर्म का अनादि सयोग माना हुआ होने से उसका कदापि वियोग नही हो सकता है। अतः मोक्ष नही है। [कर्म का वियोग नही होने से ससार का वियोग भी नही होता और ससारवियोग के अभाव मे मोक्ष का भी अभाव सिद्ध होगा]

(३) नारकादि पर्याय ही ससार है। नारकादि पर्यायो से अलग कोई जीव है ही नही। अत. उस पर्याय का नाश होने से जीव का भी नाश हो जाता है। इसलिए मोक्ष नही है।

सर्वज्ञ परमात्मा महावीरस्वामी ने इन तर्कों को गलत सिद्ध करके मोक्ष के अस्तित्व को [मुक्तात्मा के अस्तित्व को] सिद्ध किया था। ये थे भगवान के जवाब

(१) किसी भी द्रव्य का सपूर्णतया नाश होता ही नही। द्रव्य स्थिर और नित्य होता है। पर्याय उत्पन्न होते है और नष्ट होते है। दिये की अग्नि सर्वथा नष्ट नही होती, केवल उसका रूपान्तर परिणामान्तर [भावान्तर मनाति] होता है। जैसे दूध का परिणामान्तर दही में हो जाता है या मटकी फूटकर मिट्टी के टुकडो म बदल जाती है उसी तरह दिये की अग्नि का परिणमन अंधकार मे होता है उसका सर्वथा आत्यतिक रूप से नाश नही होता है। इसी तरह जीव का भी परिणामान्तर-भावान्तर मे सन्मरण होता है। कर्मों का नाश होने से जीव अमूर्त और अव्याबाध सुखवाला होता है। इसी तरह, दुःख वगैरह के नष्ट होने से जीव की जो शुद्ध शाश्वत् अवस्था प्रगट होती है, वही मोक्ष है। उसी को जीव की मुक्तावस्था कहा जाता है।

(२) 'जिसका अनादि सयोग हो उसका कभी भी वियोग नही होता' यह सिद्धात ही गलत है। सोने और मिट्टी का अनादि सयोग नही है क्या? फिर भी अलग किया जा सकता है न? मिट्टी और सोने का वियोग होता है न? इसी तरह जीव एव कर्म का अनादि सयोग होने पर भी वे अलग हो सकते हैं।

(३) और 'नारकादि पर्याय से भिन्न कोई जीव नही है अत उस पर्याय के नष्ट होने पर जीव भी नष्ट होता है', यह मान्यता भी अपूर्ण एव अधूरी है।

पहली बात पर्याय द्रव्य के होते हैं जीवद्रव्य है तो देवपना मनुष्यपना, तिर्यचपना, नारकत्व यह सब जीव के पर्याय है। एक पर्याय नष्ट होता है दूसरा पर्याय पैदा होता है.. जीव नष्ट नही होता है, चूकि वह चैतन्यस्वरूप है 'चेतनालक्षणो जीव' चैतन्य कभी भी नष्ट नही होता है। मूल द्रव्य सर्वथा नष्ट होता ही नही। रूपान्तर, भावान्तर, परिणामान्तर होता रहता है जैसे कि सोने की चूडी है उसे तोडकर अगुठी या नेकलेस बनाया जा सकता है, पर सोना तो यथावत् रहता है सुवर्ण नष्ट नही होता है। चूडी नष्ट होती है, सोना नहीं।

— आत्मा नित्य है, शाश्वत् है, उसकी संसारी अवस्था कि जो कर्मकृत है, उसका नाश हो जाने पर आत्मा मुक्त सिद्धरूप में परिणामान्तर प्राप्त करती हैं....अतः मोक्ष है। मोक्ष का अभाव नहीं है।

— आत्मा का ज्ञानदर्शनोपयोगरूप स्वतःस्वभावसिद्ध है, वह कोई निमित्त से पैदा नही हुआ है। इसलिए आत्मा (मुक्त) अभावरूप नही है। चूंकि जीव कभी भी अपने स्वभाव को छोड़ता नहीं है। ज्ञानदर्शनोपयोग अनादिकाल से स्वतः सिद्ध है। उपयोग बदलते रहते है पर नष्ट नही होते [ज्ञानोपयोग के बाद दर्शनोपयोग.. वापस ज्ञानोपयोग..] जैसे कोई आदमी एक गाँव से दूसरे गाँव जाता है तो उस आदमी का सर्वथा अभाव नहीं हो जाता है...उसी तरह संसारी में से सिद्ध हो जाने पर जीव का अभाव नही होता है।

— मुक्तात्मा अभावरूप नही है, उसका अंतिम प्रमाण है सर्वज्ञ के आगम! हमे तो आप्तपुरुषो के वचन युक्तियुक्त होने से श्रद्धेय है। 'आठकर्मों से मुक्त आत्मा चैतन्य स्वरूप है और ज्ञानदर्शनोपयोग के लक्षणवाली है' यह बात अनुमान प्रमाण से और आगम प्रमाण से सिद्ध होती है।

मुक्त आत्मा यहां क्यों नहीं रहती ?

श्लोक : त्यक्त्वा शरीरबन्धनमिहैव कर्माष्टकक्षयं कृत्वा।
न स तिष्ठत्यनिबन्धादनाश्रयादप्रयोगाच्च ॥२६२॥

अर्थ : शरीर का बंधन त्याग कर और आठ कर्मों का क्षय कर वह [मुक्तात्मा] यहा पर रुकती नही है, चूंकि रुकने का कोई कारण नही होता है, नही कोई आश्रय होता है, न कोई व्यापार [क्रिया] होता है।

विवेचन : 'जिस आत्मा के स्थूल या सूक्ष्म...सभी शरीर नष्ट हो चूके हो...और आठो कर्म नष्ट हो गये हो, वह आत्मा यहा मनुष्यलोक मे रहती नही है', यह सिद्धान्त सुनकर या पढकर तत्वानुप्रेक्षा करनेवाले मनुष्य के दिमाग मे जिज्ञासा पैदा होगी कि : 'वह आत्मा यहां मनुष्यलोक में क्यो नही रहती है? वह यहा पर रहे तो अन्य जीवो के आध्यात्मिक विकास मे अवलम्बनरूप हो सकती है ना?' इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए ग्रन्थकार, अशरीरी और निष्कर्म आत्मा यहां नही रह सकती, इसके पीछे तीन कारण दर्शाते हैं :

(१) उस आत्मा को यहां मनुष्यलोक में रहने का कोई प्रयोजन नहीं होता है। अशरीरी हो जाने से, अन्य जीवों के लिये प्रगट तौर पर तो आलंबन हो ही नहीं सकती। सूक्ष्मरूप से आलंबन बन सकती है, परंतु वह तो सिद्धशिला पर रही हुई मुक्त आत्माएं भी तो बन सकती हैं।

(२) आत्मा जब आठ कर्मों से मुक्त बनती है तब वह नीचे नहीं रह सकती है। उसका स्वभाव ही ऊर्ध्वगमन का होता है।[1] जैसे कि एक तुम्बे पर मिट्टी के आठ लेप किये जायं, मिट्टी की आठ पर्तें चढ़ायी जायं और फिर उसे सुखाकर सागर में डाला जाय तो वह तुम्बा सागर की गहराई में डूब जायेगा। बाद में ज्यों ज्यों उस पर के मिट्टी के लेप उतरते जायेंगे त्यों त्यों तुम्बा ऊपर आता जायगा। सभी लेप दूर होने पर वह पानी की सतह पर आ जायेगा। इसी तरह, आत्मा पर के आठों कर्मों का लेप दूर हो जाने पर आत्मा चौदह राजलोक की उपरी सतह पर पहुँच जाती है (अग्रभाग पर चली जाती है) मनुष्यलोक में रह नहीं सकती।

(३) आत्मा की ऐसी कोई क्रिया नहीं होती है कि जिस क्रिया के जरिये मुक्त आत्मा के यहां पर मनुष्यलोक में अधिष्ठान की कल्पना की जा सके।

क्रिया करने के लिए मन-वचन-काया के योग चाहिए। मुक्त आत्मा के तो सभी योग नष्ट हो गये होते हैं। योगरहित आत्मा की स्वाभाविक क्रिया तो केवलज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग ही होती है। इस क्रिया के लिये उसे संसार में रहना जरुरी नहीं होता है।

मुक्तात्मा का ऊर्ध्वगमन ही क्यों ?

श्लोक नाधो गौरवविगमादशक्यभावाच्च गच्छति विमुक्तः ।
लोकान्तादपि न परं प्लवक इवोपग्रहाभावात् ॥२६३॥
योगप्रयोगयोश्चाभावात्तिर्यग् न तस्य गतिरस्ति ।
सिद्धस्योर्ध्वं मुक्तस्यालोकान्ताद् गतिर्भवति ॥२६४॥

1 कस्मात् सिद्धस्य गतिरितो मोक्षान्त पूर्वप्रयोगेण हेतुना तत्स्वाभाव्यात् । कथमेतदेव प्रतिपत्तव्यम् ? अलाबुप्रभृतिज्ञातेन, अष्टमृत्तिकानिमग्नजलनिर्लेपापो निमग्नतल-गमोर्ध्वगमनस्वभावावाबुवत् । [पंचसूत्र–टीकायाम्]

पूर्वप्रयोगसिद्धेर्बन्धच्छेदादसंगभावाच्च ।
गतिपरिणामाच्च तथा सिद्धस्योर्ध्वं गतिः सिद्धा ॥२६५॥

अर्थ गुरुता [भार-वजन] नष्ट हो जाने से, अशक्य भाव के कारण वह [आत्मा] नीचे नहीं जाती है। उपग्रहकारी [धर्मास्तिकाय] के अभाव से लोकान्त के ऊपर भी नहीं जाती है, जहाज की भांति।
योग एव क्रिया का अभाव होने से मुक्तात्मा तिरछी भी नहीं जाती है।
अतः मुक्त हुई सिद्ध आत्मा की लोकान्त तक ही ऊर्ध्वगति होती है।
[इस तरह] पूर्वप्रयोगसिद्ध होने के कारण, कर्मबंध का नाश होने से, असंगभाव होने के कारण और ऊर्ध्वगमन का स्वभाव होने से सिद्ध आत्मा की ऊर्ध्वगति सिद्ध होती है।

विवेचन कर्मों से एव शरीर से सर्वथा मुक्त हुई आत्मा नीचे क्यो नही जाती है उसके दो कारण बताये गये है :

(१) वजनरहित दशा [weightless state]
(२) अशक्यभाव [Impossbility]

एक ऐसा भी सर्वसामान्य नियम है कि वजनयुक्त पदार्थ स्वत नीचे जाता है और वजनरहित पदार्थ स्वत ऊर्ध्वगति करता है। जब आत्मा शरीर से मुक्त होती है और कर्मों से मुक्त होती है तब वह वजन से भी मुक्त हो जाती है। वजन होता है शरीर का, वजन होता है कर्मों का। हर एक पुद्गलद्रव्य मे वजन होता ही है। शुद्ध आत्म-द्रव्य वजनरहित होता है। अतः उसकी सहजरुप मे ऊर्ध्वगति होती है। हालांकि, पहले [तीसरे-शुक्लध्यान मे] उसे धक्का तो लगा हुआ ही होता है, देह से मुक्त होते ही वह ऊर्ध्वगति करता है।

दूसरी बात है शक्य-अशक्य भावो की। कुछ भाव, कुछ बाते अशक्य होती हैं। उसमे किसी प्रकार के तर्क या दलील को जगह नही है। यानी कि कोई कहे · 'ज्यो पूर्वप्रयोग ऊर्ध्वगमन के लिये होता है वैसे ही अधोगमन के लिये किया जाये तो आत्मा अधोगमन क्यो नही करती ?' ऐसे किसी तर्क को इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रक्रिया मे तनिक भी स्थान नही है। वजनरहित मुक्तात्मा अधोगमन करेगी ही नही ! सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकरो ने इस वास्तविकता को देखकर-जानकर दुनिया के समक्ष प्रगट की हुई है।

प्रश्न 'मान लिया कि मुक्त आत्मा अधोगमन नहीं करती उर्ध्वगमन करती है परन्तु वह लोकांत पर रुक क्यों जाती है ? अलोक में क्यों नहीं जाती है ?'

उत्तर गति में सहायक द्रव्य है धर्मास्तिकाय। धर्मास्तिकाय का अस्तित्व लोकान्त तक ही होता है। अलोक में धर्मास्तिकाय का अस्तित्व ही नहीं है अतः आत्मा लोकांत तक ही जाती है। पानी हो वहाँ तक जहाज जा सकता है पानी हो वहीं तक मछली जा सकती है, त्यों!

प्रश्न अनंतशक्ति युक्त आत्मा को धर्मास्तिकाय की सहायता की आवश्यकता जरूरी है क्या ?

उत्तर यह भी एक निश्चित भाव है। जड़ और जीव दोनों की गति स्थिति में सहायक द्रव्य तो चाहिए ही। आत्मा में वैसी शक्ति नहीं है कि वह धर्मास्तिकाय की सहायता के बगैर वे गति कर सके। फिर भी इसे शक्ति की कमी या अशक्ति नहीं मानी जा सकती। यह विश्व की शाश्वत व्यवस्था है।

प्रश्न ठीक है, मुक्त आत्मा अधोगमन नहीं करती है लोकांत से बाहर भी नहीं जाती है। परन्तु तिरछी गति तो कर सकती है। तिरछा जाने में दिक्कत क्या है ?

उत्तर गाडी [Car] को सीधी भगाने के लिये 'स्टायरीग पकड़ के ही रखना होता है, पर गाडी को घूमाने के लिये मोड देने के लिये [आगे पीछे या आजूबाजू में] स्टीयरीग को घूमाना पड़ता है अर्थात् मन और काया की क्रियाएं करनी पड़ती है। इस तरह, आत्मा को इधर-उधर जाने के लिये (एक गति में से दूसरी गति में चार दिशाओं में) मन-वचन काया के योग चाहिए और आत्मा की क्रिया चाहिए। मुक्त आत्मा का इसमें का कुछ नहीं होता हैं तिर्यग्गमन करने के लिये जो उपकरण—साधन चाहिए वे होते ही नहीं है अतः तिरछी गति भी संभवित नहीं होती है, उर्ध्वगमन ही करती है।

मुक्त आत्मा के उर्ध्वगमन को सिद्ध करनेवाले कारणों का उपसंहार करते हुए ग्रंथकार कहते हैं

- '[1]पूर्वप्रयोग से

---

1 पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च तद्गतिः ।

[तत्त्वार्थसूत्रे / अ० १०–सू० ६]

- सग के अभाव मे
- बधन टूटने मे और
- उस प्रकार के गतिपरिणाम मे

मुक्त जीव उर्ध्वगति करता है... ऊपर उठता है...'समुद्घात' की क्रिया पूर्ण करने के बाद, योगनिरोध करने के लिये आत्मा तीसरा शुक्लध्यान (सूक्ष्मक्रिया-अनिवृत्ति) करती है और अत मे अपने चरम शरीर का तीसरा हिस्सा कम करती है (शरीर के पोले हिस्सो को भरकर के) वे 'पूर्वप्रयोग' के सस्कार आत्मा मे रहे हुए ही होते हैं, वे सस्कार यानी उर्ध्वगमन के लिये सानुकूल क्रियाशीलता।

—जैसे कुभार पहले डडे से चक्र को घुमाता है . बाद मे डडा ले लेता है फिर भी चक्र तो घूमता ही रहता है। उसी तरह पूर्वप्रयोग पूरा हो जाने पर भी आत्मा मे उर्ध्वगमन के (गति के) सस्कार रहे हुए होते है उन सस्कारो के जरिये आत्मा उर्ध्वगमन करती है।

—सग यानी लेप। असग यानी निर्लेप। लेप के उतरने पर ज्यो तूम्बा पानी के नीचे से उपर आ जाता है, वैसे ही निर्लेप आत्मा उर्ध्वगति करती है।

—ज्यो एरड का फल फूटते ही उसके बीज उपर उछलते है, वैसे ही कर्म के बधन टूटते ही आत्मा उर्ध्वगति करती है।

—घी का या तेल का दिया जलाया जाता है तो उसकी दीपशिखा (लौ) उपर ही उठती है...। नीची नही जाती है .नही तिरछी या इधर-उधर जाती है .ठीक है, कोई निमित्त पाकर इधर-उधर या तिरछी जाये वह बात अलग है पर निमित्त के नही रहने पर तो वह उर्ध्वगति ही करती है। इसी तरह मुक्तात्मा भी उर्ध्वगमन ही करती है, इसे 'गतिपरिणाम' कहा जाता है।

जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य स्वभाव से गतिशील है। पुद्गलद्रव्य स्वभाव से अधोगतिशील है और जीवद्रव्य उर्ध्वगतिशील है। संसार मे जीव को अधोगति करते हुए या तिरछी गति करते हुए देखा जाता है तो वह शरीरसंग या कर्म के बधनो के कारण होता है। जब वह सग और बधन छूट जाता है, टूट जाता है तब मुक्त जीव अपने स्वभाव के अनुसार उर्ध्वगति ही करता है। यही बात 'द्रव्य लोकप्रकाश' मे महोपाध्याय श्री विनयविजयजी ने भी कही है

[1]ऊर्ध्वगौरवधर्माणो जीवा इति जिनोत्तमैः ।
अधोगौरवधर्माणः पुद्गला इति चोदितम् ।।
अतस्तु गतिवैकृत्यमेषां यदुपलभ्यते ।
कर्मणः प्रतिघाताच्च प्रयोगाच्च तदिष्यते ।।

इस तरह विस्तारपूर्वक, ग्रन्थकार ने आत्मा का ऊर्ध्वगमन सिद्ध किया है। अब मुक्तात्मा मे सुख की सिद्धि करते हैं।

मोक्ष मे सुख कैसे ?

श्लोक देहमनोवृत्तिभ्यां भवतः शारीरमानसे दुःखे ।
तदभावात्तदभावे सिद्धं सिद्धस्य सिद्धिसुखम् ।।२९६।।

अर्थ देह एव मन के सद्भाव से शारीरिक व मानसिक दुःख होता है। शरीर और मन के अभाव से सिद्धात्मा का सिद्धसुख सिद्ध होता है।

विवेचन दुनिया मे, चार अर्थों मे 'सुख' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

१ विषयों मे, २ वेदना के अभाव मे ३ पुण्यकर्म के विपाक मे, ४ मोक्ष मे।

(१) विषयों मे 'सुख' शब्द का प्रयोग

'इस संसार मे मधुर शब्द ही सुख है सुंदर रूप ही सुख है प्रिय इष्ट भोजन ही सुख है मृदु स्पर्श ही सुख है धन-संपत्ति ही सुख है ' इस तरह विषयों मे 'सुख' शब्द का व्यवहार होता है।

(२) वेदना के अभाव मे 'सुख' शब्द का प्रयोग

जब कोई रोग दूर होता है तब जब कोई आफत टल जाती है या दूर होती है तब, सर पर से जब कोई भार उतर जाता है तब आदमी बोलता है 'ठीक है चलो अब सुखी बनें !'

---

1 यह दोनों कारिकाएं (श्लोक) श्री तत्त्वार्थसूत्र की 'अंतिम उपदेशकारिका' में से उद्धृत हुई हैं।

2 लोके चतुर्ष्विहार्थेषु सुखशब्दः प्रयुज्यते ।
विषये वेदनाभावे विपाके मोक्ष एव च ।।
[तत्त्वार्थसूत्रे-उपदेशकारिकायाम्]

(३) पुण्यकर्म के विपाक मे 'सुख' शब्द का प्रयोग :

अपना तो पुण्य का उदय है, इसलिए अपन को सुंदर मजेदार बगला मिल गया.... अपन तो अब सुखी है... अब सुख का उदयकाल आयाहै ... वगैरह ।

(४) मोक्ष मे 'सुख' शब्द का प्रयोग :

मोक्ष मे परमसुख होता है । कर्मों का नाश हो जाता है फिर मोक्ष मे अव्याबाध सुख होता है .. निरुपम सुख होता है ।

दुःख के दो कारण होते है । दो माध्यम होते है १ शरीर, २ मन ।

इन दो माध्यमो से आनेवाला दुख दो प्रकार का होता है . शारीरिक एव मानसिक । मनरहित जीवो को केवल शारीरिक दु ख होता है, मन वाले जीवो को शारीरिक एव मानसिक दोनो दु.ख होते हैं । चूकि ससार मे जिस जीव को मन होता है, उसे शरीर भी होता है । शरीर हो तो उसे मन हो भी और नही भी हो !

मुक्त आत्मा को न तो शरीर होता है. . नही मन होता है ! फिर उन्हे एक भी दु ख हो कैसे सकता है ? नही हो सकता । दु ख-अभावरुप सुख मुक्त आत्माओ को होता है ।

इस सुख को अनुमान-प्रमाण से या उपमान-प्रमाण से सिद्ध नही किया जा सकता । इस विश्व मे ऐसा कोई प्रसिद्ध लिग नही है कि जिसके बल पर अनुमान से सिद्ध के सुख को सिद्ध किया जा सके । दुनिया मे ऐसी कोई न तो उपमा है...न तुलना है कि जिससे मुक्त के सुख को सिद्ध किया जा सके ! इसलिए कहा है कि 'मुक्तात्मा को दु.ख के कारणभूत मन एव शरीर नही होते । अतः उन्हे दु ख नही हो सकता .सुख ही होता है ।'

मोक्ष नहीं तो देवलोक !

श्लोक : यस्तु यतिर्घटमान सम्यक्त्वज्ञानशीलसम्पन्नः ।
वीर्यमनिगूहमान. शक्त्यनुरुपप्रयत्नेन ।।२९७।।
संहननायुर्बलकालवीर्यसम्पत्समाधिवैकल्यात् ।
कर्मातिगौरवाद्वा स्वार्थमकृत्वोपरममेति ।।२९८।।
सौधर्मादिष्वन्यतमकेषु सर्वार्थसिद्धचरमेषु ।
स भवति देवो वैमानिको महर्द्धिद्युतिवपुष्कः ।।२९९।।

अर्थ जो साधु सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र से संपन्न होता है, अपनी शक्ति को छुपाये बगर शक्ति के अनुसार जो प्रवचनोक्त संयम के पालन मे प्रयत्नशील रहता है,

[परन्तु] संघयण, आयुष्य, बल, काल, वीर्य संपत्ति, चित्तस्वस्थता की विकलता के कारण एव कर्मों की प्रचुरता [निकाचित कर्म] के कारण स्वार्थ [सकल कर्मक्षय] साधे बिना मर जाता है।

वह साधु सौधर्म देवलोक से लेकर सर्वार्थसिद्धि [अनुत्तर देवलोक] तक के किसी भी देवलोक मे महान ऋद्धिवाला, द्युति [तेज] वाला और महान शरीरवाला वैमानिक देव बनता है।

विवेचन ओ मुनिराज, शायद तुम इस मनुष्यजीवन मे तुम्हारी मोक्ष-यात्रा पूरी नही भी कर सको, आठ कर्मों का पूर्णतया नाश न कर सको फिर भी निराश मत होना। तुम यदि जिनप्रवचन के प्रति श्रद्धावान् हो, मोक्षमार्ग का तुम्हे स्पष्ट ज्ञान है, मूल गुण (चरण) और उत्तरगुण (करण) के पालन मे जाग्रत हो, प्रमाद का त्याग कर के महात्मन्, तुम जिन-प्रवचन के अनुसार सारी संयमक्रियाए कर रहे हो तो तुम्हे जरा भी निराशा महसूस न करने की जरूरत नही है। तुम निष्कपट हृदय से, सरल मन से तुम्हारी तन मन की शक्ति के मुताबिक संयम-यात्रा करते रहो।

'मैं निष्कपट मन से, शक्ति को छुपाये बगर जिनाज्ञा के अनुसार संयमधर्म की आराधना करता हू फिर भी मेरे कर्मों के सारे बंधन क्या नही टूट जाते ?'

इस सवाल का जवाब २६८ वें श्लोक मे ग्रन्थकार ने दिया है। उन्हो ने आठ कारण बताये हैं। तुम इन आठ कारणो को जान लोगे, समझ लोगे तो हताशा निराशा मे से बच जाओगे।

(१) संघयण [सहनन] की कमजोरी

सभी कर्मों को तोडनेवाले वीरपुरुष का शरीर सुदृढ होना चाहिए। शरीर के हड्डिया के जोड मजबूत होने चाहिए यानी कि 'वज्रऋषभ-नाराच संघयण चाहिए। ऐसा संघयण है नही तुम्हारे पास ? हो सकता है यह संघयण भी हो तुम्हारे पास, फिर भी—

(२) आयुष्य की अल्पता

यदि तुम्हारा आयुष्य छोटा है.... कम है, तो भी तुम अपने सभी कर्मों का क्षय नहीं कर सकते ! धर्मध्यान चल रहा हो... अभी तो शुक्लध्यान मे प्रवेश नही हुआ हो .. और आयुष्य पूरा हो जाय, मृत्यु हो जाय. . तो कर्मक्षय का कार्य अधूरा रह जायेगा । मान लो कि तुम्हारा आयुष्य भी लम्बा है परन्तु .

(३) शरीर की दुर्बलता

तुम्हारा शरीर दुर्बल है, तुम्हारा शरीर कमजोर है, तुम अशक्ति से पीडित हो. . इसलिए भी सभी कर्मों का क्षय नही कर सकते ! तुम्हारा शरीर चलो, दुर्बल नही है परन्तु

(४) काल की विषमता .

तुम यदि दुषमकाल मे पाँचवे आरे मे जन्मे हो तो काल का प्रभाव तो तुम्हारे पर पड़ेगा ही ! काल का भी जीवो पर असर होता है ना ? दुषमकाल मे. .और, उसमे भी जब तीर्थंकर नही है... अवधिज्ञानी-मन पर्यवज्ञानी जैसे प्रत्यक्ष ज्ञानी महापुरुष नही है.... वैसे काल मे तुम सभी कर्मों का क्षय नही कर सकोगे ।

(५) वीर्य की परिहानि :

सभी कर्मों का क्षय करने के लिये आत्मा का अपूर्व एव अद्भुत वीर्य (आतरिक उल्लासमय शक्ति) उल्लसित होना जरुरी है । इस काल मे, शरीर और सहनन की दुर्बलता मे वीर्य का स्फूरण होना शक्य नही है, फिर सपूर्ण कर्मक्षय हो कैसे सकेगा ?

(६) [1]संपत्ति का अभाव :

क्षमा वगैरह गुणो की आध्यात्मिक संपत्ति नही है. . गुणो का वैभव नही है. . बुद्धि का धन नही है... गुणो की दृष्टि से दरिद्रता है .. और बुद्धि की अपेक्षा से भी निर्धनता है. . तब फिर सभी कर्म नष्ट होगे भी तो कैसे ?

1 हालाकि, टीकाकार ने सपत्ति का अर्थ 'धन' वगैरह किया है । जो कि साधु-जीवन की अपेक्षया उपयुक्त नही लगता. .जब कि अन्य प्रत मे 'सम्पत्' शब्द श्लोक मे है ही नही...इसलिए यहा पर आध्यात्मिक अर्थ किया गया है ।

(७) चित्त की व्यग्रता

सब से बड़ा और सब से मजबूत कारण तो यही है ! मन तो स्वस्थ रहता ही नहीं है ! कर्मों का नाश करने के लिये चित्त की स्वस्थता समाधि एवं संतुलन अत्यन्त जरूरी है । वह नहीं हो और फिर साधु तरह तरह की बाह्य क्रियाएं करते रहे, फिर भी कर्मक्षय होगा ही नहीं !

(८) कर्मों की प्रबलता

जीव के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय कर्म यदि अत्यंत गाढ़ एवं प्रबल हो अर्थात् निकाचित हो तब वे टूटेंगे कैसे ? उन कर्मों के दुष्प्रभाव के तले घिरी हुई आत्मा कर्मक्षय का महान पुरुषार्थ किस तरह करेगी ? वे निकाचित कर्म साधक की आराधना में विक्षेप-खलल रूप अतिचार पैदा करते ही रहते हैं ।

'इन सभी कारणों से मेरा मोक्ष यदि नहीं होगा तो मैं मर कर किस गति में जाऊंगा ?' यह चिंता होती है न मन में ? नहीं.. चिंता करने की जरूरत नहीं है मुनिराज ! तुम देवलोक में ही जाओगे ! तुम्हारे दिल में मोक्षमार्ग पर चलने की तमन्ना है, जिन-वचनानुसारी संयम का पक्षपात है, सम्यग्दर्शन का दिया जल रहा है तो तुम देवलोक में ही जाओगे ! वह भी व्यंतर देवलोक में नहीं, भवनपति या ज्योतिष देवलोक में नहीं, परन्तु वैमानिक देवलोक में ही जाओगे !

फिर चाहे तुम सौधर्म देवलोक से लगाकर अच्युत देवलोक तक के बारह में से किसी भी देवलोक में जाओगे ! नौ ग्रैवेयक देवलोक में से किसी भी ग्रैवेयक में जाओगे या फिर पांच अनुत्तर में से भी किसी अनुत्तर देवलोक में जा सकते हो !

देवलोक में तुम्हें दिव्य ऋद्धि मिलेगी । श्रेष्ठ परिवार मिलेगा तेजस्वी शरीर मिलेगा समचतुरस्र संस्थान वाला शरीर मिलेगा उत्कृष्ट कोटि के भौतिक सुख मिलेंगे । यह सब मिलने पर भी तुम्हारे दिल में 'वैराग्य' का दिया जलता रहेगा ! तुम इन सुखों में डूब नहीं जाओगे । दिव्य सुखोपभोग में भी तुम्हारा हृदय अनासक्त रहेगा । तुम्हारी आध्यात्मिक प्रगति रुक नहीं सकती ! तुम्हारी अन्तर्यात्रा तो गतिशील ही रहेगी ।

तीसरे भव में मोक्ष !

श्लोक : तत्र सुरलोकसौख्यं चिरमनुभूय स्थितिक्षयात् तस्मात् ।
पुनरपि मनुष्यलोके गुणवत्सु मनुष्यसंघेषु ॥३००॥
जन्म समवाप्य कुलबन्धुविभवरूपबलबुद्धिसम्पन्नः ।
श्रद्धा-सम्यक्त्व-ज्ञान-संवर-तपोबलसमग्रः ॥ ३०१॥
पूर्वोक्तभावनाभिर्भावितान्तरात्मा विधूतसंसारः ।
सेत्स्यति ततः परं वा स्वर्गान्तरितस्त्रिभवभावात् ॥३०२॥

अर्थ वहा दीर्घकालपर्यन्त देवलोक का सुख भोगकर, आयुष्य का क्षय होने पर, फिर मे मनुष्यलोक मे गुणवान मनुष्य-परिवार मे,

जन्म पाकर कुल, स्वजन, सपत्ति, रुप, बल और बुद्धि से सपन्न होता है। एव श्रद्धा, सम्यक्त्व, ज्ञान, सवर और तपोबल से पूर्ण होता है।

पहले कही गयी बारह भावनाओ मे भावित वह अन्तरात्मा ससार का त्यागी बनता है। इसके बाद बीच मे देवलोक मे जाकर तीसरे भव मे [मनुष्य के भव मे] वह मुक्ति को प्राप्त करेगा ।

विवेचन – मुनिराज !

नाच उठो खुशी से ! हर्षित बनो. तीसरे भव मे तुम मुक्त हो जाओगे...मुक्ति की मजिल तुम्हे तीसरे भव मे प्राप्त हो जायेगी. .

यह जीवन पूर्ण होते ही, आयुष्य कर्म का क्षय होने पर तुम देवलोक मे जाओगे। तुम्हारी आत्मा इस औदारिक शरीर का त्याग करके दिव्यशरीर-वैक्रिय शरीर को धारण करेगी। और देवलोक मे तो आयुष्य कितना दीर्घ होता है! [1]देवलोक के आयुष्य असख्य बरसों का

1 बारह देवलोक के आयुष्य .
१ सौधर्म . २ सागरोपम, २. ईशान : कुछ अधिक २ सागरोपम, ३. सनत ७ सागरोपम, ४. माहेन्द्र : कुछ अधिक ७ सागरोपम, ५. ब्रह्म १० सागरोपम, ६. लांतक . १४ सागरोपम, ७. महाशुक्र १७ सागरोपम, ८ सहस्रार १८ सागरोपम, ९. आनत : १९ सागरोपम, १० प्राणत २० सागरोपम, ११. आरण : २१ सागरोपम, १२. अच्युत २२ सागरोपम ।
नौ ग्रैवेयक के आयुष्य – क्रमश . २३ सागरोपम से लगाकर ३१ सागरोपम तक
पांच अनुत्तर मे ३३ सागरोपम

होता है। असंख्य वर्ष तुम्हें सुखभोग में बिताने होंगे, पर जैसे ही तुम्हारा देवगति का आयुष्य पूरा होगा, तुरंत तुम्हें मनुष्य जन्म मिलेगा ही। यह तुम्हारा तीसरा और अंतिम जन्म होगा। इस संसारयात्रा का अंतिम पड़ाव होगा।

तुम्हारा अंतिम मनुष्य भव अनेक विशेषताओं से भरापूरा होगा। विशुद्ध जाति और उच्चकुल में तुम्हारा जन्म होगा। गृहस्थोचित उच्च कोटि के आचारों का पालन जहाँ पर कुलपरंपरा से होता होगा, ऐसे संभ्रांत परिवार में तुम्हारा जन्म होगा। भरेपूरे परिवार में तुम्हारा जन्म होगा।

● जिन्हें संसार के श्रेष्ठ सुख कहे जाते हैं वैसे सभी सुख तुम्हें मिलेंगे। तुम्हें उच्चकुल की खानदानी मिलेगी। दुनिया की नजरों में तुम गौरवशाली रहोगे। इसलिए, लोगों में तुम प्रीतिपात्र बनोगे। तुम्हारी खानदानी या संभ्रांतता केवल तुम्हारे पैसे या समृद्धि की नहीं होगी, परन्तु तुम्हारे भीतर में रहे हुए उच्चगुणों की अपेक्षा होगी। फिर भी तुम्हें कुलाभिमान छू नहीं पायेगा।

● तुम्हें स्वजन भी प्रेमभरे मिलेंगे। निःस्वार्थ प्रेम एवं निर्दोष स्नेह होगा उनका तुम पर। तुम्हारे ही सुख का विचार होगा उनके दिल में। फिर भी तुम्हारा दिल तो भीतर से विरक्त-अनासक्त ही रहेगा।

● तुम गर्भ-श्रीमन्त बनोगे। श्रीमन्त माता के उदर में तुम अवतरित होओगे। जन्म के पश्चात् भी ढेरों सुख-साहबी तुम्हारे कदमों में होगी, फिर भी उस विपुल सुख-संपत्ति के प्रति तुम्हें तो अलगाव ही रहेगा। अनासक्त भाव ही रहेगा।

● तुम्हें ऐसा तो दिव्य रूप-सौंदर्य मिलेगा, कि दुनिया की श्रेष्ठ रूपवती स्त्रियाँ भी तुम पर सहजरूप से मुग्ध हो उठेंगी। तुम्हारा प्रमाणोपेत शरीर, शरीर की खूबसूरती, शरीर का तेज, चेहरे की चमक यह सब अद्भुत होगा फिर भी तुम रूप के अनुरागी नहीं बनोगे नहीं रूपासक्ति तुम्हें छू पायेगा।

● तुम्हारे सप्रमाण शरीर में दुनिया को चकित कर दे वैसी ताकत होगी तुम उस ताकत का उपयोग करोगे ... केवल परोपकार के लिये, दूसरों के दुःख दूर करने के लिये। उस ताकत का प्रयोग

अन्य को पीडित करने के लिये तो होगा ही नही! अद्वितीय शक्ति होने पर भी तुम्हे बल का गर्व नही होगा।

● तुम्हारा मतिज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम इतना तो उमदा होगा कि तुम्हारी बुद्धिशक्ति–विचारशक्ति का दुनिया के धुरधर बुद्धिशाली लोग भी लोहा मान लेगे। चाहे जैसे उलझे सवाल और गुत्थियो को तुम तत्काल सुलझा दोगे । गहन से गहन तत्वो को समझने मे तुम्हे देर नही लगने की। ऐसी और इतनी बुद्धि होने पर भी तुम्हे बुद्धि का अभिमान नही होगा।

दुनिया की निगाहो मे चढ जाय वैसा तुम्हे सब कुछ मिलेगा! तुम्हे शारीरिक एव मानसिक सुख देनेवाला मिलेगा .. परन्तु, दुनिया जिसे देख नही सकती . और अन्तरात्मा जिससे झूम उठती है.... वैसी आध्यात्मिक सपत्ति भी तुम्हे प्राप्त होगी। इस वर्तमान जीवन की तुम्हारी आध्यात्मिक साधना से, आत्मा मे गहरे रहे हुए सस्कार तब जाग उठेगे।

● तुम्हारी परमात्मश्रद्धा, परमात्मा के प्रति प्रगाढ प्रीति मे अभिव्यक्त होगी। परमात्मा का स्मरण तुम्हारे रोये रोये को कपित कर देगा। परमात्मा की प्रतिमा का दर्शन तुम्हे गद्‌गद् बना डालेगा। परमात्मा का पूजन-स्पर्शन तुम्हारी आखो को हर्षाश्रु से छलका देगा । परमात्मा की स्तवना तुम्हारे मन को भक्तिरस से भिगो देगी। गहरे तक छू जायेगी।

● वीतरागता को पाने के लिये महाव्रतो को जीवन मे जीनेवाले ज्ञानी–ध्यानी महात्माओ के चरणो मे तुम श्रद्धावान बने रहोगे । तुम उन त्यागी–विरागी साधुजनो के प्रशसक एव सेवक बन जाओगे। उनका सपर्क–सानिध्य तुम्हे अत्यत रुचिकर लगेगा।

● सर्वज्ञभाषित मोक्षमार्ग पर तुम्हारी श्रद्धा अविचल रहेगी। तत्त्वार्थश्रद्धानरूप तुम्हारी श्रद्धा और ज्यादा, और गहरी होकर सुदृढ़ बनी रहेगी। इस श्रद्धा के बल पर तुम निर्भय, निश्चित एवं उत्साह से भरेपूरे बन जाओगे! द्वेष, खेद .उद्वेग जैसे दोष तो दूर ही हो जायेगे।

● तुम्हारे पास मतिज्ञान, श्रुतज्ञान का प्रकाश होगा। यथा क्षयोपशम तुम्हे ज्ञान-प्रकाश की प्राप्ति होगी। मतिज्ञान–श्रुतज्ञान के सहारे तुम आत्मज्ञानी बनोगे।

● मुनिराज, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के फलस्वरूप तुम सम्यक चारित्र को प्राप्त कर सकोगे। तुम पापाश्रवो का निरोध करने के लिय तत्पर बनोगे। पाचो इन्द्रियो के विजेता बनने के लिये, चार कषायो का उन्मूल से उखाड फकने के लिय, पाँच अव्रतो का त्याग करने के लिय, मन वचन काया के अशुभ एव अशुद्ध योगो मे विरत होने के लिये तुम सतत प्रयत्नशील बने रहोगे। २५ क्रियाए लग न जाय कही इसकी तुम सावधानी बरतोगे। इसके लिये तुम पाच समिति और तीन गुप्ति का पालन करोगे बाइस परिषहो को दृढतापूर्वक सहन करोगे। दस प्रकार के यतिधर्म का यत्नपूर्वक पालन करोगे। अनित्य वगैरह बारह भावनाओ से भावित बनते चलोगे और सामायिक-छेदोपस्थापनीय चारित्र का पालन करते करते तुम यथाख्यात चारित्र के प्रति गतिशील बनोगे।

● तुम समझते हो कि 'निकाइयाणऽवि कम्माण तवेण होइ निज्जरण' निकाचित कर्मो की भी निर्जरा तपश्चर्या के द्वारा होती है! इसलिए तुम अनशन, ऊनोदरी वगैरह बाह्य तप के साथसाथ प्रायश्चित्त विनय वगैरह आभ्यतर तप की भी आराधना करोगे। ध्यान और कायोत्सर्ग में तुम्हारी लीनता-तल्लीनता बढती चलेगी।

● तुम इस वर्तमान श्रमण जीवन म प्रतिदिन बारह भावनाओ से भावित बनकर चित्तशुद्धि कर रहे हो ना? अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, ससार अशुचि आश्रव, सवर, निर्जरा, लोकस्वरूप, बोधिदुर्लभ और धर्मस्वाख्यात इन बारह भावनाओ से अपने चित्त को वासित-सुवासित बना रखा है ना? ये सस्कार तुम्हारी आत्मा की गहराई मे उतर हुए ह देवलोक मे असंख्य काल का दीर्घ समय बीतने पर भी, ये सस्कार जाते नहीं हैं उसके बाद में मनुष्यजीवन म व सस्कार जाग्रत होगे ही। उन सस्कारो के बल पर तुम धर्मध्यान म स्थिरता प्राप्त कर सकोगे। धर्मध्यान मे स शुक्लध्यान मे प्रवेश करोगे। शुक्लध्यान म तुम चारो घातीकर्मों का पूर्णरूपेण क्षय कर के वीतराग-सर्वज्ञ बनोगे।

'शावर' में बारह भावनाओ का समाविष्ट की गया है। पापकर्मो का प्रतिपल बाधने की आदत से मजबूर इस मन को इन बारह भाव-

नाओ के जरिये ही रोका जा सकता है। वारह भावनाओ मे से किसी भी एक भावना मे मन को लगाये हुए रखना चाहिए। अपने विचारो को इन्ही भावनाओ के रग मे रग डालना है। इस जिन्दगी मे यदि यह काम हो जाये और आत्मा मे ये सस्कार गहरे उतर जाये तो अवश्य तीसरे भव मे आत्मा सभी कर्मो का क्षय कर के मुक्तात्मा वन सकती है।

ठीक है, इस जन्म मे पूर्णता नही मिल सकेगी ..पर तीसरे जन्म मे तो पूर्णता प्राप्त होगी ही। वर्तमान भव पहला, देव का भव दूसरा और तीसरा भव मनुष्य का.. वह तीसरा मनुष्यभव अतिम भव वन जायेगा। कर्मो के सभी वधन टूट जायेगे।

इसलिए, इस वर्तमान साधुजीवन मे—

(१) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से सापन्न रहो।

(२) जिनप्रवचनोक्त समस्त क्रियाकलाप करते रहो।

(३) तन-मन की ताकत का, ताकत के एक एक अश का सदुपयोग करो।

(४) 'मेरा मोक्ष होगा या नही' ऐसी निराशा को झटक दो!

(५) 'मेरा मोक्ष होगा ही' ऐसी श्रद्धा को मजवूत करो।

गृहस्थ के लिए मोक्षमार्ग :

श्लोक : यश्चेह जिनवरमते गृहाश्रमी निश्चित सुविदितार्थ: ।
दर्शन-शील-व्रतभावनाभिरभिव्जितमनस्क: ॥३०३॥

स्थूलवधानृतचौर्यपरस्त्रीरत्यरतिर्वजित: सततम् ।
दिग्व्रतमिह देशावकाशिकमनर्थविरतिं च ॥३०४॥

सामायिकं च कृत्वा पौषधमुपभोगपारिमाण्यं च ।
न्यायागतं च कल्प्यं विधिना पात्रेषु विनियोज्यम् ॥३०५॥

चैत्यायतनप्रस्थापनानि कृत्वा च शक्तित: प्रयत: ।
पूजाश्च गन्धमाल्याधिवासपप्रदीपाद्या: ॥३०६॥

प्रशमरतिनित्यतृषितो जिन गुरुसाधुजनव दनाभिरत ।
सलेखना च काले योगेनाराध्य सुविशुद्धाम् ॥३०७॥

प्राप्त कल्पेष्वेन्द्रत्व वा सामानिकत्वम यद्वा ।
स्थानमुदार तत्रानुभूय च सुख तदनुरूपम ॥३०८॥

नरलोकमेत्य सवगुणसम्पद दुलभा पुनलब्ध्वा ।
शुद्ध स सिद्धिमेष्यति भवाष्टकाभ्य तरे नियमात ॥३०९॥

अथ इस मनुष्य लोक म जो गहस्थ जिनमत म विश्वास रखता है, तत्वाथ का भलीभाति जानता है और सम्यगदशन शील व्रत भावनाओ स अपने मन को वासित रखता है

स्थूल हिंसा, असत्य, चोरी परस्त्री रति अरति का सतत त्याग करता है। दिशाव्रत, देशावकाशिक व्रत, अनथदडविरति व्रत,

सामायिकव्रत, पौषधव्रत और भोगोपभोगपरिमाण करके न्यायपूवक उपाजित किये हुए अन्नादि द्रव्य को विधिपूवक सुपात्र म देता है,

शक्ति के मुताबिक प्रयत्नपूवक चत्यालयो की प्रतिष्ठा कर क गध माला अधिवास धूप दीपक वगरह स पूजा करता है,

प्रशमभाव की प्रीति म सदा प्यासा तीथकर आचाय साधुपुरुषो के वदन म अभिरत मृत्युसमय म सुविशुद्ध सलेखना की ध्यान म आराधना करता है,

[वह गहस्थ] सौधम वगरह देवलोक म इन्द्रपदवी, सामानिक देव-पदवी या अन्य कोई विशिष्ट देवत्व प्राप्त करता है। वहा उस स्थान क अनुरूप सुखभोग करक

मनुष्य लोक म जन्म लेकर, फिर से दुलभ ऐसी सवगुणो की सपत्ति को प्राप्त करके, शुद्ध बुद्ध हुए वह आत्मा मोक्ष म जाती है। आठ भव म तो वह अवश्यमेव सिद्धि प्राप्त करती है।

विवेचन जो मनुष्य घरससार छोडकर अणगार नही बन सकता है, महाव्रतो का पालन करने म शक्तिमान नही है वह मनुष्य भी मोक्ष-माग का यात्री बन सकता है। सद्गति प्राप्त कर सकता है और परपरया श्रमण जीवन जीने का सामथ्य प्राप्त करके ज्यादा से ज्यादा

आठ भव इस ससार मे कर के मोक्ष मे जाता है। गृहस्थोचित मोक्ष-मार्ग की आराधना का स्पष्ट मार्गदर्शन ग्रन्थकार ने यहा पर दिया है।

सबसे पहले सर्वज्ञप्रणीत–वीतराग वचनो मे दृढ श्रद्धावान होना होगा। जिनवचन मे–जिनप्रवचन मे श्रद्धा पैदा तब होगी जब वह गृहस्थ जिनवचनो को भलीभाति जानेगा। जिनवचनो को जाने बगर, उन वचनो का यथार्थ स्वीकार नही हो सकता! 'एतदेव संसारादुत्तारकं प्रवचनम्' ससार सागर से पार उतारनेवाला यही जिनप्रवचन है'— ऐसा निर्णय उसे करना होता है। बहुत ही अच्छे ढग से जिनवचनो को जानना है। इसीलिए ग्रन्थकार ने 'सुविदितार्थ' शब्द का प्रयोग किया है। जानकर उस पर दृढ श्रद्धा स्थापित करनी है, अतएव 'निश्चित' शब्द का प्रयोग किया गया है।

जिनवचनो को, सर्वज्ञभापित मोक्षमार्ग को जानने–समझने के लिये उस सद्‌गृहस्थ को महान् श्रुतधर ज्ञानीपुरुषो के चरणो मे बैठकर विनयपूर्वक अध्ययन करना चाहिए। अपनी जितनी प्रज्ञा हो...उसके मुताबिक अध्ययन की गहराई मे जाना चाहिए। यथार्थरूप मे पदार्थो को निर्णीत करने की अभिरुचि .जिनवचनो के श्रवण–पठनपाठन के लिये मनुष्य को प्रेरित करती रहती है। उस अभिरुचि से ही जिनवचन की निष्ठा पैदा होती है।

आस्तिकता का शुभ भाव आत्मा मे प्रगट होने के बाद उस आत्मा मे अन्य चार शुभ भाव कम ज्यादा अंश मे प्रगट हो जाते है।

(१) दु खी जीवो के दु.ख दूर करने की इच्छा जगती है।
(२) पाँच इन्द्रियो के विपयो मे आसक्ति घटती है।
(३) ससार के बधनो का डर एव मोक्ष के प्रति प्रीति जगती है।
(४) राग-द्वेप की तीव्रता घटती है...मिथ्या मान्यताओ का कदाग्रह उपशान्त हो जाता है।

हालांकि, यह सम्यग्दर्शन का निर्मल भाव तब प्रगट होता है जबकि—

— आयुष्य कर्म के सिवाय के अन्य सात कर्मो की स्थिति 'अन्तः कोडाकोडी सागरोपम' की हो जाती है।

— संसार का परिभ्रमण (जन्म-जरा) 'अर्धपुद्गल परावर्त' की मर्यादा में शेष रहना चाहिए।

आत्मा में सम्यग्दर्शन का गुण प्रगट होने के पश्चात्, वह सद्गृहस्थ यथाशक्ति, हेय का त्याग और उपादेय का स्वीकार करने की आकांक्षा करता है। वह गृहस्थोचित व्रतनियम (शील) को जानता है, समझता है। अनित्यादि बारह भावनाओं के चिंतन से उसमें [1]व्रत नियम ग्रहण करने का बल प्रगट होता है। उसका मनोभाव दृढ़–मजबूत बनता है।

● [2]हिंसा वगैरह पांच पापों में ऐहिक आपत्ति एवं पारलौकिक अनिष्ट का दर्शन करता है।

● 'हिंसा वगैरह दोषों में दुःख ही है।' ऐसी भावना से वह बारबार भावित बनता है।

● प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभावना, गुणाधिक मनुष्यों में प्रमोदभाव दुःखी हो रहे जीवों के प्रति करुणाभावना और अविनीत–कुपात्र के प्रति माध्यस्थ्यवृत्ति बनाये रखता है।

● जगत के स्वभाव का और शरीर के स्वभाव का चिंतन करके संवेग और वैराग्य को वह पुष्ट करता है।

गृहस्थोचित बारह व्रत

(१) स्थूल प्राणातिपात से विरति

प्राणातिपात' यानी हिंसा। [3]प्रमाद से होनेवाले प्राणवध को हिंसा कहा गया है।

गृहस्थजीवन में सूक्ष्म जीवों (पृथ्वीकाय वगैरह एकेंद्रिय जीव) की हिंसा से बचना शक्य नहीं होने से, स्थूल (बेइंद्रिय वगैरह जीव) जीवों की हिंसा से विरत रहने का यह पहला व्रत है। अथवा स्थूल

1 हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्॥ —तत्त्वार्थ० ७/१

2 हिंसादिष्विहामुत्रचापायावद्यदर्शनम्। दुःखमेव वा। मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु। जगत्कायस्वभावौ च संवेगवैराग्यार्थम्॥
—तत्त्वार्थ० ७/४-७

3 प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा। —तत्त्वार्थ० ७/८

का तात्पर्यार्थ 'संकल्प हिंसा' है। 'इन जीवो को मार दू' ऐसा संकल्प करना वह स्थूल प्राणातिपात कहा जाता है। इस संकल्पपूर्व की हिंसा नही करना, यह पहला व्रत है।

स्थूल प्राणनाश की वृत्ति और प्रवृत्ति कम होने से व्यक्तिगत जीवन मे एव सामूहिक जीवन मे शांति और सुख को बढावा मिलता है। यो करते करते प्रमत्तयोगरूप सूक्ष्म हिसा का त्याग भी सहज बन सकता है।

स्थूल हिंसा के त्याग का व्रत लेने के बाद निम्न पाँच सावधानियां रखनी जरुरी होती है.

१ किसी भी जीव को उसके इष्ट स्थान मे जाने से नही रोकना या बाधकर नही रखना।

२ चाबूक से या रस्सी से मारना - ताडित नही करना।

३ कान, नाक, चमडी वगैरह अवयवो को काटना या बधिया नही करना।

४ पशु पर या मनुष्य पर, उसकी हैसियत से ज्यादा भार नही डालना।

५ किसी के खाने पीने मे अतराय नही करना।

गृहस्थजीवन की किसी मजबूरी से इसका पालन शायद न भी हो सके, तो भी हृदय की कोमलता नष्ट न हो और सामने के जीव की मृत्यु न हो जाय, इतनी सावधानी तो रखनी चाहिए।

(२) स्थूल मृषावाद (अनृत) से विरति .

मृषावाद यानी असत्य! [1]प्रमाद से इरादापूर्वक असत्य कथन करना, उसे कहते है असत्य। जिस चीज का अस्तित्व हो उसका इन्कार करना, उसका नाम है असत्य। या फिर जो वस्तु जिस रूप मे हो उससे अलग रूप मे उसका वयान करना—उसका नाम है असत्कथन। बात सच्ची होने पर भी दूसरे के दिल को टीस पहुँचे वैसी हो...उसे भी असत् कथन माना गया है। स्थूल मृषावाद का अर्थ है इरादापूर्वक (दुष्ट) असत् कथन करना। उसके त्यागरूप यह दूसरा व्रत है।

1 असदभिधानमनृतम्। —तत्त्वार्थ० ७/९

स्थूल मृषावाद–त्याग का व्रत लेने वाले गृहस्थ को निम्न पाच सावधानियां रखनी होती हैं

१ सच्ची-झूठी बातो से पटाकर किसी को गलत सलाह नही देना।

२ राग-द्वेष से प्रेरित होकर पति पत्नी, भाइ भाई पिता पुत्र वगैरह को अलग नही करना। उनकी सच्ची भी गुप्त बात प्रगट नही करना। गलत आरोप नही मढना।

३ गलत–जाली सिक्के बनाना नही जाली हस्ताक्षर करना नही बनावटी दस्तावेज नही करना जाली नोट नही छापना जाली निशान नही करना वगैरह।

४ किसी की अमानत का हडपना नही। जरा सी भी चीज का हडप नही करना।

५ आपस मे सबध टूट जाय उस इरादे से एक–दूजे की चुगली नही करना। किसी की गुप्त बात को प्रगट कर के उसकी तौहीन नही करना।

(३) स्थूल अदत्तादान से विरति

अदत्तादान अर्थात चोरी। 'अदत्तादान का स्तय'[1] भी कहा गया है। बिना दिया हुआ लेना उसका नाम चोरी। जिस चीज पर किसी दूसरे का अधिकार हो यह चीज चाहे फिर तिनके जैसी ही क्या न हो, उसके मालिक की इजाजत के बिना चोरी करने के आशय से लेना उसे चोरी कहा जाता है। स्थूल चोरी का अर्थ यह है दुनिया मे समाज मे, राज्य मे, जिसे चोरी मानी जाती हो वैसी चोरी करना। ऐसी चोरी के त्यागरूप यह तीसरा व्रत है। इस व्रत को लेनवाले गृहस्थ को, चाहे कितनी भी अच्छी चीज हो पर यदि दूसरे की हो तो उसके प्रति ललचाना नही चाहिए। दूसरे की वस्तु लेने का विचार तक भी नही करना चाहिए।

स्थूल चोरी के त्यागरूप तीसरा व्रत लेनवाले को निम्न पाच सावधानियां रखनी होती हैं

1 अदत्तादान स्तेयम्। —तत्त्वार्थ० ७/१०

१ किसी को चोरी करने के लिये स्वय प्रेरित नही करना, दूसरे के द्वारा प्रेरणा करवाना नही...या चोरी के काम मे सहमति नही देना।

२ चोरी का माल खरीदना नही, लेना या रखना नही।

३ देश के, राष्ट्र के आयात-निर्यात के कानूनो का उल्लघन नहीं करना। तस्करी मे हिस्सा नही लेना।

४ गलत या जाली नापतोल, तराजू वगैरह से चीज–वस्तु की लेन देन नही करना।

५ असली चीज की नकल करके नही चलना। [जैसे अपने देश का कपडा और मुहर लगाये जापान की...वगैरह]

(४) स्थूल मैथुन से विरति

स्थूल मैथुन यानी परस्त्रीगमन।

[1]गृहस्थ को परस्त्री के त्याग का यह चौथा व्रत लेना है। स्त्री-पुरुष की रतिक्रिया मे मैथुन शब्द रूढ हुआ है। मैथुन का सर्वथा (मन-वचन-काया से) त्याग, वह महाव्रत है। आशिक त्याग वह व्रत है। गृहस्थ स्वस्त्री के साथ मैथुन का सेवन करे, परन्तु परस्त्री के साथ मैथुन सेवन नही करे, इसका नाम है स्थूल मैथुन से विरति। (स्त्री के लिये परपुरुष के साथ के मैथुन सेवन के त्याग रूप यह व्रत समझना है)

इस व्रत के धारक को निम्न पाँच सावधानिया रखनी जरूरी होती है।

१ कन्यादान के फल की इच्छा या स्नेहसबध से अन्य सतति की शादी वगैरह नही करना।

२ किसी दूसरे ने थोडे समय के लिये पैसे देकर (किराये पर) रखी हुई वेश्या वगैरह स्त्री का उस समय मे उपभोग नहीं करना।

३. वेश्या, विरहिणी स्त्री, अनाथ स्त्री, वगैरह जो कि किसी अन्य पुरुष के अधीन नही हो उसका भी उपभोग नही करना।

1 परदारनिवृत्तिव्रतस्य तु परपरिगृहितस्त्रीपरिहारः। —प्र. र. टीकायाम्

४ सृष्टिविरुद्ध रतिक्रिया नहीं करना ।

५ बारबार कामेच्छा का उद्दीपन नहीं करना [इसके लिए उत्तेजक आहार व्यवहार, खान पान, नहीं रखना चाहिए, न ऐसे दृश्य नहीं देखने चाहिए, ऐसे वर्णन नहीं पढ़ने चाहिए, ऐसे सपने नहीं रखने चाहिए]

स्वस्त्री (पत्नी) के अलावा तमाम स्त्रियों के साथ इस व्रत के धारक को हँसना, घूमना, स्पर्श करना वगैरह छोड़ देना चाहिए । इसी तरह स्वपुरुष (पति) के अलावा तमाम पुरुषों के साथ इस व्रत की धारक स्त्री को भी हँसना, घूमना, या शरीरस्पर्श करना त्याग देना चाहिए ।

(५) स्थूल परिग्रह से विरति

ग्रन्थकार ने अपने तत्त्वार्थसूत्र में परिग्रह का अर्थ मूर्च्छा[1] किया है, पर प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने रति-अरति अर्थ किया है । रति यानी खुशी, अरति यानी नाराजगी । जो मनुष्य धन धान्य, सोना चाँदी, जौहरात, घर, दुकान, जमीन, जगह, मकान—आदि संपत्ति में मूर्च्छा [आसक्ति] रखता है, लगाव रखता है उसे प्रत्येक क्षण रति अरति [खुशी-नाखुशी] होती ही । इसलिए परिग्रह के परिमाण रूप विरति का यह पाँचवाँ व्रत है । परिग्रह में रति-अरति घटानी चाहिए । लगाव कम होना चाहिए ।

इस व्रत के धारक को निम्न सावधानियाँ रखनी आवश्यक होती हैं

१ जिस जमीन को खेती वगैरह के लायक माना गया हो उसे 'क्षेत्र' कहा जाता है और रहने लायक जमीन को 'वास्तु' माना जाता है । इन दोनों का प्रमाण [मर्यादा सीमा] स्वयं ने धार लिया है, उस मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए ।

२ अलंकार में लगे हुए और व्यापार द्वारा सोने चाँदी के निश्चित प्रमाण का उल्लंघन नहीं चाहिए ।

३ पशु का जो नियम लिया है वह और सामान वगैरह के वस्तुओं प्रमाण का बढ़ाना नहीं चाहिए ।

---

१ मूर्च्छा परिग्रहः । —तत्त्वार्थ० ७/१७

४ नौकर वगैरह की निश्चित संख्या का अतिक्रमण नही करना चाहिए।

५ बरतन और कपड़ो की निश्चित मर्यादा का उल्लंघन नही करना चाहिए।

ये पाँच अणुव्रत कहे जाते है। इन्हे 'मूल गुण' भी कहा जाता है। तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों को 'उत्तर गुण' कहा जाता है। ग्रन्थकार ने इन उत्तर गुणो को 'शील' कहा है।

(६) दिग्विरति व्रत .

पूर्व–पश्चिम, उत्तर–दक्षिण, और ऊर्ध्व–अधोदिशाओ मे जाने की मर्यादा निश्चित करना. .उस मर्यादा से बाहर नही जाने का यह व्रत है। 'यहां तक जाऊंगा, इससे आगे नही जाऊंगा .' इस तरह यह व्रत लिया जाता है। इस व्रत के धारक को निम्न नियमो का पालन करना होता है :

१ पेड, पहाड पर चढने मे या विमान मे सफर करने की ऊँचाई का विस्तार तय करने के बाद मे लोभ-लालच या अन्य किसी कारण से मर्यादा को तोड़नी नही चाहिए।

२ नीचे भूमिगृह (तलघर) मे .कुए वगैरह मे उतरने का प्रमाण [मर्यादा] नक्की कर के उसकी मर्यादा नही तोड़नी चाहिए।

३ तिरछे जाने [गाड़ी, बस या अन्य किसी वाहन से, पैदल चलकर] का प्रमाण तय करने के बाद उसका भंग नही करना चाहिए।

४ अलग अलग दिशाओ का अलग अलग प्रमाण स्वीकार करने के पश्चात् कम प्रमाणवाली दिशा मे विशेष प्रयोजन आ जाने पर, दूसरी दिशा मे स्वीकृत प्रमाण मे से अमुक हिस्सा कम करके इच्छित दिशा मे जोड़ना नही चाहिए।

५ प्रमाद से या मोह से, लिये हुए व्रत का स्वरूप और उसकी मर्यादा विस्मृत न हो जाये इसकी सावधानी रखनी चाहिए।

(७) देशावकाशिक व्रत

हमेशा के लिये दिशाओं मे जाने की मर्यादा निश्चित होने पर भी, उस मर्यादा मे रहते हुए, समय समय पर प्रयोजन के मुताबिक क्षेत्र का परिमाण नक्की करना और उसके अलावा के पापकार्यों से निवृत्ति लेना, उसका नाम है देशावकाशिक व्रत। इस व्रत के धारक को निम्न सावधानिया रखनी चाहिए

१ जितने प्रदेशो का नियम किया हो, उसस बाहर रही हुई वस्तु की आवश्यकता पडे तो खुद तो नही जाना, पर सदेश वगरह भेजकर दूसरो के द्वारा भी वस्तु मगवाना नही।

२ नौकर आदि को हुक्म करके वहा बैठ बैठ भी काम नही करवाना चाहिए।

३ निश्चित की हुई मर्यादा के बाहर रहे हुए किसी को बुलवा कर काम करवाने के इरादे से पुकारना या आवाज भी नही देना।

४ शब्द तो नही पर इशारे से या शरीर को हिलाडुला कर भी किसी को नही बुलाना।

५ ककर वगरह फककर भी अपने पास आने की सूचना नही देना।

(८) अनर्थदडविरति व्रत

निष्प्रयोजन बिना किसी कारण कोई प्रवृत्ति करना उसे कहते है अनर्थ। बेवजह अपनी आत्मा दडित हो वह होता है अनर्थदड। अपने भोगरूप प्रयोजन से जो पाप-प्रवृत्ति हो इसके अलावा के तमाम पाप व्यापार अनर्थदड माने जाते है। उनसे निवृत्ति लेना, वह आठवा व्रत है। इस व्रत के धारक को निम्न सावधानिया रखनी आवश्यक है।

१ असभ्य भाषण नही करना। परिहास-ठिठोली नही करना।

२ कुतूहलबाजी करके शारीरिक विक्रियाए नही करना।

३ बेशरम होकर बक बक नही करना।

४ शस्त्र, अग्नि वगरह पाप साधन दूसरो को नही देना। नही रखना।

५ भोग उपभोग की ढेर सारी वस्तुए एकत्र करना।

(६) सामायिक व्रत :

अमुक निश्चित समय तक [दो घडी = ४८ मिनट] पाप प्रवृत्ति का त्याग करके प्रतिज्ञापूर्वक ['करेमि भंते' सूत्र के द्वारा] धर्मप्रवृति मे स्थिर होना। उसे सामायिक व्रत कहा जाता है। इस व्रत को बहुधा चैत्या-यतन [उपाश्रय मे] या साधु के पास करना होता है। इस व्रत के धारक को निम्न पाँच सावधानिया रखना जरुरी है :

१ हाथ, पैर वगैरह अगो का बिनजरुरी मचलन बद करना।
२ अर्थहीन, सस्कारहीन, हानिकारक भाषा नही बोलना।
३ क्रोध वगैरह विकारो के वश होकर बूरे विचार नही करना।
४ ऊबाहट का शिकार नही होना। ज्यो त्यो प्रवृत्ति को निपटाना नही।
५ एकाग्रता बनाये रखनी। चित्त को स्थिर रखते हुए 'मै सामायिक मे हू' वह स्मरण रखना।

(१०) पौषध व्रत ·

आठम-चौदस-पूनम वगैरह पर्वतिथि के दिनो मे, प्रतिज्ञापूर्वक चार प्रहर का या आठ प्रहर का पौषध व्रत करना। १ आहार का त्याग, २. शरीर के शृगार का त्याग, ३. व्यापार का त्याग एव ४. ब्रह्मचर्य का पालन इस तरह चार प्रकार का यह **पौषध** व्रत होता है। इस व्रत के धारक को निम्न सावधानिया बरतने की होती है

१ कोई जतु है या नही, वह आखो से देखकर या मुलायम उप-करण [चरवले] से प्रमार्जन करके मल-मूत्र-श्लेष्म वगैरह का त्याग करना चाहिए।
२ देखभाल कर, प्रमार्जन कर के लकडी, चौकी-पाटा वगैरह लेना-रखना चाहिए।
३ देखभाल कर, प्रमार्जन करके आसन या सथारा बिछाना चाहिए।
४ उत्साह से योग्य प्रवृत्ति करनी चाहिए।
५ मैं पौषध मे हू', चार प्रहर या ८ प्रहर का मेरा पौषध है.' वगैरह याद रखना चाहिए।

(११) उपभोग परिभोग-परिमाण व्रत

पुष्प, धूप, स्नान, विलेपन वगैरह उपभोग में गिने जाते हैं। जबकि वस्त्र, शयन, मकान, गहने वगैरह परिभोग कहा जाता है। अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य-रूप भोजन भी उपभोग कहा जाता है। कहने का मतलब यह है कि जिस में काफी पाप संभवित हो वैसा भोजन, गहने, कपड़े, बरतन वगैरह का त्याग कर के, कम पाप लगे वैसी वस्तुओं के भोग के लिये परिमाण (संख्या) निश्चित करना वह इस ग्यारहवें व्रत का लक्ष्य होता है। इस व्रत के धारक को निम्न सावधानियां रखनी होती हैं

१ किसी भी तरह की वनस्पति वगैरह सचेतन (सचित्त) पदार्थ का आहार नहीं करना।

२ गुटली, वगैरह सचित्त पदार्थयुक्त फल वगैरह का भोजन नहीं करना।

३ तिल, खसखस वगैरह सचित्त वस्तु से मिश्रित लड्डू वगैरह का भोजन नहीं करना। वैसे ही चींटी, इलिका वगैरह सूक्ष्म जंतुओं से युक्त वस्तु का भोजन नहीं करना।

४ शराब, भंग वगैरह मादक पदार्थों का सेवन नहीं करना।

५ अधपक्व अपक्व आहार का भोजन नहीं करना।

(१२) अतिथि संविभाग व्रत

न्यायोपार्जित एवं साधु साध्वी के लिये उचित, योग्य वैसी खाने पीने की वस्तुओं का उभय पक्ष (लेने वाले एवं देने वाले दोनों) को लाभ हो उस ढंग से, शुद्ध भक्ति भावपूर्वक सुपात्र में देना—उसका नाम है अतिथि संविभाग व्रत। इस व्रत के लिये जरूरी है कि

— पौषधव्रत में उपवास के पारण के दिन किया जाये।

— साधु-साध्वी के निमित्त कुछ भी भोजन वगैरह न बनाये।

— घर पर आये हुए साधुओं को आदरपूर्वक भोजन वगैरह देना।

— साधु को जो नहीं दिया हो उस पदार्थ का उपयोग स्वयं के लिये नहीं करना।

इस व्रत के धारक को चाहिए कि वह निम्न सावधानिया भी बरते

१ खाद्य सामग्री साधु को देनी न पडे इसके लिये उन पदार्थो को सचित्त वस्तु के उपर रखना नही या उनमे लगाकर मत रखना।

२. देने के पदार्थो पर सचित्त वस्तु रखकर उन्हे ढाप मत देना।

३ 'यह चीज तो मेरी नही है...दूसरो की है...' वैसा झूठ नही बोलना (देना नही पडे इस इरादे से)

४ बेमन से... अनादर से मत देना। दूसरो की ईर्ष्या या स्पर्धा से मत देना।

५. 'साधु आयेगे तो देना पडेगा' यह सोचकर भिक्षा के समय से पूर्व ही खा पी नही लेना।

इस तरह शुभ भावनाओ मे बहता हुआ सद्गृहस्थ बारह व्रतो का भलीभाति पालन किया करे एव अपनी आर्थिक शक्ति व मर्यादा के अनुसार जिनमदिर मे जिन प्रतिमा की प्रतिष्ठा वगैरह करे। स्वजन परिवार के साथ, गीतगान एव सगीत के सूरो के साथ, नृत्यकारो के नृत्य के साथ दिल के उछलते-उफनते उमग के साथ प्रभु की प्रतिष्ठा करे। इस प्रसग पर जिनशासन की जिन जिन माध्यमो से प्रभावना हो सकती हो . उन सभी माध्यमो को दान दे .उनका उपयोग करे... यानी कि जनसमूह जिनशासन का प्रशसक बने ..वैसे उपाय करे इसके लिये देश—काल व उपस्थित परिस्थिति का पूरा अदाजा लगाकर प्रवृत्ति करे। गुणो से और व्रतो से जनसमूह मे लोकप्रिय एव आदरणीय बना हुआ प्रशान्त व्यक्ति ही जिनशासन की महान प्रभावना कर सकता है।

● प्रतिष्ठा कर के-करवा के वह सत्पुरुष, तीर्थकर परमात्मा की प्रतिमा की भावपूर्वक पूजा करे। जिनमदिरो को विशिष्ट सुगधित पदार्थो से सुरभित कर दे इसके बाद ताजे सुगधी फूलो की माला प्रभुप्रतिमा के गले मे आरोपित करे। कीमती अलकार व वस्त्र अर्पण करे, उत्तम प्रकार के सुगधित धूप-सुवास से पूजा करे। रोमहर्षित होकर दीपक पूजा करे। भावपूर्ण हृदय से परमात्मा की स्तवना करे।

● 'कब मै साधुजीवन को पाऊगा ? कब मै कषाय शत्रुओ पर विजय प्राप्त करुगा ? कब मै ज्ञानध्यान मे लीन-तलालीन होऊगा ?

'कब मैं प्रशमरस में डूब जाऊँगा ?' इस तरह की अभिलाषाएं उसके दिल के दरिये में हमेशा हिलोरें लेती रहें।

सदैव वह महापुरुष, तीर्थंकर भगवंत के स्मरण में दर्शन में-वंदन में अभिरत होता है। त्रिकाल जिनपूजा करता हो।

सदैव आचार्य-उपाध्याय और साधुपुरुषों के दर्शन वंदन में और सेवाभक्ति में वह तत्पर रहता हो। उसके हृदय में प्रीति, भक्ति, आदर, बहुमान भरे हुए हों।

जब उसे लगे कि 'अब मेरा आयुष्य कुछ ही शेष है मौत निकट है' तब 'मारणांतिक संलेखना व्रत लेना चाहिए।[1]

कषायों पर विजय पाने के लिये, कषायों को क्षीण बनाने के लिये 'संलेखना व्रत' लिया जाता है। यह संलेखना व्रत वर्तमान शरीर का अंत आये वहाँ तक लेने का होने से वह 'मारणांतिक संलेखना' कहा जाता है। संलेखना व्रत में प्राणों का नाश होता है पर वह रागद्वेष या मोह से नहीं होता है इसलिये उसे आत्महत्या या खुदकुशी नहीं कहा जा सकता। इस व्रत का जन्म होता है निर्मोही एवं वीतराग बनने की उदात्त भावना में से। यह व्रत तब ही ग्रहण किया जाता है जबकि मृत्यु निश्चितरूप से नजदीक दिखने लगे और किसी भी प्रकार का दुर्ध्यान या आर्तध्यान होने की शक्यता नहीं हो। इस व्रत का स्वीकार करने पर निम्न बातों की सतर्कता रखनी आवश्यक होती है।

● 'इस व्रत का ग्रहण करने वाले की दुनिया के लोग पूजा करते हैं, आदर-सत्कार करते हैं प्रशंसा करते हैं यह देखकर ललचा नहीं जाना है और न ही यह सोचना है कि 'मेरी जिन्दगी बढ़ जाये तो अच्छा।'

● व्रत लेने के पश्चात् यदि कोई सेवा करनेवाला न मिले कोई आदर या मान देनेवाला न हो तब परेशान नहीं होना है और 'जल्दी मर जाये तो अच्छा' ऐसी इच्छा भी नहीं रखनी है।

● व्रत लेने के बाद मित्र-पुत्र या स्वजनों पर स्नेह-आसक्ति नहीं रखना है।

1 मारणांतिकी संलेखना जोषिता। —तत्त्वार्थ० ७/१७

● जीवन मे अनुभव किये हुए वैषयिक सुखो को स्मृति मे नही लाना है।

● तप-त्याग का बदला किसी भी भोगसुख के रूप मे मागने की गल्ती मत करना।

इतनी सावधानिया रखते हुए, धर्मध्यान मे वह रममाण रहता है। इस तरह परम विशद सलेखना-व्रत का वह पालन करता है...पालन करते–करते समाधिमृत्यु का वरण करता है।

उसका जन्म देवलोक मे होता है। वैमानिक (१ से १२ तक) देवलोक मे वह इन्द्रत्व प्राप्त करता है—या फिर इन्द्र के समान सपत्ति-वैभववाला 'सामानिक' देव होता है। इन्द्र या सामानिक देव न बन पाये तो भी वह विशिष्ट ऋद्धि-तेज एव प्रभावपूर्ण वैमानिक देव तो होता ही है।

प्रश्न · मनुष्यजीवन मे उच्च कोटि का धार्मिक जीवन (देशविरति-पूर्ण जीवन) जीकर देवलोक मे वह जीवात्मा अविरति का जीवन क्यों प्राप्त करता है? उसे तो दूसरे जन्म मे तो क्रमिक धार्मिक-आध्यात्मिक विकास हो वैसा वातावरण मिलना चाहिए ना?

उत्तर सम्यग्दृष्टि जीवात्मा एव देशविरति जीवात्मा देवगति का ही आयुष्य वाधते है। जिस गति का आयुष्य कर्म बधा हो...उस गति मे जाना ही पडता है..देवगति मे जीवात्मा हालाकि, व्रतनियम वगैरह का पालन नही कर सकता है, परन्तु परमात्मा का स्मरण-दर्शन-पूजन-स्तवन वगैरह तो कर ही सकता है। और फिर, इन्द्र तो सम्यग्दृष्टि ही होते है...यहा मनुष्यजीवन मे जो जीवात्मा उच्च कोटि की वाह्य-आतरिक धर्म-आराधना कर के देवलोक मे जाते है...वे सब अधिकाश वहां पर सम्यग्दृष्टि ही होते है। अत. वे देवलोक के दिव्य सुख-वैभव असख्य वरसो तक भोगते हुए भी उसमे डूब नही जाते है। मनुष्य क्षेत्र मे जहा जहा तीर्थंकर विचरते हो वहा बराबर आते जाते रहते है और धर्म का उपदेश सुनते रहते है। 'नदीश्वर द्वीप' जैसे शाश्वत् तीर्थों की यात्रा भी वे करते रहते है। तीर्थंकरो के जन्म-दीक्षा-केवल-निर्वाण कल्याणक के महोत्सव मनाने के लिये जाते है। जब भी किसी

छद्मस्थ जीवात्मा को केवलज्ञान की प्राप्ति होती है तब केवलज्ञान का महोत्सव मनाने भी जाते हैं।

मनुष्यजीवन में पालन किये गये व्रत-नियम निष्फल या विफल नहीं होते हैं। संस्कार रूप में वह सब कुछ आत्मा में सुरक्षित रहता है देवलोक का आयुष्य पूरा होते ही उसका जन्म मनुष्य रूप में होता है।

— आर्यदेश में
— उच्चजाति कुल में जन्म होता है।
— प्रेमभरा, उदार व प्रसन्न परिवार मिलता है।
— रूप लावण्य, खूबसूरती एवं सौभाग्य प्राप्त होता है।
— निरोगी एवं सशक्त शरीर मिलता है।
— परमात्मभक्ति के संस्कार जगते हैं।
— सम्यग्दर्शन का गुण प्रगट होता है।
— मतिज्ञान-श्रुतज्ञान का उजला प्रकाश फैलता है।
— देशविरति-जीवन प्राप्त होता है।
— सर्वविरति-श्रमणजीवन नसीब होता है।
— बारह प्रकार का तप करके कर्मों का संवरित करता है।
— सभी कर्मों का नाश करके परम शुद्ध बनता है-मुक्त बनता है।

शायद इस तरह तीसरे भव में मुक्ति नहीं भी मिल पाये तो चौथा भव देवलोक का, पाँचवा भव मनुष्यलोक का, छठा भव देवलोक का सातवाँ भव मनुष्य जीवन का और इस तरह आठवें भव में तो मोक्ष में जाता ही है।

— गृहस्थ भी क्रमिक रूप से किस तरह आत्मविकास कर सकता है पूर्णता प्राप्त कर सकता है-उसका सुव्यवस्थित मार्गदर्शन यहाँ पर ग्रन्थकार ने दे दिया।

प्रशमरति की फलश्रुति

श्लोक इत्येवं प्रशमरतेः फलमिह स्वर्गापवर्गयोश्च शुभम्।
सम्प्राप्यतेऽनगारैरगारिभिश्चोत्तरगुणाढ्यैः ॥३१०॥

अर्थ [इति ग्रंथ समाप्ति सूचक है] इस तरह, उत्तरगुणों से [मूलगुणों से भी] समृद्ध अणगार एवं गृहस्थ प्रशमरति का इस प्रकार का शुभ फल प्राप्त करते हैं।

विवेचन · प्रशमरति !
कषायजय !

इसका फल विस्तार से बताने के पश्चात्, अब साररूप मे बताते है स्वर्ग और अपवर्ग। स्वर्ग मे अभ्युदय का सुख मिलता है...अपवर्ग-मोक्ष मे निःश्रेयस का सुख मिलता है। दोनो सुख पारलौकिक है। दुनिया मे श्रेष्ठ भौतिक सुख स्वर्ग मे मिलता है .। आत्मा का श्रेष्ठ आध्यात्मिक सुख मोक्ष मे मिलता है। पर ये दोनो प्रकार के सुख प्राप्त तब होते है जब मनुष्य कषायो पर विजय प्राप्त करता है। प्रशमरस का निरतर आस्वाद करता है। जिनेश्वर परमात्मा की सभी आज्ञा–उपदेशो की सारभूत आज्ञा यही है

कषायो को जीतो। रागद्वेष को जीतो।

उपाध्याय श्री यशोविजयजी 'उपदेशरहस्य' ग्रन्थ के उपसहार मे कहते है..

किं बहुणा ? इह जह जह रागद्दोसा लहुं विलिज्जंति ।
तह तह पयट्टिअव्वं एसा आणा जिणिंदाणं ।।

'ज्यादा हम क्या कहे ? जिस ढग से, शीघ्रतिशीघ्र राग-द्वेष का विलय हो...उस तरह से प्रवर्तित होना यही जिनेश्वर भगवतो की आज्ञा है।'

कषायो का जय करते हुए प्रशमरस की अनुभूति करने के लिये आत्मस्वरुप का ध्यान करने का उपाय, 'उपदेशरहस्य' मे बताया गया है।

'अशुभ विकल्पो को मिटाकर, क्रोधादि कषायो का त्याग कर के (कुछ समय के लिये भी) शुद्ध बनकर यथा-अवसर आत्मस्वरुप का ध्यान करना चाहिए।'

शरीर, धन, घर, पलग, मित्र, स्त्री, पुत्र भी सब जुदा है अन्य है..परद्रव्य स्वरुप है, मै इनसे सुतरा भिन्न हू...' यह चितन कर के फिर नित्य, निष्कलक, ज्ञान-दर्शन-समृद्ध, अवश्य उपादेय,शाश्वत्पदरुप शुद्ध आत्मस्वरुप का ध्यान करना चाहिए।

यह ध्यान करने से रागद्वेप की परिणति घटती है ..धीरे धीरे नष्ट हो जाती है। भगवान उमास्वाती ने 'जगत के सभी जीव कषायो को

नष्ट करके शाश्वत सुख को प्राप्त करें। इसी श्रेष्ठ, शुभ भावना से 'प्रशमरति' ग्रन्थ की रचना की है। सभी गृहस्थ और साधुपुरुष इस ग्रन्थ का प्रतिदिन अध्ययन-मनन-चिंतन करते रहें तो उनके रागद्वेष मंद हुए बगैर नहीं रहेंगे। उन्हें स्वर्ग और मोक्ष के सुख मिले बगैर नहीं रहेंगे। हाँ, पर उन्हें मूल गुणों से एवं उत्तर गुणों से समृद्ध तो होना ही होगा।

ग्रन्थ के विषय को पूर्ण कर के अब ग्रन्थकार अपना आत्मनिवेदन अत्यन्त नम्रताभरे शब्दों में करते हुए कहते हैं

ग्रन्थकार का आत्मनिवेदन

श्लोक जिनशासनार्णवादाकृष्टां धर्मकथिकामिमां श्रुत्वा ।
रत्नाकरादिव जरत्कपर्दिकामुद्धृतां भक्त्या ॥३११॥
सद्भिर्गुणदोषज्ञैर्दोषानुत्सृज्य गुणलवा ग्राह्याः ।
सर्वात्मना च सततं प्रशमसुखायैव यतितव्यम् ॥३१२॥

अर्थ समुद्र में से निकाली हुई जीर्ण कौड़ी जैसी, जिनशासनरूप समुद्र में से उद्धृत इस धर्मकथा को [प्रशमरति को] भक्तिभाव से सुनकर

गुणदोष के ज्ञाता सज्जनों को दोषों को छोड़कर थोड़े भी गुणों को ग्रहण करने चाहिए और प्रशमसुख के लिए हमेशा सभी तरह से विशेष प्रयत्न करने चाहिए।

विवेचन वाचकश्रेष्ठ भगवान उमास्वाति 'प्रशमरति' ग्रन्थ की पूर्णाहुति करते हुए आत्मनिवेदन कर रहे हैं यह सभी लेखकों के लिए, टीकाकारों के लिए एवं सग्रहकर्ताओं के लिए अत्यन्त मननीय है, प्रेरणादायी है। भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के बाद करीब ४७१ बरस पश्चात् हुए इन श्रुतधर महर्षि ने ५०० ग्रन्थों की रचनाएँ की थी। पर अधिकतर उनकी ग्रन्थरचनाएँ संग्रहरूप में थी। उनकी प्रज्ञा एवं उनके ज्ञान व अनुभव की परिपक्वता के रूप में थी।

इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में (श्लोक ३ से १५) उन्होंने जो आत्मनिवेदन किया है और नम्रता दर्शायी है वह मुमुक्षु एवं ज्ञानी आत्मा को गद्गद् बना डालती है। ऐसी ऊँची कक्षा पर आसीन प्रज्ञा

विद्वान महर्षि....और इतनी विनम्रता....! !' ग्रथ के अत मे भी अपने आतरिक भावो की अभिव्यक्ति उतने ही नम्र शब्दो मे एव सरल भाषा मे व्यक्त कर रहे है :

जिन शासनरूप समुद्र मे से निकाली हुई यह 'धर्मकथा' समुद्र मे से निकाली हुई जीर्ण कौड़ी जैसी हैं।

— 'प्रशमरति' की तुलना वे रत्नाकर के रत्न के साथ नही कर रहे है .बल्कि कौडी के साथ तुलना करते है, वह भी जीर्ण कौडी ! तो क्या जिनवचन जीर्ण कौडी जैसे है ? नही ! जिनवचन तो रत्न समान ही है। परन्तु उन्होंने सापेक्ष दृष्टिकोण से यह प्रतिपादन किया है। समुद्र मे जैसे रत्न होते है–वैसे ही कौडी भी होती है। अच्छी कौडिया होती है .और जीर्ण-टूटी-फूटी कौडिया भी होती हैं। उसी तरह जिनशासन के श्रुतसागर मे, चौदहपूर्वो मे (दृष्टिवाद मे) रहा हुआ श्रुत रत्नसमान है। उसकी अपेक्षया उन्होने 'प्रशमरति' ग्रन्थ मे सकलित किया हुआ श्रुत कौडी के जैसा है। कौड़ी की जीर्णता बतायी गयी है ग्रथरचना की दृष्टि से ! उन महापुरुष के दृष्टिकोण मे मेरी यह ग्रथरचना सक्षिप्त है...जैसी होनी चाहिए वैसी सु दर नही है..' ऐसा लगा होगा .या फिर 'मै स्वय अपनी ग्रथरचना को श्रेष्ठ कैसे बताऊ ? यह तो औद्धत्य है।' इसलिये उन्होने 'प्रशमरति' जीर्ण कौडी जैसी कही हो ..जैसे कि कोई श्रीमन्त महानुभाव भी अपने विशाल और शानदार बगले को झोपडी की सज्ञा देता है...और किसी बड़े आदमी को निमन्त्रण देते हुए कहता है. . 'मेरी गरीब की झोपडी को पावन कीजिये।' वह अपनी भव्य हवेली को झोपडी कहता है। इसी तरह कोई विनम्र श्रीमन्त किसी शुभ कार्य मे लाख-पाँच लाख रुपये की राशि देते समय भी कहता है 'मेरी यह तुच्छ भेट का स्वीकार करे।' वह लाख-पाँच लाख रुपयो को भी तुच्छ राशि-तुच्छ भेट कहता है...इसी तरह ग्रन्थकार ने, शायद अपने ग्रन्थ को 'जीर्ण कौडी' कहा होगा ? वे कहते है **मैने भक्ति से प्रेरित होकर, जिनशासन रूप सागर में से इस धर्मकथा को उद्धृत किया है।'**

उन्होने ग्रन्थ के प्रारभ मे भी 'तद्भक्तिबलार्पितया' शब्दो से यह बात स्पष्ट की है। परन्तु यह भक्ति उन्होने अपने से पूर्व हो गये

महान् श्रुतधर महर्षि के प्रति प्रदर्शित की है जबकि यहा पर वे अपनी भक्ति चरम तीर्थंकर परमात्मा महावीर देव के प्रति दर्शा रहे हैं। जिन परमात्मा का धर्मशासन पाकर उन्होंने सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्षमार्ग की आराधना की उन परमात्मा के प्रति उनका दिल कृतज्ञता से छलक उठे यह सहज स्वाभाविक है। परमात्मा के धर्मशासन (साधु-साध्वी, श्रावक श्राविका) के प्रति भी वे अपनी कृतज्ञता व्यक्त करें, यह उचित ही है।

'भक्त्या' शब्द का यह एक अर्थ होता है। दूसरा अर्थ भी संभवित है गुणदोष के ज्ञाता सज्जन पुरुष भक्ति से यह धर्मकथा (प्रशमरति) सुनकर (भक्त्या श्रुत्वा धर्मकथिकामिमा) दोषों (यदि प्रशमरति में दिखें तो) का त्याग कर के अल्प भी गुणों को (प्रशमरति में से) ग्रहण करने चाहिए।'

शास्त्ररचना करने में समर्थ विद्वान, शास्त्ररचना के गुणदोषों के ज्ञाता होते हैं। गुण-दोषों की खोज कर उसकी समालोचना-समीक्षा करने में कुशल होते हैं। बहुधा तो दूसरों के शास्त्रों में से दोषों की खोज खोज कर उसकी कटु आलोचना करने का दूषण चारों तरफ फैला हुआ नजर आता है। ऐसे विद्वान गुणों को देख कर, गुणों को ग्रहण करने में तत्परता नहीं रखते हैं। इसलिये ग्रन्थकार महर्षि उन्हें कहते हैं

'सज्जन पुरुषों! इस धर्मकथिका में आपको गुण और दोष दोनों दिखेंगे। संपूर्ण दोषरहित ग्रंथरचना करने का मेरा सामर्थ्य नहीं है। प्रमादवश भूल हो जाना, गलती रह जाना, संभवित है। परंतु आप उन दोषों को भूलकर उनकी उपेक्षा करना और गुणों को अपना लेना। यदि आप दोष देखकर उसकी आलोचना-प्रत्यालोचना करने में अपने चित्त को व्यग्र रखोगे तो 'प्रशमरति' में से गुण ग्रहण करके 'प्रशमसुख' को प्राप्त करने का पुरुषार्थ नहीं कर पाओगे। प्रशमसुख का आस्वाद नहीं ले सकोगे!'

कभी व्यक्तिद्वेषी एवं गुणद्वेषी विद्वान, जिनके प्रति उन्हें पूर्वग्रह होता है उनकी रचनाओं में गलतियां नहीं होते हुए भी गलतियां का पैदा करके कटु आलोचना करते रहते हैं। वैसे आदमी, ठीक है शास्त्र-ज्ञानी हो सकते हैं, पर 'सज्जन' तो वे कदापि नहीं हो सकते! सज्जन-पुरुष तो क्षीरनीर न्याय से गुणों को ही ग्रहण किया करते हैं।

ग्रहण किये हुए गुणो मे ही वे सतत एव समग्रतया प्रशमसुख का अनुभव करने के लिये यत्नशील रहते है। दोपदृष्टिवाला आदमी कभी भी प्रशमसुख का अनुभव कर ही नही सकता ! इस जीवन मे तो केवल 'प्रशमसुख' को पाने के लिये ही जूझता है..इसीलिए ग्रथकार ग्रथ के प्रारभ मे ही कह चूके है :

दृढतामुपैति वैराग्यभावना येन येन भावेन।
तस्मिन् तस्मिन् कार्यः कायमनोवाग्भिरभ्यासः॥१६॥

वैराग्यभावना यानी प्रशमभाव ! अंत मे भी वही बात दोहरा रहे है : **'सर्वात्मना च सततं प्रशमसुखायैव यतितव्यम्'**

क्षमायाचना

श्लोक : यच्चासमंजसमिह छन्द.शब्दसमयार्थतो मयाभिहितम् ।
पुत्रापराधवत्तन्मर्षयितव्यं बुधै. सर्वम् ॥३१३॥

अर्थ . इस प्रशमरति मे मैने जो कुछ भी छदशास्त्र-शब्दशास्त्र और आगम अर्थ की दृष्टि मे असगत या विसगत कहा हो उसे, ज्ञानवृद्धजनो को, पुत्र के अपराध को जैसे पिता क्षमा कर देता है उस तरह क्षमा कर देना चाहिए।

विवेचन . हे करुणावत !

आज के इस शुभ्र-श्वेत-शुभ प्रभात मे आपके चरणो मे भक्तिपूर्ण हृदय से प्रणिपात करता हू ..। आज मेरे दिल मे प्रेम-शाति-माधुर्य का रस उभर रहा है.... चूकि, सभी मुमुक्षु उपशमरस मे तैरते हुए.... क्रीडा करते हुए शोक एव विषाद से मुक्त बने. आसक्ति एव अभिमान के आवरणो को दूर हटा दे..सभी तरह की कमजोरियो को फेक दे... इसलिये की गई 'प्रशमरति' का रचनाकार्य पूर्ण किया है।

हे वात्सल्यनिधि !

मेरे प्रत्येक श्वास के साथ सर्वज्ञशास्त्र जुडा हुआ है, प्रत्येक उच्छ्वास के साथ समर्पण का गीत मुखरित हो रहा है.., मुझे न तो किसी के प्रति द्वेप है . न ही दुर्भाव है....फिर भी मुझे पूर्णज्ञान का प्रकाश तो प्राप्त हुआ नही है...सपूर्णतया अप्रमत्तभाव भी प्रगट नही

हुआ है अत मेरे मे अज्ञान, प्रमाद तो है ही इस वजह से ग्रथरचना मे क्षति रहना गलतिया रह जाना सभवित है। शायद छद के नियमो का पालन नहीं भी हुआ हो व्याकरण के नियमो का उल्लघन हो गया हो और जिनवचन का अर्थघटन करने मे कोई स्खलना हो गयी हो , ये सारी बातें सभवित हैं

ओ परमपिता,

आपके इस बालक को क्षमा दीजिये, स्नेह का सिंचन करके मुझे एव मेरी गल्तिया को क्षमा कर दें श्रद्धा की दीर्घयात्रा पूरी हुई है जिनके अचिन्त्य अनुग्रह से यह यात्रा पूरी हुई है उनके मधुर गीत गाने के लिये दिल और जुबान दोनो बेकरार है बेचन है जाने अनजाने रही हुई गलतियो की, क्षतियो की क्षमा मागता हू

क्षमा करें क्षमा करें क्षमा करें ।

जिनशासन की जय

श्लोक सर्वसुखमूलबीज सर्वार्थविनिश्चयप्रकाशकरम् ।
सर्वगुणसिद्धिसाधनधनमर्हच्छासन जयति ॥३१४॥

अर्थ सारे सुखो के मूलबीजरूप सकल अर्थ के निर्णय का प्रगट करनेवाला और सभी गुणो की सिद्धि के लिए धन की भाति साधनरूप जिन शासन जयवत होता है।

विवेचन सर्वश्रेय को करनेवाले जिनेश्वर !

मेरे दिल मे गहरे तक ऐसी दृढ श्रद्धा प्रस्थापित हो चुकी है कि सभी जीवो के तमाम सुखो का मूल बीज तुम्ही हो ! आज मैं गहन गभीर नीरव चिंतन की क्षणो मे जब तुम्हारी तरफ मुडा तब तुम्हारे प्रेम-आलिंगन की प्रबल इच्छा जगी मैं अनायास बोल उठा मेरे पास जो कुछ भी सुख-साधन हैं वे सारे के सारे तुम्हारे ही दिये हुए हैं तुम उन्हे वापस ले लो तुम्हारे पास, और तुम्ही मुझे आश्लेष मे जकड लो !

चराचर विश्व के प्रकाशक ओ सर्वज्ञ देव !

तुमने क्या नहीं बतलाया मेरे नाथ ? तुमने क्या कुछ नहीं समझाया मेरे देव ? एक परमाणु से लेकर मेरु पर्वत जितने बडे बडे पहाडो को

भी सूक्ष्म विवरण दिया, विज्ञान दिया ! अनादि निगोद मे रहे हुए जीवो ने लगाकर शुद्ध–बुद्ध और मुक्त हुई आत्माओ का स्वरुप समझाया, तुमने आदि-अनादि और अनंत अनंत रहस्यो को उदघाटित किये.... तुमने अपने से वनने का स्पप्ट रास्ता दिखाकर, उस रास्ते पर चलने के लिये निश्चित विधिनिपेधो का ज्ञान दिया। प्रेरणा दी...प्रोत्साहन दिया.. सभी कुछ नि शंक एवं निश्चित कहा। किसी भी तरह की शका या सदेह को तनिक भी स्थान नही....न कोई भ्रमणा की गुंजाईश... कितना सुस्पप्ट एव सुव्यवस्थित मार्गदर्शन दिया !!!

ओ अनन्तगुणो के सागर !

तुम्हारी जय हो तुम्हारे धर्मशासन की जय हो ..तुम्हारी कृपा-दृष्टि के सहारे निर्गुणी भी गुणवान वन जाता है. .तुम्हारा धर्मशासन पापी को भी पुण्यशाली वना देता है...ऐसे निर्गुण को गुणवान वनाने-वाले और पापी को पुण्यशाली वनानेवाले....जिनेश्वर, आपका विजय हो !

ओ धर्मतीर्थ के प्रवर्तक !

आपका विजयध्वज उन्नत है. .आज भी विश्व मे ! उस ध्वज की छाया तले विश्राम करनेवाले .जन्म - जरा - शोक - सताप...और मृत्यु पर विजय प्राप्त करते है। आसू और अमगल से भरे जीवन को भी उल्लास, उमंग एवं खुशी से मगलमय वना डालते है !

ओ तारणहार ! कृपावतार !

आपकी कृपा की एक किरन मुझे भी दो मेरे प्रभु...! मेरे नाथ... सारी दूरी को मिटाकर मुझे अभेदभाव से आप मे समा लो...मेरे देव ! आप जयशील हो...हमेशा. .विजयशील हो !

प्रशमरति - परिशिष्ट

१ महाव्रत
२ यति धर्म
३ नवपद
४ गम पर्याय
५ शब्द नय
६ ऋजु नय
७ बुद्धि
८ लेश्या
९ महाव्रतों की भावनाएं
१० चरणसप्तति
११ योग निरोध
१२ करणसप्तति
१३ पर्याप्तियां
१४ परावर्तमान प्रकृति
१५ पल्योपम
१६ भव्य अभव्य
१७ निर्ग्रन्थ स्नातक
१८ केवलज्ञान
१९ समुद्घात
२० योग
२१ आहार अनाहार
२२ संज्ञा

१. स्वामी अदत्त
२. जीव ग्रदत्त
३ तीर्थंकर ग्रदत्त
४ गुरु ग्रदत्त

स्वामी अदत्त

जिस वस्तु का जो मालिक हो उसने नही दी हो।

[1]जीव अदत्त :

मालिक ने ग्रपना ग्रादमी दे दिया हो पर उस ग्रादमी की स्वय की इच्छा न हो। जैसे कि माता-पिता ग्रपने पुत्र-पुत्री को दीक्षा के लिये गुरु को सौंप रहे हो परतु पुत्र-पुत्री की स्वय की इच्छा न हो।

तीर्थंकर अदत्त :

तीर्थंकर भगवतो ने जिस चीज का लेना निषिद्ध किया हो, जैसे कि तीर्थंकरो ने 'ग्राधाकर्म' ग्रादि दोषो से युक्त भिक्षा लेने का निषेध किया है।

गुरु अदत्त :

ग्राधाकर्मादि दोष से रहित ग्राहार वगैरह गृहस्थ दे, उसे गुरु की आज्ञा के वगैर ग्रहण करना।

ऐसा अदत्त मन-वचन एव काया से लेना नही... किसी से ग्रहण करवाना नही . और यदि कोई करता हो तो उसकी अनुमोदना नही करना। यह है तीसरा महाव्रत।

मैथुनविरमण महाव्रत

स्त्री-पुरुष के मिथुन (युगल) का जो कार्य वह मैथुन। उससे विराम पाना वह चौथा महाव्रत है।

तीन प्रकार के मैथुन सवधो का त्याग करना होता है।

१ देव सवधित, २ मनुष्य सवधित, ३. तिर्यंच सवधित।

इन तीन प्रकार के मैथुन को मन, वचन, काया से न स्वय सेवन करे, न करवाये, न ही ग्रनुमोदन करे।

---

1 जीवादत्त - यत्स्वामिना दत्तमपि जीवेनादत्त, यथा प्रवज्यापरिणामरहितो मातृपितृभ्या पुत्रादिर्गुरुभ्यो दीयते सचित्तपृथ्वीकायादिर्वा। —प्रवचनसारोद्धारे

इसी तरह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से श्रमण मथुन का सेवन न करे।

१ द्रव्य से निर्जीव प्रतिमा (स्त्री या पुरुष की) के साथ मथुन सेवन नही करना। उसी तरह आभूषणयुक्त स्त्री के साथ भी मथुन सेवन न करे।

२ क्षेत्र से ऊर्ध्वलोक, अधोलोक व तिरछे लोक मे मैथुन का सेवन न करें।

३ काल से दिन को या रात को मथुन का सेवन न करें।

४ भाव से राग से (माया से, लोभ से) मथुन का सेवन न करें। द्वेष से (क्रोध से, अभिमान से) मैथुन का सेवन न करे।

[1]चतुर्भंगी

१ द्रव्य से मथुन सेवन करे, भाव से न करे।
२ भाव से मैथुन सेवन करे, द्रव्य से न करे।
३ द्रव्य से सेवन करे और भाव से सेवन करे।
४ द्रव्य से मथुन सेवन न करे, भाव से मथुन सेवन न करे।

इन चार प्रकारो मे चतुर्थ प्रकार शुद्ध है।

परिग्रह विरमण महाव्रत

जो ग्रहण किया जाये वह परिग्रह है। परिगृह्यत आदीयत परिग्रह। यह परिग्रह नौ प्रकार का होता है १ धन २ धान्य, ३ क्षेत्र ४ वास्तु, ५ रूप्य (चांदी) ६ सुवर्ण (सोना) ७ चतुष्पद (चौपाये जानवर पशु पक्षी) ८ द्विपद (मनुष्य वगरह) ९ कुप्य। इन नौ प्रकार मे परिग्रह से मूर्च्छा-आसक्ति के त्यागरूप निवृत्ति, वह है पाँचवा महाव्रत।

[2]'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो' मूर्च्छा वही परिग्रह है। मूर्च्छा यानी ममत्व। इस ममत्व का त्याग वही महाव्रत है। मात्र द्रव्यादि का त्याग नही।

1 द्रव्यादि चतुर्भंगी पुनरियं दव्वओ नामेग मेहुणे नो भावओ। भावओ नामेगं नो दव्वओ। एगे दव्वओवि भावओ वि। एगे नो दव्वओ नो भावओ। तत्थ पढम दुढाए इत्थियाए बला परिभुज्जमाणीए दव्वओ मेहुणे नो भावओ। मेहुण स भपरिणयस्स तदसंपत्तीए भावओ नो दव्वओ। —पक्खीसूत्र टीकायाम

2 मूर्च्छा परिग्रह —तत्वार्थसूत्र

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव इन चार प्रकारो मे परिग्रह वटा हुआ है :

१. द्रव्य से धर्मास्तिकायादि सर्व द्रव्यो मे ममत्व ।

२ क्षेत्र से : 'लोक' व 'अलोक' विपयक ममत्व ।

३ काल से 'दिन और रात' का ममत्व ।

४ भाव से : अल्पमूल्यवान या वहुमूल्यवान द्रव्यो का ममत्व ।

चतुर्भंगी :

१ द्रव्य से परिग्रह, भाव से नही ।

२ भाव से परिग्रह, द्रव्य से नही ।

३ द्रव्य से परिग्रह, भाव से परिग्रह ।

४ द्रव्य से परिग्रह नही, भाव से परिग्रह नही ।

चौथा प्रकार शुद्ध है । प्रथम प्रकार भी शुद्ध है ।

[1]राग-द्वेप रहित साधु धर्मोपकरण रखे वह द्रव्य से परिग्रह कहा जाता है, पर भाव से परिग्रह नही होता ।

२. यतिधर्म[2]

यति यानी श्रमण, साधु, मुनि । यति को जिस तरह पाँच महाव्रतों का जीवनपर्यंत पालन करना होता है, उसी तरह इन दस प्रकार के यतिधर्म का भी पालन करना होता है । महाव्रतो के पालन मे यतिधर्म का पालन सहायक सिद्ध होता है । वैसी ही यतिधर्म के पालन मे महाव्रत पूरक वनते है ।

'श्री प्रवचन सारोद्धार' ग्रन्थ के आधार पर यहा पर यतिधर्म के दस प्रकार बताये गये है

१ क्षमा · सर्वथा क्रोध का त्याग । शक्ति हो या नही हो, सहनशीलता का अध्यवसाय अखड रखना चाहिए ।

२ मार्दव . मृदुता-नम्रता । स्वउत्कर्ष का त्याग करना । कोई अपमान भो कर दे.. तो पर–अपकर्प नही करना ।

1 तत्थ अरत्तदुठ्ठस्स धम्मोवगरण दव्वओ परिग्गहो, नो भावओ ।
—पक्खीसूत्र टीकायाम्

2 श्लोक न १

३ आर्जव माया का त्याग । सरलता । मन मे भी माया नही रखना । वचन और काया को भी सरल रखना ।

४ मुक्ति तृष्णा का विच्छेद । लोभ का त्याग । बाह्य और आभ्यतर [आतरिक] वस्तुओ मे तृष्णा नही रखना । निर्लोभी होना ।

५ तप शरीर की धातुओ को तपाना गलाना क्षीण बनाना कर्मों का क्षय करना । बाह्य व आभ्यतर बारह प्रकार का तप करना ।

६ सयम आश्रवो से विराम । मिथ्यात्व, अविरति, कषाय योग और प्रमाद इन पाच आश्रवो के द्वार बद रखना ।

७ सत्य मृषावाद का त्याग । प्रिय पथ्य और तथ्य वाणी बोलना । अप्रिय, कुपथ्य और वितथ वाणी नही बोलना ।

८ शौच सयम का महाव्रतो का निरतिचार पालन । महाव्रतो को शुद्ध रखना । दोषो से मलिन नही होने देना, वह शौच है ।

९ आकिंचन्य ममत्वरहितपना । धन, शरीर और धर्मोपकरण मे भी ममत्व नही रखना, आसक्ति नही रखना ।

१० ब्रह्म ब्रह्मचर्य की नौ बाडो का पालन करना इन्द्रिय सयम रखना । अब्रह्म के सेवन का त्याग करना ।

३ नवपद

श्री वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा ने इहलौकिक एव पारलौकिक सुखो के मूल रूप मे श्री 1नवपद की आराधना उपासना बतलायी है । यह आराधना निष्पाप एव निर्दोष है । 'सिरि सिरिवालकहा' ग्रथ मे आचार्यपुगव श्री रत्नशेखरसूरीश्वरजी ने कहा है

1 अरिह सिद्धायरिआ उज्झाया साहूणो य सम्मत्त ।
नाण चरण च तवो इअ पयनवग परमतत्त ॥१६१॥
एर्ग तपर्णाह रहिअ अन न अत्थि परमत्थ ।
एएसुच्चिअ जिणसासणस्स सव्वस्स अवयारा ॥१६२॥
न किर सिद्धा सिज्झन्ति जअ ज आवि सिज्झस्सन्ति ।
त सव्वेवि हु नवपय–झाणेण चेव निभत ॥१६३॥
एएसि च पयाण पयमगयर च परमभत्तीए ।
आराहिऊण णम सपत्ता तिजयसामित्त ॥१६४॥ — सिरि सिरिवालकहा

तहवि अणवज्जमेणं समत्थि आराहणं नवपयाणं ।
इहलोइअ-पारलोइअ-मुहाण मूल जिणुद्दिट्ठं ॥१६०॥

नवपद–नौ पद क्रमश इस प्रकार है . १ अरिहत, २ सिद्ध, ३ आचार्य, ४, उपाध्याय, ५ साधु, ६ दर्शन, ७ ज्ञान, ८ चारित्र और ६ तप । यह नव पद वही परमतत्व है । इन नवपद के अलावा कोई परमार्थ नही है । समग्र जिनशासन इन नवपद मे समाया है । अवतरित है । जो कोई आत्माए सिद्ध हुई है. .सिद्ध हो रही है या सिद्ध होगी...वे सभी नि शक एव निश्चित रुप से इन्ही नवपद के ध्यान से ही ! नौ पद मे से किसी भी एक पद की भी परम भक्तिसभर आराधना कर के, सभी कर्मो का नाश कर के वे सिद्ध आत्माए त्रिभुवनस्वामी बनी है ।

४. गम एवं पर्याय[1]

'गम' यानी अर्थमार्ग । पदार्थ को जानने के, समझने के और पदार्थ को विशेष–विशेष रुप मे पहचानने के विविध 'मार्गो' को 'गम' कहा जाता है । दुनिया की प्रत्येक वस्तु मे अनेक प्रकार की विशेषताए समाहित होती है... उन विशेषताओ को यदि अपन एक ही दृष्टिकोण से सोचेगे तो समझ मे नही आयेगी... इसके लिये तो अलग अलग दृष्टिबिन्दुओ से जाचना चाहिए । किसी भी वस्तु को उसके अनेक परिमाणो से परखना चाहिए ।

एक पदार्थ के बारे मे सोचने के लिये शास्त्रो मे १४ तरीके बताये गये है । उसके अवान्तर ६२ भेद भी है । उन्हे '६२ मार्गणा' कहा जाता है । मुख्य १४ प्रकार इस तरह है :

गइ-इंदिय-काए-जोए वेए कसाय नाणे य ।
संजम-दंसण-लेसा-भव-सम्मे सन्नि आहारे ॥

१ गति, २ इन्द्रिय, ३ काया, ४ योग, ५ वेद, ६, कषाय, ७ ज्ञान, ८ सयम ६ दशन, १० लेश्या, ११ भव, १२. सम्यक्त्व, १३ सज्ञीपना, १४ आहार ।

1 श्लोक न ३

जैसे कि यदि 'मोक्ष' के बारे में सोचना हो तो

'किस गति में से जीव मोक्ष में जाता है ? कितनी इन्द्रियोंवाला जीव मोक्ष में जाता है ? औदारिक वगैरह कौन सी काया से मोक्ष में जाया जा सकता है ? मन, वचन, काया के पंद्रह योगों में से कितने और कौन कौन से योग वाला जीव मोक्ष में जाता है ? पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसक वेद में से कौन से वेदवाला जीव मोक्ष का अधिकारी है ?' इस तरह चिंतन होता है। इसे अर्थमार्ग कहा जाता है यानी 'गम' कहा जाता है।

तत्त्वार्थ सूत्र में और भी अर्थमार्ग बताये गये हैं।

निर्देश-स्वामित्व-साधनाधिकरण स्थिति-विधानतः ।
सत संख्या क्षेत्र स्पर्शना कालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥

निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति वगैरह के द्वारा पदार्थ का चिंतन करना चाहिए। अर्थ विचारणा के इन तरीकों को 'गम' कहा जाता है। ऐसे अर्थमार्ग तो अनंत हैं। एक सूत्र के अनंत अर्थ होते हैं और अनंत पर्याय होते हैं।

'अणंतगमपज्जव सुत्तं'

प्रशमरति की टीका में टीकाकार महर्षि ने 'गम' का अर्थ सप्तभंगी किया है।

'गमाः स्यादस्ति स्यान्नास्तीति सप्तविकल्पाः।' वस्तु की विचारणा इन सात विकल्पों से भी हो सकती है। वे सात विकल्प निम्न हैं

१ स्याद् अस्ति एव सर्वम्। (विधि कल्पना)
२ स्याद् नास्ति एव सर्वम् (निषेध कल्पना)
३ स्याद् अस्ति एव स्याद् नास्ति एव (क्रमशः विधि निषेध कल्पना)
४ स्याद् अवक्तव्य एव (एक ही साथ विधि निषेध की कल्पना)
५ स्याद् अस्ति एव स्याद् अवक्तव्य एव (विधि कल्पना व एक ही साथ विधि निषेध की कल्पना)
६ स्याद् नास्ति एव स्याद् अवक्तव्य एव (निषेध कल्पना व एक साथ विधि निषेध की कल्पना)
७ स्याद् अस्ति एव, स्याद् नास्ति एव, स्याद् अवक्तव्य एव (क्रमशः विधि निषेध कल्पना से एक साथ विधि निषेध की कल्पना)

एक दृष्टात को लेकर अब समझे इन सातो विकल्पो को क्रमश ।

१ घडा है—स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षया सत् है।

२ घडा नही है। परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षया सत् नही है—असत् है।

३ घडा है और नही है। स्वद्रव्यादि की और परद्रव्य दोनो को पर क्रमश एक एक की अपेक्षया घडा सत्-असत् है।

४. एक ही साथ स्व-पर द्रव्यादि की दोनो की अपेक्षया कहा जा सके वह शक्य ही नही है। कि घडा है.. या नही है .. या फिर है और नही है . अत अवक्तव्य।

५ एक एक की अपेक्षया और एक ही साथ उभय की अपेक्षया घडा सत्-अवक्तव्य है।

६ असत्-अवक्तव्य कहा जाता है।

७ सदसत्-अवक्तव्य कहा जाता है।

पर्याय

एक वस्तु के अनेक नामो को पर्याय कहा जाता है। जैसे कि सूर्य के पर्यायवाची शब्द है भानु, सहस्त्ररश्मि, मार्तड, दिनकर वगैरह।

पर्याय की अन्य परिभाषा है अवस्था। पर्याय यानी अवस्था। बदलते रूप—स्वरूप को अवस्था कहा जाता है। ये अवस्थाए 'द्रव्य' की होती हैं। जैसे कि मिट्टी एक द्रव्य है, उसका पिड बनता है . मटका बनता है . शराव-शिकोरा बनता है। ये सभी मिट्टी की अवस्थाए कही जायेगी यानी पर्याय कहे जायेगे।

पर्यायो का आधार द्रव्य होते है। अत : उन द्रव्यो को भली-भाति समझना चाहिए। विश्व मे मुख्यरूप ६ द्रव्य है। सारी दुनिया, समग्र विश्व इन मूलभूत ६ द्रव्यों का समूह मात्र है। उन द्रव्यो मे पर्यायो का परिवर्तन, इस जगत का सचलन है। ६ द्रव्यो का सक्षिप्त स्वरुप देखकर बाद मे पर्याय के स्वरूप को समझेगे।

१. **धर्मास्तिकाय** : जीव और पुद्गल की गति मे सहायक द्रव्य।
२. **अधर्मास्तिकाय** : जीव और पुद्गल की स्थिरता मे सहायक द्रव्य।
३ **आकाशास्तिकाय** : द्रव्यो को अवकाश (जगह) देनेवाला द्रव्य।
४ **जीवास्तिकाय** . जीव, आत्मा, चेतन। जीव अनत है।

५ पुद्गलास्तिकाय रूप रस, गंध स्पर्श के स्वभाव से युक्त।

६ काल द्रव्यों में 'नया', 'पुराना' ऐसे व्यवहार में निमित्त बननेवाला।

इन द्रव्यों में जो पर्याय होते हैं वे मुख्यरूप में दो प्रकार के होते हैं

(१) स्वपर्याय (२) परपर्याय।

इस में स्वपर्याय मुख्यतया चार प्रकार से जाने जाते हैं

१ पर्याय का उपादान क्या ?

२ उसका क्षेत्र क्या ?

३ उसका काल कौन सा ?

४ उसका भाव क्या ?

उदाहरण के तौर पर एक घड़ा (मटका) लें। द्रव्यदृष्टि से उस घड़े का उपादान मिट्टी है। क्षेत्र की दृष्टि से वह अमुक गांव नगर में बना हुआ है।

काल की दृष्टि से आज बना हुआ है नया है। भाव की दृष्टि घड़ा लाल है काला है मुलायम है पानी भरने का है वगैरह। ये सब घड़े के 'स्वपर्याय' कहे जायेंगे।

अब घड़े के 'परपर्याय' का विचार करें। जैसे द्रव्य इत्यादि की दृष्टि से 'घड़ा अमुक अमुक स्वरूपवाला है' यों कहा जाता है वैसे ही पर द्रव्य, पर क्षेत्र, वगैरह की अपेक्षया 'घड़ा अमुक रूप में नहीं है' ऐसा भी कहा जाता है।

१ द्रव्य दृष्टि से 'घड़ा सोने का नहीं है।'

२ क्षेत्र की दृष्टि से 'घड़ा सूरत का नहीं है।

३ काल की दृष्टि से 'घड़ा पुराना नहीं है।

४ भाव की दृष्टि से 'घड़ा काला नहीं है।'

घड़ा जिस जिस रूप में है वह उसके 'स्वपर्याय' कहे जाते हैं।

घड़ा जिस जिस रूप में नहीं है वह उसके परपर्याय कहे जायेंगे।

प्रश्न परपर्याय तो पर के पर्याय होते हैं ना ? अपने कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर पर के लिये तो वे 'स्वपर्याय कहे जायेंगे। परपर्याय नहीं।

प्रश्न द्रव्य मे रहे उसे उसका पर्याय कहा जाता है ना ? जो अवस्था उसमे नही रहती है वह उसके स्वपर्याय कैसे माने जायेंगे ?

उत्तर वस्तुमात्र मे अवस्थाए दो प्रकार की होती है .

१ विधान योग्य और २ निषेध योग्य । जैसे कि—

घडे मे मृण्मयता (मिट्टी का) विधान है, सुवर्णमयता (सोने का) का निषेध है । विधान के रूप मे मृण्मयता ज्यों घडे की अवस्था है वैसे निषेध रूप मे सुवर्णमयता भी उसी घडे की अवस्था है !

प्रश्न करो 'मिट्टीमय कौन ?' उत्तर . 'घडा ।'

प्रश्न करो 'सुवर्णमय कौन नही ?' उत्तर 'वही घड़ा ।'

अर्थात् विधिमुख अवस्था स्वपर्याय कही जाती है । निषेधमुख अवस्था को परपर्याय कहा जाता है । ये परपर्याय अनत है ।

५. शब्द एवं अर्थ[1]

'शब्दप्राभृत' मे कथित लक्षणयुक्त शब्द दो प्रकार के होते है : प्राकृत और सस्कृत । 'शब्दप्राभृत' का आकलन चौदह पूर्वो मे हुआ है । उस 'शब्दप्राभृत' मे से 'प्राकृत व्याकरण' और 'सस्कृत व्याकरण' लिये गये है ।

घट, पट, अश्व वगैरह शब्द कहे जाते है । शब्द अनत है ।

अर्थ

शब्द के अभिधेय को अर्थ कहा जाता है । अर्थ अनत है । 'अर्थ' शब्द की व्युत्पत्ति इस तरह की गई है 'अर्यतेऽधिगम्यतेऽर्थ्यते वेति अर्थ. ।' जानना .इच्छना .चाहना ..वह है अर्थ ।

६. हेतु और नय[2]

हेतु यानी कारण ।

कारण के दो प्रकार है १ उपादानकारण २. निमित्तकारण ।

१ जिसके बिना कार्य हो नही सकता...उसे उपादानकारण कहते है । जैसे कि घडे [मटके] का उपादानकारण मिट्टी है । मोक्षरूप कार्य

1 श्लोक न. ३

2 श्लोक न. ३

का उपादानकारण आत्मा है। कपडे का उपादानकारण ततु है। जिसके नाश होने के साथ ही कार्य का नाश हो जाय उसे उपादानकारण कहते हैं। उपादानकारण कायरूप शरीर की धातु है।

२ उपादान के अलावा जो भी कारण होते है वह 'निमित्तकारण' की सज्ञा दी जाती है। घड का उपादानकारण मिट्टी है पर निमित्त कारण मे चक्र, दड, कुम्भार वगैरह भी माने जायेंगे। मोक्ष का उपादानकारण आत्मा है वैसे ही निमित्तकारण परमात्मा, गुरु, धर्म वगैरह कहे जाते है।

नय[1]

१ प्रमाण से परिछिन्न अनत धर्मात्मक वस्तु के एक अश को ग्रहण करनेवाले [दूसरे अशो का प्रतिक्षेप किये बगैर] अध्यवसाय विशेष को 'नय' कहा जाता है।

[2]प्रत्येक, पदार्थ अनत धर्मात्मक होता है। 'प्रमाण' उस पदार्थ को अनत धर्मात्मक सिद्ध करता है, जब 'नय' उस पदार्थ के अनत धर्मों मे से किसी भी एक धर्म को ग्रहण करता है और सिद्ध करता है। परन्तु एक धर्म का ग्रहण करते हुए, प्रतिपादन करते हुए दूसरे धर्मों का खडन नही होता है।

'प्रमाण' और 'नय' मे यह भेद है। नय प्रमाण का एक देश[3] [अश] है। जिस तरह समुद्र का एक देश अश समुद्र नही कहा जायेगा, उसी तरह वह अप्रमाणित भी नही है।

[4]श्री आवश्यक सूत्र' की टीका मे श्रीयुत मलयगिरिजी ने प्रतिपादन

1 ज्ञानसार, ३२ वा सर्वनयाश्रय अष्टक, श्लोक १

2 प्रमाणपरिच्छिन्नस्यानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन एकदेशग्राहिणस्तदितरांशाप्रतिक्षेपिणोऽध्यवसायविशेषा नयाः —जैनतर्कभाषायाम

3 यथा हि समुद्रैकदेशो न समुद्रो नाप्यसमुद्रस्तथा नया अपि न प्रमाणं नाप्रमाणमिति। —जैनतर्कभाषायाम

4 इह यो नयो नयान्तरसापेक्षतया स्यात्पदलाञ्छितं वस्तु प्रतिपद्यते स परमार्थतः परिपूर्णवस्तु गृह्णातीति प्रमाण एवान्तर्भवति, यस्तु नयवादान्तरनिरपेक्षतया स्वाभिप्रेतनैव धर्मेण अवधारणपूर्वकं वस्तु परिच्छेत्तुमभिप्रैति स नयः। —आवश्यकसूत्र टीकायाम्

किया है कि 'जो नय नयान्तर सापेक्षता मे 'स्यात्' पदयुक्त वस्तु का स्वीकार करता है, वह परमार्थ से परिपूर्ण वस्तु का स्वीकार करता है अत उसका अन्तर्भाव प्रमाण मे हो जाता है। जो नयान्तर निरपेक्षता से स्वाभिप्रेत धर्म के आग्रहपूर्वक वस्तु को ग्रहण करने का अभिप्राय धारण करता है वह 'नय' कहलाता है। वस्तु के एक देश को ग्रहण करता होने से।

'नय' की यह परिभाषा नयवाद को मिथ्यावाद सिद्ध करती है। 'सव्वे नया मिच्छावाईणो' यह आगम का कथन सभी नयवादो को मिथ्यावाद की सज्ञा देता है।

नयान्तर निरपेक्ष नय को महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज 'नयाभास' कहते है।

श्री 'सन्मति तर्क' मे सिद्धसेनसूरिजी नयो के मिथ्यात्व एव सम्यक्त्व का वर्गीकरण इस प्रकार दर्शाते है :

तम्हा सव्वे वि मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णाणिस्सिया उण हवन्ति सम्मत्तसब्भावा ॥२१॥

'स्वपक्ष' प्रतिबद्ध सभी नय मिथ्यादृष्टि हैं। अन्योन्य सापेक्ष सभी नय समकितदृष्टि है।

दृष्टात के द्वारा उपर्युक्त कथन को ज्यादा स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है :

जह अणेय लक्खणगुणा वेरुलियाई मणिविसंजुत्ता।
रयणावलिववएसं न लहंति महग्घमुल्ला वि ॥२२॥
तह णिययवायसुविणिच्छिया वि अण्णोण्ण पक्खाणिरवेक्खा।
सम्मद्दंसणसद्दं सव्वे वि णया ण पावेंति ॥२३॥

जिस तरह विविध लक्षणो से युक्त वैडूर्य वगैरह मणि महान कीमती होने पर भी, अलग अलग हो वहा तक 'रत्नावलि' (हार) की संज्ञा नही पा सकते, उसी तरह नय भी स्वविषय का प्रतिपादन करने मे सुनिश्चित होने पर भी जब तक अन्योन्य—निरपेक्ष प्रतिपादन करे वहा तक 'सम्यग्दर्शन' नाम पा नही सकते। अर्थात् 'सुनय' नही कहे जा सकते।

द्रव्यार्थिक नय पर्यायार्थिक नय

प्रत्येक वस्तु के मुख्यतया दो अंश होते हैं

(१) द्रव्य और (२) पर्याय ।

वस्तु को जो द्रव्यरूप में ही देखे वह होता है द्रव्यार्थिक नय, और वस्तु को जो पर्याय के रूप में ही देखे वह है पर्यायार्थिक नय । मुख्यतया ये दो ही नय हैं । वचन [वाणी] के मुख्य प्रवक्ता के रूप में ये दो नय निर्दिशित हैं ।

'सन्मति तर्क में कहा गया है

तित्थयरवयणसंगह विसेसपत्थारमूलवागरणी ।
दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासी ।।३।।

तीर्थंकर के वचन के विषयभूत (अभिधेय भूत) द्रव्य पर्याय हैं । उनका संग्रह इत्यादि नयों के द्वारा जो विस्तारीकरण किया जाता है उनके मूल वक्ता द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नय हैं । नैगम वगैरह नय उनके विकल्प हैं, भेद हैं ।

द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नयों के मंतव्यों का स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए 'सन्मति तर्क में कहा गया है

उप्पज्जंति वियंति य भावा नियमेण पज्जवणयस्स ।
दव्वयट्ठियस्स सव्वं सया अणुप्पन्नमविणट्ठं ॥ २९ ॥

पर्यायार्थिक नय का मंतव्य है कि सभी भाव उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं अर्थात् प्रतिक्षण भाव उत्पत्ति-स्थिति-एवं लय के स्वभाव में युक्त हैं । द्रव्यार्थिक नय कहता है कि सभी वस्तु अनुत्पन्न-अनिष्ट है अर्थात प्रत्येक भाव स्थिर स्वभाववाला है ।

द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं (१) नैगम, (२) संग्रह और (३) व्यवहार । पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं (१) ऋजुसूत्र (२) शब्द (३) समभिरूढ (४) एवंभूत ।

श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने ऋजुसूत्र-नय को द्रव्यार्थिक नय का भेद कहा है ।

नैगम

सामान्य-विशेष वगैरह अनेक धर्मों को यह नय मानता है। अर्थात् 'सत्ता' लक्षण महासामान्य, अवान्तर सामान्य-द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व वगैरह व समस्त विशेषों को यह नय मान्य रखता है।

सामान्यविशेषाद्यनेकधर्मोपनयनपरोऽध्यवसायो नैगमः।'

'जैन तर्कभाषा'

यह नय अपने मतव्य को पुष्ट करते हुए कहता है:

यद्यथाऽवभासते तत्तथाऽभ्युपगन्तव्यम् यथा नीलं नीलतया।

जो जैसा दिखे वैसा उसे मान लेना चाहिए-नीले को नीला और पीले को पीला।

धर्मी और धर्म को जब यह एकान्ततः अलग मानता है तब यह नय मिथ्यादृष्टि है, यानी 'नैगमाभास' है। नैयायिक और वैशेषिकदर्शन धर्मी-धर्म को एकान्ततः अलग मानते हैं।

संग्रह

सामान्यप्रतिपादनपरः संग्रहनयः।

यह नय कहता है सामान्य ही एक तात्विक है, विशेष नहीं। अशेष विशेष का अपलाप-निरसन करने के साथ सामान्य रुप में ही समस्त विश्व को यह नय मानता है।

[1]एकान्ततः सत्ता-अद्वैत का स्वीकार कर के, सकलविशेष का निरसन करनेवाला संग्रहाभास है, ऐसा महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज कहते हैं।

सभी अद्वैतवादी दर्शन और सांख्यदर्शन भी सत्ता-अद्वैत को ही मानते हैं।

व्यवहार

विशेष प्रतिपादनपरो व्यवहार नय.।

—श्रीमद मलयगिरिजी

1 सत्ताऽद्वैतं स्वीकुर्वाण सकलविशेषान्निराचक्षाणः। —जैनतर्कभाषा

सामान्य का निरसन कर के विशेष को ही मान्य रखना इस नय का कार्य है। सामान्य, अर्थक्रिया के सामर्थ्य से रहित होने से सकल लोकव्यवहार के मार्ग पर नहीं आ सकता। व्यवहार नय कहता है कि यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्—वही परमार्थदृष्टि में सत् है कि जो अर्थ-क्रियाकारी है। सामान्य अर्थक्रियाकारी नहीं है अत वह सत् नहीं है।

यह नय लोकव्यवहार का अनुसरण करता है जो लोक मानते हैं वही बात यह नय मान्य रखता है। जैसे कि भौंरे को लोग काला कहते हैं हालांकि भ्रमर पाँच वर्णवाला होता है, फिर भी कृष्णवर्ण स्पष्ट रूप में दिखता है अतः लोग भ्रमर को काला कहते हैं, व्यवहार नय भी भ्रमर को काला कहता है।

स्थूल लोकव्यवहार का अनुसरण करनेवाला यह नय द्रव्य पर्याय के विभाग को पारमार्थिक मानता है तब वह 'व्यवहाराभास' कहा जाता है। चार्वाकदर्शन की उत्पत्ति इस व्यवहाराभास में से हुई है।

ऋजुसूत्र

'प्रत्युत्पन्नग्राही ऋजुसूत्रो नयविधि 1।

—आचार्य श्री मलयगिरिजी

जो अतीत है वह विनष्ट होने से और जो अनागत है वह अनुत्पन्न होने से न तो दोनों अर्थ-क्रिया समर्थ है न ही प्रमाण के विषय के हैं। जो युद्ध है वह वर्तमानकालीन वस्तु ही है—चाहे क्या न वह वर्तमानकालीन वस्तु के लिंग—वचन अलग हो।

अतीत-अनागत वस्तु नहीं है, इसी तरह जो परकीय वस्तु है वह भी परमार्थ से असत है, चूंकि वह अपने किसी प्रयोजन की नहीं है।

ऋजुसूत्रनय निक्षेपों में नाम, स्थापना, द्रव्य व भाव इन चारों निक्षेप को मानता है।

केवल वर्तमान पर्याय को ही मान्य रखने वाला, द्रव्य का सर्वथा निरास करनेवाला 'ऋजुसूत्राभास' नय है। बौद्धदर्शन ऋजुसूत्राभास नय में से प्रगट हुआ दर्शन है।

तदनेदेन तस्य तमेव समर्थयमान ।

---

1 साम्प्रतमुत्पन्नं प्रत्युत्पन्नमुच्यते वर्तमानमिति । —आवश्यकसूत्र-टीका

शब्द

इस नय का दूसरा नाम 'साम्प्रत नय' है। यह नय भी ऋजुसूत्र की भांति वर्तमानकालीन वस्तु को ही मानता है। अतीत-अनागत वस्तु को नही मानता है। वर्तमानकालीन परकीय वस्तु को भी नही मानता है।

निक्षेपो मे केवल भाव निक्षेप को ही मानता है। नाम, स्थापना और द्रव्य-ये तीन निक्षेप को नही मानता है।

इसी तरह लिंग और वचन के भेद से वस्तु का भेद मानता है, अर्थात् एक वचनवाच्य 'गुरु' शब्द का अर्थ अलग और बहुवचनवाच्य 'गुरव' का अर्थ अलग। इसी तरह पुलिंग-अर्थ नपुंसक लिंग से वाच्य नही या स्त्रीलिंगवाच्य नही। वैसे ही स्त्रीलिंग के लिये भी समझना।

यह नय अभिन्न लिंग-वचनवाले पर्याय-शब्दो की एकार्थता मान्य रखता है। यानी इन्द्र-शक्र-पुरन्दर वगैरह शब्द कि जिनके लिंग-वचन समान है, उन शब्दो की एकार्थता मान्य रखेगा। उनके भिन्न भिन्न अर्थ नही मानता है।

शब्दाभिधेयार्थप्रतिक्षेपी शब्दनयाभासः।

——जैन तर्कभाषा

शब्दाभिधेय अर्थ का प्रतिक्षेप [अपलाप] करनेवाला नय 'शब्द-नयाभास' कहा जाता है।

समभिरूढ

शब्दनय और समभिरूढ नय मे एक भेद है। शब्दनय अभिन्न लिंग-वचनवाले पर्याय-शब्दो की एकार्थता को मानता है। जबकि समभिरूढनय पर्याय शब्दो की अर्थभिन्नता को मान्य रखता है। शब्द के व्युत्पत्ति अर्थ को ही मानता है।

'पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः।'

—जैन तर्कभाषा

यह नय पर्यायभेद से अर्थभेद को मानता है। पर्यायशब्दो के रहे हुए अभेद को उपेक्षा करता है। इन्द्र, शक्र, पुरन्दर वगैरह शब्दो के अर्थ

अलग अलग करना है। जैसे कि इन्दनादि इन्द्र शकनाच्छक, पूर्दारणात पुरन्दर' वगरह।

एकान्तत पर्यायशब्दों के अर्थ में स्थित अभेद की उपेक्षा करनेवाला नय नयाभास कहलाता है।

'पर्याय ध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाण समभिरुढाभास
—जन तर्कभाषा

एवंभूत

उन उन शब्दों के व्युत्पत्ति-अर्थ के अनुसार क्रिया में परिणत पदार्थ, उस उस शब्द से वाच्य बनता है।

जैसे कि गौ (गाय) शब्द का प्रयोग तभी सही माना जायगा जबकि वह गमनक्रिया में प्रवृत्त हो। चूंकि 'गौ' शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ है 'गच्छतीति गौ' गाय खड़ी हो तब उसके लिए गो शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता ऐसी इस नय की मान्यता है।

इस तरह यह नय क्रिया में अप्रवृत्त वस्तु को शब्द से अवाच्य मानता होने से मिथ्यादृष्टि है।

'क्रियानाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपन्नेवंभूताभास
—जन तर्कभाषा

'क्रिया में अप्रवृत्त वस्तु शब्दवाच्य नहीं है' या कहनेवाला यह नय एवंभूताभास है।

इस प्रकार सात नयों का स्वरूप अति संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। जिन्हें सविस्तर जानने की जिज्ञासा हो उन्हें गुरुगम से जिज्ञासा पूरी करनी चाहिए।

निश्चय-व्यवहार नय

'तात्त्विकार्थाभ्युपगमपरस्तु निश्चय
—जन तर्कभाषा

निश्चयनय तात्त्विक अर्थ का स्वीकार करता है। 'भ्रमर' को यह नय पंचवर्णवाला मानता है। पांच रंग (वर्ण) के पुद्गलों से उसका शरीर बना हुआ होने से भ्रमर तात्त्विक दृष्टिकोण से पांच वर्ण का है। या फिर निश्चयनय की परिभाषा में इस तरह भी कहा जायेगा

'सर्वनयमतार्थग्राही निश्चय ।' सभी नयो के अभिमत अर्थ को ग्रहण करनेवाला निश्चयनय है।

प्रश्न सभी नय-अभिमत अर्थ को ग्रहण करने पर तो वह 'प्रमाण' कहलायेगा। फिर नयत्व का व्याघात नही होगा क्या ?

उत्तर : निश्चय नय सर्वनय अभिमत अर्थ को ग्रहण करता है फिर भी वह उन उन नयो को अभिमत हो वैसे स्व-अर्थ की प्रधानता का स्वीकार करता है। अतः उसका अन्तर्भाव 'प्रमाण' मे नही होगा।

'लोकप्रसिद्धार्थानुवादपरो व्यवहारनयः।' लोगो मे प्रसिद्ध अर्थ का अनुसरण करनेवाला यह व्यवहारनय है। जैसे लोगो मे भ्रमर काला माना जाता है, तो व्यवहार नय भी भ्रमर को काला मानता है। या फिर 'एक नयमतार्थग्राही व्यवहारः।' किसी एक नय के अभिप्राय को अनुसरण करनेवाला व्यवहारनय है।

ज्ञाननय : क्रियानय

"ज्ञानमात्रप्राधान्याभ्युपगमपराः ज्ञाननयाः।" केवल ज्ञान को ही प्रधान-मुख्य माननेवाला ज्ञाननय कहलाता है।

'क्रियामात्रप्राधान्याभ्युपगमपराश्च क्रियानयाः' केवल क्रिया की प्रधानता को ही स्वीकार करनेवाला क्रियानय कहलाता है। ऋजुसूत्र इत्यादि चार नय चारित्ररूप क्रिया को ही प्रधान मानते है। चूंकि क्रिया ही मोक्ष के लिये अव्यवहित कारण है। 'शैलेशी' क्रिया के पश्चात् तुरत ही आत्मा मुक्त हो जाती है, सिद्धिगति को प्राप्त करती है।

नैगम, संग्रह और व्यवहार-ये तीन नय हालांकि ज्ञानादि तीन को मोक्ष के कारण मानते जरुर है पर तीन के समुदाय को नही, लेकिन ज्ञानादि को अलग अलग ढंग से मोक्ष के कारण के रुप मे स्वीकार करते है। ज्ञानादि तीन से ही मोक्ष होता है, वैसा नियम ये तीन नय नही मानते है। यदि ऐसा माने तो 'नय' नय नही रहेगा। नयत्व का व्याघात हो जायेगा। यह है ज्ञाननय-क्रियानय का संक्षिप्त विवरण।

७. बुद्धि

आगमो मे मतिज्ञान के मुख्य दो प्रकार बताये गये है
श्रुतनिश्रित मतिज्ञान
अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान

दीर्घकाल तक सुरक्षित रख सकते हैं। भूलेंगे नही। जैसे गोदाम मे रखा हुआ अनाज दीर्घकालपर्यंत वैसा का वैसा रहे बिगडे नही नष्ट नही हो उसी तरह इस बुद्धिवाला के द्वारा ग्रहण किये हुए सूत्रार्थ ज्यो के त्यो रहेंगे, बिगडेंगे नही नष्ट भी नही होंगे।

८ लेश्या

कर्मों के साथ आत्मा जिसके द्वारा बध जुटे उसे 'लेश्या' कहते है। 'लेश्या' शब्द की व्युत्पत्ति आचार्यों ने इस प्रकार की है 'लिश्यते श्लिश्यते कर्मणा सह आत्मा अनयेति लेश्या।'

'लेश्या क्या है ?' इस प्रश्न के जवाब अलग अलग है विविध हैं। आत्मा का एक विशिष्ट परिणाम है उसका नाम है लेश्या। आत्मपरिणाम मे निमित्तभूत काले-नीले वगैरह विशिष्ट द्रव्य, उसे कहते हैं लेश्या। अध्यवसाय का दूसरा नाम है लेश्या।

श्री भगवतीसूत्र की टीका मे आचार्य श्री अभयदेवसूरिजी ने कहा है

कृष्णादिद्रव्यसान्निध्यजनितो जीवपरिणामो लेश्या।

काले-नीले वगैरह द्रव्यों के सान्निधान से उत्पन्न हुआ जीव का परिणाम-उसका नाम है लेश्या। यह भावलेश्या की परिभाषा है।

द्रव्यलेश्या एवं भावलेश्या

द्रव्यलेश्या पुद्गलरूप होती है, अत उसमे वर्ण गध रस और स्पर्श होता है। द्रव्यलेश्या के छह प्रकार बतलाये गये है।

१ कृष्णलेश्या	४ तेजोलेश्या
२ नीललेश्या	५ पद्मलेश्या
३ कापोतलेश्या	६ शुक्ललेश्या

भावलेश्या मे वर्ण गध रस और स्पर्श नही होते है, क्योंकि वह जीवपरिणामरूप है। आत्मा मे वर्ण गध रस और स्पर्श नही होते हैं इसलिए आत्मा के परिणाम मे भी नही होते हैं। भगवतीसूत्र में यह स्पष्टता की गयी है

'भावलेस्सं पडुच्च अवण्णा, अरसा, अगधा, अफासा, एव जाव सुक्कलेस्सा।' [भग शतक १२-उ०-५/सू १६]

१. बीजबुद्धि
२ पदानुसारिणी बुद्धि
३ कोष्ठ बुद्धि

इन तीन प्रकार की बुद्धि की परिभाषाएं उन उन आगमों मे जिस ढग मे दी गयी हैं वे यहा पर प्रस्तुत है ।

बीजबुद्धि

[1]बीज की भाति विविध अर्थबोधरूप महावृक्ष को पैदा करनेवाली होने से उसे बीजबुद्धि कही जाती है ।

गणधर भगवतो मे बीजबुद्धि होने से वे तीर्थंकर परमात्मा से केवल त्रिपदी [तीन पद उपन्नेइ वा विगमेइ वा, धुवेइ वा] सुनकर उसके आधार पर समग्र द्वादशागी की रचना करते है । बीजबुद्धि वाले महापुरुषो को अर्थप्रधान एक ही वाक्य मिलना चाहिए ! उसके आधार पर उन्हे अनेक अर्थो का बोध हो जाता है ।

पदानुसारिणी बुद्धि

[2]सूत्र के अवयवभूत एक ही पद को सुनकर, उस पद को अनुकूल या उस पद से अभिप्रेत सैकडो पदो का ज्ञान प्राप्त कर लेते है ।

पदानुसारिणी वाले पुरुष गुरुमुख से एक सूत्रपद को सुनकर बाकी के अनेक पदसमूहो को स्वय ग्रहण कर लेते है । अनेक पदो की स्फूरणा उन्हे सहज स्वयमेव हो जाती है । "गुरुमुखादेकसूत्रपदमनुसृत्य शेषमपि भूयस्तरपदनिकुरम्बरमवगाहते ।"

कोष्ठ बुद्धि

[3]कोष्ठ यानी कोठार भडार... गोदाम. गोदाम मे रखे हुए अनाज की भाति, इस बुद्धि के धनी पुरुष जो सूत्रार्थ पढे हो उसे वे

श्लोक न. ४

1 बीजमिव विविधार्थाधिगमरूपमहातरुजननात् बुद्धि यस्येति व्युत्पत्तेः ।

2 जो सुत्तपएण बहु सुयमणुधावइ पयानुसारी सो । —प्रवचनसारोद्धारे

3 कोष्ठकप्रक्षिप्तधान्यमिव यस्य सूत्रार्थो सुचिरमपि स कोष्ठबुद्धि ।

—विशेषावश्यकभाष्ये

दीर्घकाल तक सुरक्षित रख सकते हैं। भूलेंगे नहीं। जैसे गोदाम में रखा हुआ अनाज दीर्घकालपर्यंत वैसा का वैसा रहे, बिगड़े नहीं नष्ट नहीं हो उसी तरह इस बुद्धिवाले के द्वारा ग्रहण किये हुए सूत्रार्थ ज्यों के त्यों रहेंगे, बिगड़ेंगे नहीं नष्ट भी नहीं होंगे।

८ लेश्या

कर्मों के साथ आत्मा जिसके द्वारा बंध जुड़े उसे 'लेश्या' कहते हैं। 'लेश्या' शब्द की व्युत्पत्ति आचार्यों ने इस प्रकार की है 'लिश्यते शिलश्यते कर्मणा सह आत्मा अनयेति लेश्या।'

'लेश्या क्या है? इस प्रश्न के जवाब अलग अलग हैं विविध हैं। आत्मा का एक विशिष्ट परिणाम है उसका नाम है लेश्या। आत्मपरिणाम में निमित्तभूत काले-नीले वगैरह विशिष्ट द्रव्य, उसे कहते हैं लेश्या। अध्यवसाय का दूसरा नाम है लेश्या।

श्री भगवतीसूत्र की टीका में आचार्य श्री अभयदेवसूरिजी ने कहा है

कृष्णादिद्रव्यसान्निध्यजनितो जीवपरिणामो लेश्या।

काले-नीले वगैरह द्रव्यों के सान्निध्य से उत्पन्न हुआ जीव का परिणाम-उसका नाम है लेश्या। यह भावलेश्या की परिभाषा है।

द्रव्यलेश्या एवं भावलेश्या

द्रव्यलेश्या पुद्गलरूप होती है, अतः उनमें वर्ण, गंध रस और स्पर्श होता है। द्रव्यलेश्या के छह प्रकार बतलाये गये हैं।

१ कृष्णलेश्या	४ तेजोलेश्या
२ नीललेश्या	५ पद्मलेश्या
३ कापोतलेश्या	६ शुक्ललेश्या

भावलेश्या में वर्ण गंध रस और स्पर्श नहीं होते हैं, क्योंकि वह जीवपरिणामरूप है। आत्मा में वर्ण गंध रस और स्पर्श नहीं होते हैं इसलिए आत्मा के परिणाम में भी नहीं होते हैं। भगवतीसूत्र में यह स्पष्टता की गयी है

'भावलेस्सं पडुच्च अवण्णा, अरसा अगंधा, अफासा, एवं जाव सुक्कलेस्सा।' [भग० शतक १२-उ० ५/प्र० १९]

यह भावलेश्या सुगति-दुर्गति का हेतु बनती है। 'पण्णवणासूत्र' में कहा गया है

तओ दुग्गइगामियाओ [कण्ह-नील-काऊलेस्साओ] तओ सुग्गइगामियाओ [तेऊ-पम्ह-सुक्क लेस्साओ] — [पण्ण प. १७/३०४, सूत्र ४७]

इस तरह द्रव्यलेश्या और भावलेश्या का भेद दर्शाकर अब उन लेश्या के छह प्रकारों में जो मुख्य चार और पांच भेद हैं, वह अपन जान लें :

छह लेश्याओं में भेद

कृष्ण-नील-कापोत	तेजो-पद्म-शुक्ल
[द्रव्यलेश्या]	[द्रव्यलेश्या]
१ दुर्गंधवाली	१ सुगंधवाली
२. अमनोज्ञ (विरस)	२ मनोज्ञ (सरस)
३ शीत और रूक्ष	३ उष्ण और स्निग्ध
४ अविशुद्ध (वर्ण)	४ विशुद्ध (वर्ण)
भावलेश्या	भावलेश्या
१ अधर्मलेश्या	१. धर्मलेश्या
२ अप्रशस्त लेश्या	२. प्रशस्त लेश्या
३ संक्लिष्ट लेश्या	३. असंक्लिष्ट लेश्या
४. दुर्गतिगामी	४ सुगतिगामी
५ अविशुद्ध [परिणाम]	५ विशुद्ध [परिणाम]

लेश्या के बारे में कुछ विशेष चर्चा :

'प्रज्ञापनासूत्र' की टीका में आचार्यपुंगव श्री अभयदेवसूरीश्वरजी कहते हैं

योग का परिणाम लेश्या है। 'योग परिणामो लेश्या।' लेश्या वह योग का परिणाम है, इस सिद्धांत को स्पष्ट करते हुए वे फरमाते हैं कि सयोगी केवली को शुक्ललेश्या होती है। जब वे केवलज्ञानी बनकर 'योगनिरोध' करते हैं तब वे 'अयोगी' 'अलेशी' बन जाते हैं। सयोगी हो तब तक ही सलेशी। अयोगी बने अर्थात् अलेशी बने। यानी लेश्या का संबंध मन-वचन-काया के योगों के साथ है।

योग क्या है ? शरीरनामकर्म की एक विशेष परिणति है । औदारिक वगैरह शरीर के व्यापारयुक्त आत्मा की वीर्यपरिणति योग है । उसी तरह लेश्याएं हैं ।

कुछ आचार्य लेश्या की परिभाषा 'कर्मनिस्यन्दो लेश्या' इस तरह से भी करते हैं । कृष्णादि द्रव्य वही द्रव्यलेश्या और उन कृष्णादि द्रव्यों के आधार पर पैदा होनेवाले जीवों के परिणाम हैं भावलेश्या ।

श्री मलयगिरिजी कहते हैं जब तक मन-वचन काया के योग होंगे तब तक लेश्याएं रहेंगी ही । 'योगनिमित्ता लेश्या' । लेश्या कर्मनिमित्तक नहीं है । घाती कर्म निमित्तक नहीं है वैसे ही अघाती कर्म-निमित्तक भी नहीं है । तेरहवें गुणस्थानक पर घातीकर्म नहीं होते, पर लेश्या होती है । चौदहवें गुण-स्थानक पर अघाती कर्म हैं पर लेश्या नहीं होती है । अर्थात् परिशेषानुमान से योगान्तरगत द्रव्यरूप लेश्या माननी चाहिए ।

श्री सिद्धसेन गणी कहते हैं मनोयोग के सहयोग से उत्पन्न होनेवाले परिणाम, वह लेश्या है । काले नीले वगैरह रंग द्रव्यलेश्या है । भावलेश्या, काले नीले रंगवाले द्रव्यों के निमित्त से उत्पन्न होनेवाला परिणाम है । वह परिणाम कर्मबंध की स्थिति का निर्माण करता है ।

श्री हेमचन्द्रसूरिजी कहते हैं योग के परिणाम लेश्या है । तीनों योग [मन वचन-काया के] कर्मोदयजन्य है । अतः लेश्याओं को कर्मोदयजन्य और योगजन्य मानने में कोई एतराज नहीं है । श्री अनुयोगद्वारसूत्र की टीका में वे एक दूसरी मान्यता का निर्देश भी करते हैं आठ कर्मों के उदय से जैसे सांसारिक अवस्था एवं असिद्धत्व है वैसे लेश्याओं का भी अस्तित्व है ।

दिगम्बराचार्य श्री पूज्यपाद कहते हैं कि कषायोदय से रंगी हुई योगप्रवृत्ति वही भावलेश्या है अतः लेश्या औदयिक भाव है । अकलंकदेव भी इसी मान्यता को पुष्ट करते हैं ।

छह लेश्याओं में भेद

लेश्याओं के बारे में विवेचना सविशेष रूप से तीन आगम सूत्रों में प्राप्त होती है ।

१ भगवतीसूत्र, २ प्रज्ञापनासूत्र और ३ उत्तराध्ययनसूत्र में। श्री भगवतीसूत्र में और प्रज्ञापनासूत्र में पन्द्रह प्रकार से–पन्द्रह द्वारो के माध्यम से लेश्या पर विवेचना की गई है। इसकी द्वारगाथा इस प्रकार की है:

परिणाम-वन्न-रस-गन्ध-सुद्ध-अपसत्थ-संकिलिट्ठुण्हा ।
गई - परिणाम - पएसो - गाह - वग्गणाट्ठाणमप्पबहु ॥

[भग /श. ८/उ. १०/गाथा–१]
[पण्ण /प. १७/उ.४/ गाथा १/]

१ परिणाम
२ वर्ण
३. रस
४. गंध
५. शुद्ध
६. अप्रशस्त
७. संक्लिष्ट
८ उष्ण
९ गति
१०. परिणाम
११. प्रदेश
१२ अवगाहना
१३. वर्गणा
१४. स्थान
१५ अल्पबहुत्व

श्री उत्तराध्ययनसूत्र में ग्यारह द्वारो से लेश्या के बारे में विवेचना उपलब्ध होती है। उसकी द्वारगाथा निम्न है

नामाइं वन्न-रस-गंध-फास-परिणामलक्खणं ।
ठाणं ठिइं गइं चाऊं लेसाणं तु सुणेह मे ॥

[उत्तरा /३,३४/गाथा-२]

१. नाम
२ वर्ण
३ रस
४. गन्ध
५. स्पर्श
६. परिणाम
७ लक्षण
८. स्थान
९ स्थिति
१० गति
११ आयुष्य

साराश इतना कि ग्यारह द्वारो के माध्यम से द्रव्यलेश्या के बारे मे विवेचना मिलती है....और नौ द्वारो से भावलेश्या के बारे मे विवेचना मिलती है [इन तीन ग्रन्थो मे] इसके अलावा अन्य भी कुछ एक द्वारो से विवेचना मिलती है दूसरे ग्रन्थो मे !

लेश्याओ की स्थिति

लेश्या	जघन्य स्थिति [कम से कम]	उत्कृष्ट स्थिति [ज्यादा से ज्यादा]
कृष्णलेश्या	अन्तर्मुहूर्त	३३ सागरोपम [१ मुहूर्त अधिक]
नीललेश्या	„	१० सागरोपम [पल्योपम का असख्यातवा भाग अधिक]
कापोतलेश्या	„	३ सागरोपम [पल्योपम का असख्यातवा भाग अधिक]
तेजोलेश्या		२ सागरोपम [पल्योपम का असख्यातवा भाग अधिक]
पद्मलेश्या	„	१० सागरोपम [१ मुहूर्त अधिक]
शुक्ललेश्या	,	३३ सागरोपम [१ मुहूर्त अधिक]

यह वर्णन श्री उत्तराध्ययन सूत्र के आधार पर किया गया है । यह सामान्यरूप मे [ओघ से] लेश्याओ की स्थिति बतायी गई है ।

लेश्याओं के लक्षण

उन उन लेश्याओ से युक्त जीवात्माओ के लक्षण श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे बतलाये गये हैं । इन लक्षणो की जानकारी के सहारे अभी मेरी आत्मा किस लेश्या मे है यह जाना जा सकता है ।

कृष्णलेश्या

पाँच आश्रवो मे प्रवृत्त, तीन गुप्तियो से रहित, छह काय की हिंसा से अविरत, तीव्र आरम्भ-समारम्भ मे डूबा हुआ, क्षुद्र साहसिक, निर्दय, नृशस और अजितेन्द्रिय जीव कृष्ण लेश्यावाला होता है ।

नीललेश्या

ईर्ष्यालु, कदाग्रही, अतपस्वी, अज्ञानी, मायावी, निर्लज्ज, विषयी, द्वेषी, रस-लोलुप, आरंभी, अविरत, क्षुद्र और साहसिक [बिना सोचे-विचारे सहसा काय करनेवाला] जीव नील लेश्यावाला होता है ।

का होना जरुरी नही है ! हो भी .. नही भी हो ! केवलज्ञानी को [तेरहवें गुणस्थानक पर] लेश्या होती है परन्तु कषाय नही होते है। केवलज्ञानी को शुक्ललेश्या ही होती है। तात्पर्य यह है कि लेश्या-परिणाम कषाय-परिणाम के बिना भी हो सकते है।

गुणस्थानक एवं लेश्या

- पहले गुणस्थानक से लेकर छट्ठे गुणस्थानक तक के जीवो को छह लेश्याएं भी हो सकती है।
- सातवें गुणस्थानक पर तेजो-पद्म-शुक्ललेश्या होती है।
- आठ से लगाकर तेरहवे गुणस्थानक पर स्थित जीवात्मा को शुक्ललेश्या ही होती है।

पांच प्रकार के संयत एवं लेश्या

१ पुलाक तेजो-पद्म एव शुक्ल लेश्या होती है।
२ वकुश · तेजो एव शुक्ल लेश्या होती है।
३ प्रतिसेवाना कुशील तेजो पद्म एव शुक्ल लेश्या होती है।
४ कषाय कुशील . छह लेश्याए होती है।

*तत्त्वार्थभाष्य मे वकुश एव प्रतिसेवना कुशील को छह लेश्याए बतायी गई है।

कषायकुशील के लिये तत्त्वार्थसूत्र–भाष्य मे तीन शुभ लेश्याए कही गई है।

५ निर्ग्रन्थ एक शुक्ल लेश्या ही होती है।
६ स्नातक · सलेशी स्नातक को एक परम शुक्ललेश्या ही होती है।

पॉच प्रकार के संयम एवं लेश्या

सामायिक चारित्र : छह लेश्याएं होती है।
छेदोपस्थापनीय · छह लेश्याए होती है।
परिहारविशुद्धि तेजो-पद्म एव शुक्ल लेश्या होती है।
सूक्ष्मसंपराय : शुक्ललेश्या ही होती है।
यथाख्यात · सलेशी यथाख्यात चारित्रवाले को शुक्ललेश्या ही होती है।

---

*वकुश-प्रतिसेवना कुशीलयो. सर्वा षडपि। —तत्त्वार्थसूत्रे [भाष्य] अ. ९/सू ४९

तेजोलेश्या

'स्थानांगसूत्र' में तपोलब्धि से प्राप्त होनेवाली तेजोलेश्या का वर्णन प्राप्त होता है। वह तेजोलेश्या पौद्गलिक होती है अर्थात् द्रव्य-लेश्या होती है। यह तेजोलेश्या एवं लेश्याओं के छह प्रकारों में आने-वाली तेजोलेश्या अलग होगी, ऐसा मालूम पड़ता है। यह तेजोलेश्या तीन माध्यमों [उपायों से] प्राप्त होती है

आतापना से [शीत-ताप वगैरह सहन करने से]

क्षमा से क्रोधनिग्रह करने से

अपानकेन तपकर्म करने से छट्ठ [बेला] के पारणे छट्ठ [बेला] करने से।

यह तेजोलेश्या दो तरह की होती है

(१) उष्ण तेजोलेश्या (२) शीत तेजोलेश्या

भगवती सूत्र के पंद्रहवें शतक में भगवान महावीर स्वामी गौतम को कहते हैं कि हे गौतम! मंखलीपुत्र गोशालक पर अनुकंपा कर के मैंने वैश्यायन बालतपस्वी की तेजोलेश्या का प्रतिसंहार करने के लिये शीत तेजोलेश्या बाहर निकाली और मेरी शीतलेश्या ने वैश्यायन बालतपस्वी की उष्ण तेजोलेश्या का प्रतिघात किया '

इस पाठ के प्रतिपादन से दो प्रकार की लेश्याएं होती हैं, वह सिद्ध होता है।

तप कर्म के जरिये तेजोलेश्या प्राप्त करने की विधि भगवतीसूत्र के पंद्रहवें शतक में बताया गया है।

देवों की तेजोलेश्या और श्रमणों की तेजोलेश्या

श्री भगवतीसूत्र के चौदहवें शतक में देवों की तेजोलेश्या के साथ श्रमण की तेजोलेश्या की तुलना बतलायी गयी है। यह तेजोलेश्या भी छह प्रकार की लेश्याओं वाली नहीं हैं, ऐसा लगता है।

यह तेजोलेश्या यानी भीतरी सुखरूप, अंतःकरण के आनंदरूप है। टीकाकार ने भी तेजोलेश्या का अर्थ सुखासिकाम' किया है।

एक महीने का दीक्षापर्यायवाला श्रमण वाणव्यंतर देवों की तेजो-लेश्या का अतिक्रमण कर जाता है। दो महीने का दीक्षापर्यायवाला

श्रमण भवनपति देवो की तेजोलेश्या का अतिक्रमण कर जाता है। तीन महीने का जिसका दीक्षापर्याय है वह श्रमण असुरकुमार देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण कर जाता है। इसी तरह चार महीने का पर्यायवाला श्रमण ज्योतिष देवो की, पाँच महीने का पर्यायवाला श्रमण सूर्य-चन्द्र की, छह महीने का पर्यायवाला श्रमण सौधर्म-ईशान देवो की, सात महीने का पर्यायवाला श्रमण सनतकुमार एव माहेन्द्र देवो की, आठ महीने के पर्याय वाला श्रमण ब्रह्म व लातक देवों की, नौ महीने के पर्यायवाला श्रमण आनत-प्राणत-आरण और अच्युत देवो की, ग्यारह महीने के पर्यायवाला श्रमण महाशुक्र एव सहस्रार देवो की, दस महीने के पर्यायवाला श्रमण ग्रैवेयक देवो की एव बारह महीने के पर्यायवाला श्रमण अनुत्तरवासी देवो की तेजोलेश्या का अतिक्रमण कर जाता है।

इस तरह लेश्या शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों मे प्रयुक्त किया गया है।

'लेश्या' पर उपनय कथा [प्रतीकात्मक कथा]

(१) छह दोस्त घूमने गये। उन्होने एक जगह पर जामुन का वृक्ष देखा। सभी को जामुन खाने की इच्छा पैदा हो गयी। सभी के मन मे अलग अलग विचार आये :

पहले मित्र ने कहा कौन चढेगा इस बड़े पेड पर? इस पेड को जड़ से ही उखाड कर पटक दो नीचे...फिर मजे से फल खाते रहो।

दूसरे दोस्त ने कहा : पूरे पेड को काट डालने की आवश्यकता क्या है? क्या मिलेगा इससे? पेड़ की बडी बड़ी डालियां काट ले.... फल भी मिल जायेंगे अपन को और पेड़ भी बच जायेगा।

तीसरे दोस्त ने कहा. बडी बडी डालिया भी क्यो काटनी चाहिए? छोटी छोटी डालियो पर जामुन लगे हैं. उन डालियो को ही तोड ले और फल खा ले...वृक्ष को ज्यादा नुकसान भी नही होगा।

चौथे दोस्त ने कहा छोटी छोटी डालिया भी क्यो तोडनी चाहिए? केवल फल के गुच्छे तोड ले. बस.. अपन को तो फल ही खाना है ना? डालिया तोड़ने की आवश्यकता ही क्या है?

पाँचवें दोस्त ने कहा : गुच्छे तोडने की भी जरुरत क्या है? गुच्छे मे तो कच्चे-पके सभी फल होंगे .अपन को तो पक्के फल चाहिए ना?

ऐसा करें पेड को और डालियो का जोर से हिलाये पके हुए जामुन नीचे गिर जायगे अपन ले लेंगे।

छठे मित्र ने सभी को बडी शांति से समझाते हुए कहा क्यों तो पेड को काटना? क्या इन डालियो को काटना क्यों पेड को झिझोडना? देखो इधर जमीन पर कितने पके हुए फल पडे हैं वे ही ले लो और खा ले! नाहक क्या वृक्ष को नुकसान पहुँचाना।

छह लेश्याओ का साक्षात्कार पर समझानेवाली यह प्रतीककथा है। पहला मित्र कृष्णलेश्या है, दूसरा मित्र नीललेश्या तीसरा मित्र कापोतलेश्या, चौथा तेजोलेश्या, पाचवा पद्मलेश्या और छट्ठा मित्र शुक्ल लेश्या है। अलग अलग लेश्यावाला कैसे सोचता है? उसके विचार कैसे होते हैं? वह यह उपनयकथा भलीभाति समझा देती है।

[आवश्यक सूत्र / अ ४ / सू ६ /हारि टीका]

(२) छह लुटेरे किसी गाव को लूटने के लिये गये। उन छह के मन मे लेश्याजनित अपने अपने परिणामो के अनुसार अलग अलग विचार जाग्रत हुए। गाव को लूटने के बारे मे सभी अपने अपने विचार प्रस्तुत करने लगे।

पहले डाकू ने कहा कोई भी हो आदमी हो या जानवर, जो अपने सामने आये उन सब को मौत के घाट उतार देने चाहिए।

दूसरे डाकू ने कहा जानवरो को मारने से क्या फायदा? आदमियो को ही मारना चाहिए चूकि अपनी दुश्मनी तो उनसे ही है।

तीसरे डाकू ने कहा स्त्रियो को नही मारनी चाहिए! पुरुषो को ही मारना चाहिए।

चौथे डाकू ने कहा हर एक आदमी को भी नही मारना चाहिए जिस आदमी के पास शस्त्र हो उसे ही मारना चाहिए।

पाचवें डाकू ने कहा लेकिन शस्त्रवाला आदमी भी यदि वह अपना सामना नही करें और भग जाय तो उसे क्या मारना चाहिए? जो अपना सामना करे उसे ही मारना चाहिए!

छठे डाकू ने कहा अपन को तो धन चाहिए ना? धन लूटना है तो फिर आदमियो को मारना ही क्या चाहिए? केवल अपन धन लूट ले!

इस तरह छह लेश्याओ को प्रतीकात्मक कथा के माध्यम से समझना चाहिए। [आवश्यकसूत्र, अ ४/सू ६ हारि टीका]

श्री प्रज्ञापना सूत्र एवं उत्तराध्ययन सूत्र पर आधारित द्रव्यलेश्याओं के वर्ण-गंध-रस और स्पर्श का 'चार्ट'

लेश्या	वर्ण	गंध	रस	स्पर्श
कृष्ण	भ्रमर सा काला	मरे हुए कुत्ते के कलेवर की दुर्गन्ध से अनतगुना ज्यादा बदबूदार	नीम की पत्ती सा	छूरी-आरी के स्पर्श से भी अनतगुना ज्यादा रुक्ष-खुरदरा
नील	मयूरकठ सा		सोठ के चूर्ण सा	
कापोत	कबूतर की गरदन सा		कच्चे अनार सा	
तेजो	तोते की चोच सा	सुगधित फूलो की खूश्बु से भी अनतगुना ज्यादा सुवास	आम के रस सा	मक्खन के स्पर्श से भी अनतगुना ज्यादा स्निग्ध स्पर्श
पद्म	श्रेष्ठ सोने सा		शहद सा	
शुक्ल	दूध की धारा सा		मिश्री जैसा	

९ पाच महाव्रत की पच्चीस भावनाए*

महाव्रतो के पालन मे आत्मभाव सुन्दर बने इसके लिये महाव्रतधारी श्रमण-श्रमणी को हर एक महाव्रत की पाच पाच भावनाओ से भावित होना चाहिए। भावनाओ के अभ्यास बगैर महाव्रत मलिन हो जाते हैं। महाव्रतो के पालन मे शैथिल्य आ जाता है।

'प्रवचनसारोद्धार' ग्रथ के आधार पर यहा पच्चीस भावनाए बतायी जा रही हैं।

(१) पहले महाव्रत की भावनाए

(१) मै उपयोग [सावधानी] पूर्वक गमनागमन करुगा। उपयोग बिना गमनागमन करने से जीवहिंसा होती है।

(२) उपयोगपूर्वक अवलोकन कर के भिक्षाग्रहण करुगा। उपाश्रय मे आकर प्रकाश उजाले मे खडे रहकर भिक्षा देखूगा और बाद मे उसका प्रयोग करुगा। देखेभाले बगैर भिक्षा खाने से जीवहिंसा होने की पूरी सभावना रहती है।

(३) मैं आगमोक्त रीति से ही मेरे उपकरण लूगा एव रखूगा।

(४) मैं अपने मन का समाधान करता रहूगा। मन को विशुद्ध बनाये रखूगा। कायिक सयम होने पर भी दुष्ट मन पापकर्म बधवा देता है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को कायिक सयम था फिर भी मानसिक हिंसा मे विरत न रह पाने से, सातवी नरक तक जाने के कर्म उपार्जित कर लिये थे। मैं इसलिये मानसिकरूप से भी हिंसा का विचार नही करुगा।

(५) मैं अपनी वाणी को सावद्यवचन मे प्रयुक्त नही करुगा। हमेशा निरवद्य (पापदोष रहित) वचन ही बोलूगा। सावद्यवचन भी कभी हिंसा का कारण बन जाता है।

दूसरे महाव्रत की भावनाए

(१) मैं हसना बद करुगा। हसने मे कभी असत्य बोला जाता है। हसने मे भी असत्यवचन न निकल इसकी सावधानी रखूगा।

(२) मैं सोच विचार कर बोलूगा। ज्ञानपूर्वक सोचे बगैर बोलने से शायद झूठ भी बोला जाये। इससे वैर भी बध जाय। दूसरे जीवो की जान चली जाये। इसीलिए मैं सोच-विचार कर बोलूगा।

---

*श्लोक ६२

(३) परमात्मा ने कहा है 'जो क्रोध-लोभ और भय का परिहार करता है वही मुनि है।' ऐसे मुनि मोक्ष के समीप रहते है। मोक्ष-मार्ग पर चलते हुए वे मृषावाद का त्याग करते है। मै क्रोध से मुक्त होकर मृषा का त्याग करता हू।

(४) लोभ से अभिभूत चित्तवाला मनुष्य अत्यत अर्थकाक्षा से एव गलत बयान देकर असत्य बोलता है। इसलिए सत्यव्रती महात्मा को लोभ नही करना चाहिए। मैं लोभ का त्याग करता हू।

(५) अपने प्राण, धन इत्यादि की रक्षा-सुरक्षा के डर मे भी आदमी कभी कभी सत्य नही बोलता है। मै निर्भय रहूगा। निर्भयता को आत्मसात् करुगा। ताकि असत्य वचन से बच सकू।

तीसरे महाव्रत की भावनाएं :

(१) इन्द्र, राजा, घर का मालिक, शय्यातर, सार्धमिक इत्यादि के अवग्रह की याचना करने की जिनाज्ञा है। मैं उस भांति जगह के मालिक का अवग्रह मागूगा।

(२) अवग्रह (मागी हुई जगह) मे से ही तिनका वगैरह लेना चाहिए। उसी तरह 'मैं भी यह तिनका लू ?' इस प्रकार अनुज्ञा मागकर तिनका वगैरह लूगा।

(३) जगह के मालिक ने जगह दी हो फिर भी वार वार उसकी अनुज्ञा मागते रहना चाहिए। पानी वगरह फेकने की जगह, पादप्रक्षालन की जगह, [पेर धोने की जगह] भी मागनी चाहिए। और उसी जगह का उपयोग करना चाहिए। ताकि जगह के मालिक को चित्त-सक्लेश न हो। मै वैसा ही वरताव रखुगा।

(४) आगमोक्त विधि के मुताबिक आहार-पानी लाकर, गुरु को बताकर, आलोचना करके, गुरु या वडील [अपने से वडे] की अनुज्ञा लेकर अकेले या माडलो [समूह मे] मे आहार-पानी करने को होते है। अन्यथा 'गुरुअदत्त' का दोष लगता है।

(५) जिस स्थान मे, जिस क्षेत्र मे [५ गाऊ जितना विस्तार] मासकल्प करनेवाले साधु रुके हुए हो, उस स्थान मे या क्षेत्र मे दूसरे साधुओ को यदि रहना हो तो पहले से रहे हुए साधुओ की आज्ञा लेनी

चाहिए। वर्ना चोरी का दोष लगता है। मैं उस तरह अवग्रह याचना करुगा।

चौथे महाव्रत की भावनाए

(१) मैं स्निग्ध आहारपानी नही करुगा। अति-ज्यादा आहार भी नही करुगा। स्निग्ध और मधुर आहार मे अवश्य विकार पैदा होते हैं और वासना को प्रदीप्त होने का कारण मिलता है। वैसा आहार करने से कामवासना जगती है और ब्रह्मचर्य का भग होता है। शरीर को भी नुकसान होता है।

(२) मैं स्नान नही करुगा, विलेपन नही करुगा। विविध साज-सज्जा मे अनुरक्त चित्त स्वाध्याय वगैरह से रहित होने के कारण उसमें अब्रह्म के विचार शीघ्र प्रविष्ट हो जाते हैं।

(३) स्त्री को देखूगा नही। उसके अगोपाग स्पृहा से देखूगा नही। स्त्रीशरीर को देखने से ब्रह्मचर्य की भावना कमजोर बनती है।

(४) मैं स्त्रियो का परिचय नही रखुगा। स्त्रीससक्त स्थान मे नही रहूगा। स्त्री के द्वारा प्रयुक्त आसन वगैरह पर नही बैठूगा।

(५) मैं अप्रशस्त स्त्रीकथा नही करुगा। स्त्रीकथा से मन मे कामोन्माद जगता है।

पाँचवें महाव्रत की भावनाए

(१) मैं अच्छे या बूरे शब्द मे आसक्ति या द्वेष नही करुगा।
(२) मैं अच्छे या बूरे रुप मे आसक्ति या द्वेष नही करुगा।
(३) मैं अच्छे या बूरे रस मे आसक्ति या द्वेष नही करुगा।
(४) मैं अच्छी या बूरी गध मे आसक्ति या द्वेष नही करुगा।
(५) मैं अच्छे या बूरे स्पर्श मे आसक्ति या द्वेष नही करुगा।

पडितपुरुष जितेद्रिय होता है और सर्वसावद्य पापो से, बाह्य आभ्यतर परिग्रह से रहित होता है। शब्द वगैरह विषयो मे राग द्वेष करने से पाँचवे महाव्रत की विराधना होती है। इसलिये मैं उन विषयो मे राग-द्वेष नही करुगा।

इस तरह पाँच महाव्रतो की पच्चीस भावनाए रोज-बरोज प्रतिदिन बनाये रखने से, इनसे भावित होने से, महाव्रतो का पालन उमदा एव उज्ज्वल होता है। पालन में दृढता आती है।

१०. योगनिरोध[*]

समुद्घात से निवृत्त केवलज्ञानी भगवत 'योगनिरोध' के मार्ग पर आगे बढते है। योगनिमित्त से [मन, वचन एव काया के]; होनेवाले कर्मबन्ध को नष्ट करने के लिये योगनिरोध किया जाता है। यह क्रिया अन्तर्मुहूर्त काल मे की जाती है।

सब से पहले वादर कषाययोग के बल पर वादर वचनयोग को अवरुद्ध करे। बाद मे वादर काययोग के आलवन से वादर मनोयोग को अवरुद्ध करे। फिर उच्छ्वास-निश्वास को अवरुद्ध करे। इसके पश्चात सूक्ष्म काययोग से वादर काययोग को अवरुद्ध करे। [चूकि जब तक वादर काययोग होता है वहा तक सूक्ष्मयोगो को अवरुद्ध नही किया जा सकता]

इसके पश्चात् सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म वचनयोग का अवरोधन करे। पश्चात के समय मे सूक्ष्म मनोयोग को अवरुद्ध करे। इसके वाद के समय मे सूक्ष्म काययोग को अवरुद्ध करे।

सूक्ष्म काययोग को अवरुद्ध करने की क्रिया करनेवाला जीव 'सूक्ष्म-क्रिया अप्रतिपाती' नामक शुक्लध्यान के तीसरे भेद पर आरुढ होता है और तेरहवे गुणस्थानक के चरमसमय तक जाता है।

सयोगी केवली–गुणस्थानक के चरम (अतिम) समय मे

(१) सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती ध्यान
(२) सभी किट्टिया
(३) शाता कर्म का वध
(४) नामगोत्र कर्म की उदीरणा
(५) शुक्ललेश्या
(६) स्थिति रस का घात एव
(७) योग

इन सात पदार्थो का एक साथ नाश होता है और आत्मा अयोगी केवली वनती है।

[*]श्लोक ७४

११ चरण सप्तति*

चरण यानी चारित्र। चारित्रधर्म के ७० प्रकार बताये गये हैं। इस ७० प्रकार के चारित्रधर्म की आराधना मुनि की होती है। वह इस प्रकार है —

महाव्रत–५, श्रमणधर्म–१०, संयम–१७, वैयावृत्य–१०, ब्रह्मचर्य गुप्ति–९, ज्ञानादि–३, तप–१२, क्रोधादिनिग्रह–४

पांच महाव्रत

१ प्राणातिपात विरमण महाव्रत, २ मृषावाद विरमण महाव्रत, ३ अदत्तादान विरमण महाव्रत, ४ मैथुन विरमण महाव्रत, ५ परिग्रह विरमण महाव्रत।

दस श्रमणधर्म

१ क्षमा, २ नम्रता, ३ सरलता, ४ लोभत्याग ५ तप ६ संयम, ७ सत्य ८ शौच, ९ आकिंचन्य, १० ब्रह्मचर्य।

सत्रह प्रकार का संयम

५–प्राणातिपात वगैरह पांच आश्रवों से विरति ५–इन्द्रियों का निग्रह, ४–कषायों पर विजय, ३–मन-वचन काया की अशुभ प्रवृत्ति का निरोध

सत्रह प्रकार संयम के [अन्य ढंग से]

९–जीव संयम पृथ्वीकायादि [पृथ्वी जल तेज वायु वनस्पति बेइन्द्रिय तेइन्द्रिय चउरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय] नौ प्रकार के जीवों का, मन-वचन काया से करना कराना, अनुमोदना के द्वारा संरंभ समारंभ एवं आरंभ का त्याग।

१ अजीवक संयम प्रमादादि दोषयुक्त और आयुष्य, बुद्धि श्रद्धा बल संवेग से हीन ऐसे वर्तमानकाल में साधुगण के उपकार हेतु पुस्तक वगैरह का प्रतिलेखना-प्रमार्जना के द्वारा यतनापूर्वक रखना।

१–प्रेक्ष्यसंयम आंखों से देख कर बीज हरी वनस्पति, जीव जंतु वगैरह से रहित भूमि पर बैठना चलना शयन करना।

---

*श्लोक ९६

१–उपेक्षा संयम : पासत्था, कुशील वगैरह निम्नस्तर के साधुओं की दयाहीन, कठोर पापवृत्तियों की उपेक्षा करना।

[अन्यस्थल पर उपेक्षासंयम की बजाय प्रेक्षासंयम भी कहा गया है। उसका अर्थ संयम में ढीले हुए साधुओं को प्रेरणा देकर संयम में स्थिर करना, वह होता है।]

१–प्रमार्जना संयम . वस्त्र-पात्र वगैरह लेते-रखते समय प्रमार्जना करना। गाँव में प्रवेश करते हुए या निकलते हुए पैरों का प्रमार्जन करना।

१–पारिष्ठापना संयम भोजन, पानी, वस्त्र, पात्र वगैरह का त्याग जंतुरहित भूमि में करना। [पारिष्ठापनिका-निर्युक्ति में बताई गई विधि के मुताबिक त्याग करना चाहिए। गीतार्थ साधु यह विधि करें।]

१–मन. संयम द्रोह, ईर्ष्या, अभिमान से निवृत्ति एवं धर्मध्यान में प्रवृत्ति करना।

१–वचन संयम हिंसक एवं परुष (कठोर) भाषा से निवृत्ति। शुभ भाषा में प्रवृत्ति करना।

१–काय संयम : आने-जाने वगैरह क्रियाओं में उपयोग रखना।

दस प्रकार का वैयावृत्य [सेवा]

१. आचार्य की सेवा
२. उपाध्याय की सेवा
३. तपस्वी की सेवा
४ नूतन दीक्षित की सेवा
५ बीमार-रोगी की सेवा
६ वृद्ध साधु की सेवा
७ समान सामाचारी [आचारपद्धति] वाले साधुओं की सेवा
८. संघ की सेवा [साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका को]
९. कुल की सेवा [बहुत सजातीय गच्छों के समूह को कुल कहा जाता है।]
१०. गण की सेवा [कई कुलों के समूह को गण कहा जाता है]

नौ प्रकार की ब्रह्मगुप्ति :

१. वसति स्त्री-पशु-और नपुंसक से रहित स्थान में साधु को रहना चाहिए।

२ स्त्रीकथा ब्रह्मचारी को स्त्रियो के साथ एकात मे बातें नहीं करनी चाहिए। स्त्री–विषयक बातें औरो के समक्ष नही करनी चाहिए।

३ आसन स्त्री के साथ ब्रह्मचारी को एक आसन पर नही बैठना चाहिए। स्त्री जिस जगह पर बैठी हो, उस जगह पर दो घड़ी (४८ मिनट] तक नही बैठना चाहिए।

४ स्त्री के अगोपाग देखना नही। उसका चिंतन करना नहीं।

५ स्त्री-पुरुष [दपति] का वार्तालाप सुनना नही।

६ गृहस्थजीवन मे स्त्री के साथ की हुई क्रीडा का स्मरण करना नही।

७ ब्रह्मचारी को अतिस्निग्ध [घी-दूधवाला] भोजन करना नहं चाहिए। मधुर रसयुक्त भोजन नही करना चाहिए।

८ रुक्ष आहार भी अधिक मात्रा मे नही लेना चाहिए।

९ अपने शरीर का स्नान, विलेपन, साज-सज्जा वगरह न करवाने चाहिए।

तीन ज्ञान वगरह

१ ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न अवबोध

२ दर्शन जीव अजीव वगरह नौ तत्वो पर श्रद्धा।

३ चारित्र सब पापप्रवृत्तियो का ज्ञान श्रद्धापूर्वक त्याग।

बारह प्रकार का तप

१ अनशन	७ प्रायश्चित्त
२ ऊनोदरी	८ ध्यान
३ वृत्तिसक्षेप	९ वैयावृत्त्य
४ रसत्याग	१० स्वाध्याय
५ कायक्लेश	११ कायोत्सर्ग
६ सलीनता	१२ विनय

चार कषाय

१ क्रोध, २ मान ३ माया, ४ लोभ का निग्रह

१२. करण सप्तति

जिसका आचरण रोज करना होता है वह 'चरण' कहलाता है। जिसका आचरण प्रयोजन आने पर करना पडता है उसे 'करण' कहा जाता है। उदाहरण के तौर पर : पिंडविशुद्धि। गौचरी आदि ग्रहण करते समय ही पिंडविशुद्धि का उपयोग रखना पडता है...बाकी के समय मे नही। मोक्षार्थी मुनिवर के लिये करने योग्य कर्तव्यो को 'करण' कहा जाता है। उस 'करण' के भी ७० प्रकार बताये गये है। इस 'करण सप्तति' का पालन 'चरण सप्तति' के पालन मे सहायक होता है।

पिंडविशुद्धि–४, समिति–५, भावना–१२, प्रतिमा–१२, इन्द्रिय-निरोध–५, प्रतिलेखना–२५, गुप्ति–३, अभिग्रह–४

पिंडविशुद्धि

१ पिंड [आहार पानी] २. मकान [शय्या] ३ वस्त्र, ४ पात्र

इन चार वस्तुओ को ग्रहण करते समय साधु-साध्वी को ४२ दोषो का त्याग करने का होता है।

समिति

१ **ईर्या समिति** : त्रस एव स्थावर जीवो को अभयदान देने की प्रतिज्ञा करने वाले साधु-पुरुषो को नीचे देखकर चलना चाहिए किसी भी जीव की हिसा न हो कोई जीव पैरो तले कुचला न जाये .इसकी सावधानी रखते हुए चलना है।

२ **भाषासमिति** पापयुक्त भाषा नही बोलना .सच बोलना . पर अप्रिय भाषा का प्रयोग नही करना। सभी जीवो के लिये हितकारी एव असदिग्ध भाषा का प्रयोग करना चाहिए।

३ **एषणा समिति** · निर्दोष भिक्षा की गवेषणा करना। साधुजीवन मे उपयोगी उपकरण, उपाश्रय, पाट-पटिया...चौकी वगैरह की निर्दोष गवेषणा करना...ढूँढना।

४ **आदाननिक्षेप समिति** आसन, वस्त्र, पात्र, दड, इत्यादि

[1]श्लोक ९६

बराबर देखकर रखना उठाना एवं उपयोग में लेना। ताकि सूक्ष्म जीवों की विराधना न हो।

५ पारिष्ठापनिका समिति मल मूत्र श्लेष्म, अनुपयोगी अन्न पान वस्त्र वगैरह का त्याग करना हो तो निर्जीव-सूक्ष्म जीवजंतु से रहित भूमि पर उपयोग एवं सावधानीपूर्वक त्याग करना चाहिए।

भावनाएं*

१ अनित्य भावना प्रियजनों का संयोग-सहवास, ऋद्धि वैषयिक सुख, संपत्ति, आरोग्य, यौवन, शरीर एवं जीवन सब कुछ अनित्य है।

२ अशरण भावना जन्म-जरा और मृत्यु से ग्रस्त व्याधि एवं वेदना से भरपूर इस संसार में जिनवचन के अलावा अन्य कोई शरणरूप नहीं है।

३ एकत्व भावना जीव अकेला जन्म लेता है और अकेला ही मरता है अकेला ही वेदना कष्ट सहन करता है तो आत्महित भी अकेले ही साधना उचित है।

४ अन्यत्व भावना मैं स्वजनों से परिजनों से, वैभव संपत्ति से और तो और इस शरीर से भी जुदा हूं अलग हूं ऐसी निश्चित धारणा होने पर शोकाकुल नहीं होना पड़ता।

५ अशुचि भावना शरीर का राग तोड़ने के लिए शरीर की अपवित्रता, गन्दगी भारी रचना के बारे में सोचना। शरीर में अंदर तो निरी गंदगी भरी है फिर क्या इस पर राग करना?

६ संसार भावना मां मरकर पत्नी बन जाय बेटी भी हो जाती है पिता मर कर बाप बन सकता है शत्रु भी दुश्मन हो सकता है संसार के संबंधों की विचित्रता के बारे में सोचना।

७ आश्रव भावना मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग एवं प्रमाद ये आश्रव-द्वार हैं। इनमें से कर्मों का प्रवाह बह कर आत्मा में आता है। इन आश्रव द्वारों को बंद करना चाहिए।

८ संवर भावना न तो शुभ आश्रव चाहिए न ही अशुभ आश्रव चाहिए। सम्यग्दर्शन वगैरह के द्वारा आश्रवों के द्वार बंद करना, उसे कहते हैं संवर।

९ **निर्जरा भावना** : बाह्य एव आभ्यंतर तप के द्वारा आत्मा मे रहे हुए कर्मो का नाश करना ।

१० **लोकस्वरुप भावना** . चौदह राजलोक का चिंतन करना । ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक का चितन करना ।

११ **धर्मस्वाख्यात भावना** : धर्म का प्रकाश देने वाले अरिहत परमात्मा का चितन करना । धर्म का प्रभाव, धर्म की महिमा के बारे मे सोचना । धर्म के स्वरुप का चिंतन करना ।

१२ **बोधिदुर्लभ भावना** बोधि यानी सम्यग्दर्शन । सम्यग्दर्शन की दुर्लभता का चितन करना । सम्यग्दर्शन के बिना मोक्ष सभव नही है ।

इन बारह भावनाओ का चितन रोजाना-प्रतिदिन करने का होता है । इस से आत्मभाव विशुद्ध बनता है, वैराग्य पुष्ट-परिपुष्ट होता है । विवेकशीलता जाग्रत होती है ।

प्रतिमा

'प्रतिमा' अर्थात् प्रतिज्ञा या नियम । साधुजीवन मे विशिष्ट कोटि के नियमो का स्वीकार कर के, अप्रमत्त जीवन जीने का अभ्यास करने का होता है ।

प्राचीन समय मे श्रेष्ठ कोटि के साधुपुरुष इन बारह प्रकार की प्रतिमाओ का क्रमश अभ्यास करते रहते थे । वर्तमान समय मे इन 'प्रतिमा' को धारण करनेवाले मुनि सभवत· नही है ।

(१) प्रथम 'प्रतिमा' का समय एक महीने का होता है । रोजाना एक ही समय भिक्षा ग्रहण करना । एक ही बार, एक ही धारा से पात्र मे दाता जितना डाले उतना ही भोजन ग्रहण करना । इसी तरह पानी भी एक ही धारा से पात्र मे दाता डाले उतना ही ग्रहण करना । इस तरह भिक्षा एवं पानी ग्रहण करे । वह भी निम्न पाँच प्रकार के अभिग्रहो मे से कोई भी दो अभिग्रह धारण कर के भिक्षा-पानी ग्रहण करें ।

१. अत्यत कजूस व्यक्ति भी जिस भिक्षा को पसद न करे, वैसी भिक्षा मिलेगी तो लू गा ।
२. जिस घर मे एक ही मालिक होगा, वैसे घर मे से भिक्षा ग्रहण करु गा ।

३-४ अगर्भिणी और बच्चे बिना की स्त्री या बच्चे को दूध नही पिलाती हो, वैसी स्त्री यदि भिक्षा दे तो ही ग्रहण करना।

५ एक पैर देहरी के बाहर और एक पैर देहरी के अदर हो उस ढग से भिक्षा दे तो ग्रहण करना।

- इस प्रतिमा का धारण करनेवाले महात्मा पुरुष, जल हो भूमि हो या जगल भी हो, पर सूर्यास्त के होते ही उसी स्थान पर रुक जायेंगे। एक कदम भी आगे नही बढायेंगे, सूर्योदय तक वहीं रहेंगे।
- गाँव म या नगर मे लोग जान जाये कि 'ये महात्मा प्रतिमाधारी हैं।' तो उस गाँव मे एक रात से ज्यादा नही रुके। अनजान एव अपरिचित दो रात तक रह सकते है।
- जिस रास्ते पर वे जा रहे हो, उस रास्त पर सामने से या पीछे से हिंसक जानवर आये तो भी ये मुनि अपना रास्ता नही बदलेंगे। जानवर यदि हिंसक न हो तो ये रास्ता छोड भी सकते हैं।
- धूप मे से छाया मे न जाये न ही छाया मे से धूप मे जाये।
- एक महीने तक अखडरूप से ग्रामानुग्राम विचरते रहे।
- अधिकाश तो मौन मे ही रह। उपाश्रय-घास-इत्यादि की अनुज्ञा लेने के लिये ही बोले [चू कि शय्यातर की अनुज्ञा लेनी पडती है]
- तीन प्रकार की वसति [रहने के लिये स्थान] मे रहे, अन्य जगह पर नही।

  १ सर्वसाधारण धर्मशाला म। २ बिना दीवार के और बिना छप्पर के खडहर मे। ३ वृक्ष के नीचे।
- मकान मे आग लगी हो तो भी वे स्वेच्छया बाहर नही निकलते। यदि कोई पकडकर निकालता है तो निकल जाये।
- पैरो मे काटा वगरह लगे तो निकाले नही। आखो म तिनका, रेत या कचरा वगैरह गिरे तो निकाले नही हाथ-पैर वगरह धोये नही।
- अकेले ही विहार करे।

जब १ महीने की यह 'प्रतिमा' पूर्ण हो तब वे मुनि अपने अपने आचार्य के पास जाये। गच्छ मे जाये। आचार्य राजा वगरह को प्रेरणा

कर के, उन महात्मा का शानदार स्वागत करवाये, तपश्चर्या के बहुमान के लिये।

२ से ७ [तक की प्रतिमाएं] दूसरी 'प्रतिमा' मे भिक्षा की दो दत्ति और पानी की एक दत्ति होती है।

[दत्ति = एक ही धारा मे भिक्षापात्र मे जो आये उसे एक दत्ति' कहते है।]

तीसरी 'प्रतिमा' मे तीन-तीन दत्ति, चौथी 'प्रतिमा' मे चार-चार, पाँचवी मे पाँच पाँच दत्ति छठी मे छह-छह दत्ति एव सातवी मे सात-सात दत्ति ग्रहण करने की होती है। बाकी सारे के सारे नियम प्रथम प्रतिमा की भाति ही रहते है।

८ वीं प्रतिमा : एक दिन उपवास, एक दिन आयबिल इस तरह महीने तक करे। आयबिल मे 'दत्ति' का नियम नही रहता है।

विशेष नियम :

⊙ गाँव के बाहर रात बिताये या औंधा सोये या करवट के बल लेटे . या सुखासन मे बैठे रहे।

⊙ देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यचकृत घोर उपसर्ग सहन करते रहे।

⊙ अन्य सभी नियम प्रथम प्रतिमा की भाति होते है।

९ वी प्रतिमा तपश्चर्या आठवी प्रतिमा की भाति ही।

⊙ गाव के बाहर रहे।

⊙ उत्कटुक आसन मे बैठे या सर एव पसलिया ही जमीन को छूए उस ढग से सोये या फिर केवल पीठ ही जमीन का स्पर्श करे उस तरह से सोये या पैर लम्बे कर के सोये।

१० वी प्रतिमा तपश्चर्या आठवी-नौवी प्रतिमा की तरह।

⊙ गाँव के बाहर रहे।

⊙ 'गो-दोहिका' आसन मे बैठे या फिर 'वीरासन' से बैठे अथवा तो आम्रवृक्ष की भाति वक्र-आकार मे बैठे।

११ वी प्रतिमा यह प्रतिमा तीन दिन की होती है। पहले दिन एकासन

करे, बाद के दो दिन छट्ठ [दो उपवास] का तप करें। पानी भी ग्रहण न करे।

⊙ गाँव के बाहर कायोत्सर्ग ध्यान में ही रहे।

१२ वीं प्रतिमा चौविहार अट्ठम [तेला] करे।

○ गाँव के बाहर नदी के किनारे पर रहे।

⊙ आँखों की पलकों का झपकाना भी नहीं अपनी दृष्टि को निर्निमेष रखे।

○ कायोत्सर्ग में खड़े रहें।

○ एक ही पदार्थ पर दृष्टि को स्थिर करे [त्राटक करे] चार दिन की यह प्रतिमा होती है। पहले दिन एकासना करे।

इन बारह प्रतिमाओं को ग्रहण करनेवाले महात्माओं को विशिष्ट लब्धियाँ प्रगट होती हैं। अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान भी होता है। यदि गलती करे भूल करे या विराधना करे तो पागलपन या विकार भी बन जाये। रोगी हो जाय या श्रद्धाभ्रष्ट भी हो जाय।

इन्द्रियनिरोध

इष्ट अनिष्ट विषयों में रागद्वेष का अभाव।

इन्द्रियाँ	विषय	इन्द्रियाँ	विषय
१ स्पर्शनेन्द्रिय	स्पर्श	४ चक्षुरिन्द्रिय	वर्ण
२ रसनेन्द्रिय	रस	५ श्रोत्रेन्द्रिय	शब्द
३ घ्राणेन्द्रिय	गंध		

इन्द्रियों को अपने अपने विषयों में [illegible] रोकना [illegible] पहले [illegible] इन्द्रियनिरोध विषय [illegible] [illegible] अनुभव करना [illegible] [illegible] प्राप्त करता है।

प्रतिसंलीनता

विविक्त [illegible] उपकरणों का निर्दोष [illegible]। यह प्रतिसंलीनता [illegible] का [illegible] होती है।

१ समर, २ पारिमा ने भमय एव ३ नाम का।

१. प्राभातिक प्रतिलेखना :

सवेरे दस उपकरणो की प्रतिलेखना करनी होती है ।

१. मुहपत्ति, २ रजोहरण, ३-४ निशिथिक, ५. चोलपट्टक, ६-७-८. तीन वस्त्र[एक उनी दो सूती], ९. सथारा, १०. उत्तरपट्टक ।

'निशीथचूर्णि' एव 'कल्पचूर्णि' के मतानुसार ग्यारहवा उपकरण डडा है ।

प्रतिलेखना का क्रम · सर्वप्रथम मुहपत्ति, फिर रजोहरण, वाहर का निशिथिक, अन्दर का निशिथिक, चोलपट्टक [साध्वी के लिये उनके नियत वस्त्र], पश्चात् तीन कपडे. .उत्तरपट्टा, सथारा एवं डडा ।

सवसे पहले आचार्य वगैरह वडीलो के उपकरणो की प्रतिलेखना करनी चाहिए । इसके वाद अनशन जिन्होने स्वीकारा है वैसे मुनिभगवंतो की, वाद मे ग्लान की-वीमार की, फिर नूतन दीक्षित की, वाद मे स्वय की प्रतिलेखना करनी चाहिए ।

२ पोरिसी समय की प्रतिलेखना :

मुहपत्ति का पडिलेहण कर के, सात उपकरणो की प्रतिलेखना करना । १ गुच्छ, २ पल्ले, ३. पात्र-केसरिका, ४. पात्रवन्ध, ५. पात्रक, ६. रजस्त्राण और ७. पात्र स्थापना ।

३. शाम की प्रतिलेखना :

दिन के तीन प्रहर बीत जाने के पश्चात् चौदह उपकरणो की प्रतिलेखना करनी होती है । १. मुहपत्ति, २ चोलपट्टक, ३ गुच्छ, ४ पात्रप्रतिलेखनिका, ५ पात्रवन्ध, ६. पल्ले, ७. रजस्त्राण, ८. पात्र-स्थापना, ९. मात्रक, १० पात्रक, ११ रजोहरण, १२–१३–१४ तीन कपड ।

वसति प्रमार्जन : जिस मकान मे साधु रहते हो उस मकान में से, सर्दियो मे और गर्मियो मे रोजाना दो वार काजा लेना चाहिए [कचरा निकालना चाहिए] चातुर्मास मे तीन वार काजा (कचरा) निकालना चाहिए ।

गुप्ति

मन-वचन और काया के अशुभ व्यापारों का वर्जन और शुभ में प्रवर्तन उसे 'गुप्ति' कहा जाता है। उसके तीन प्रकार हैं

१ मनोगुप्ति

१ जिससे आर्तध्यान और रौद्रध्यान होता हो वैसी कल्पनाओं एवं धारणाओं का त्याग।

२ शास्त्रानुसारी, परलोकहितकारी वैसा धर्मध्यान बढ़े, वैसी मन की सन्तुलित-तटस्थ वृत्ति रखना।

३ शुभ और अशुभ मन की वृत्तियों को रोकते हुए 'योगनिरोध' के समय अनुभूत होनेवाली आत्मरमणता।

२ वचनगुप्ति

१ मुँह, आँखें और भृकुटी से विकार करना .., उंगलियाँ वगैरह हिलाना, मुँह चिढ़ाना खांसना .. हूं हूं.... आवाज करना .. कंकर वगैरह फेंकना इत्यादि भयसूचक चेष्टाओं का त्याग करते हुए मौन रहना चाहिए।

२ 'मुहपत्ति' से जयणा रखना (बोलते समय सावधान रहना) वाचना-श्रुतदान देते समय, सूत्रार्थ में अपना या औरों का संदेह निवारण करते हुए, लोक अविरुद्ध एवं आगम-अविरुद्ध उपदेश देते हुए मुहपत्ति का उपयोग करना।

३ कायगुप्ति

१ आगमानुसारी प्रवृत्ति के अलावा की तमाम प्रवृत्तियों का त्याग। उपसर्ग और परिषह के समय 'कायोत्सर्ग ध्यान' में से विचलित नहीं होना। 'योगनिरोध' के समय सर्वथा कायव्यापार का त्याग करना।

२ संदेह होने पर जयणापूर्वक और विनयपूर्वक गुरु को पूछने के लिये जाना। उपयोगपूर्वक जमीन एवं संथारे की प्रतिलेखना करना। आगम की आज्ञानुसार ही क्रियाएं करना। इन सब में इच्छानुसार क्रियाओं का त्याग होने से और आगमानुसारिता होने से 'गुप्ति' कही जाती है।

अभिग्रह

अभिग्रह यानी विशिष्ट प्रतिज्ञा

१. द्रव्य अभिग्रह : जैसे कि, 'यदि उड़द के बाकुले [भूने हुए उड़द के दाने] सूपड़े में मिलेंगे तो ही लूंगा।'

२. क्षेत्र अभिग्रह : जैसे कि, 'देहरियों में जकड़ी हुई... एक पैर जिसका दहलीज के बाहर हो... और एक पैर दहलीज के अंदर हो... वैसे देने वाली कोई दान देगी तो ही लूंगा।'

३. काल-अभिग्रह : जैसे कि, 'दिन की दूसरी पोरसी बीतने के बाद ही लूंगा।'

४. भाव-अभिग्रह : मुण्डित मस्तक वाली, दानदेनेवाली स्त्री रोती हुई देगी तो ही लूंगा।'

इन चार प्रकारों में सभी तरह के अभिग्रह समाविष्ट हो जाते हैं।

१३. पर्याप्ति*

एकेंद्रिय से लेकर पंचेंद्रिय तक सभी जीव अपनी अपनी योग्यता के अनुसार, अपने शरीर, इंद्रियाँ, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन का निर्माण करते हैं। यह निर्माण न तो ब्रह्मा करते हैं न ही कोई ईश्वर करता है। हाँ, आत्मा को ही ब्रह्मा कहें या ईश्वर कहें... तो कोई एतराज नहीं है।

शरीर वगैरह का निर्माण करने के लिये जीवात्मा में शक्ति चाहिए। जीव के साथ अनादि काल से तैजस शरीर एवं कार्मण शरीर [सूक्ष्म शरीर] तो होते ही हैं। इसके उपरांत इंद्रियसापेक्ष योग्यता के अनुसार प्रत्येक जीव में एक शक्ति प्रगट होती है। हालाँकि, इस शक्ति की प्राप्ति में 'कर्म' तो सूक्ष्मरूप से कारणभूत होते ही हैं। इस शक्ति का नाम है 'पर्याप्ति'। प्रथम 'कर्मग्रन्थ' की टीका में कहा गया है :

'पर्याप्तिर्नाम पुद्गलोपचयज: पुद्गलग्रहणपरिणमनहेतु: शक्तिविशेष:।'

* श्लोक २२२/२२३

पुदगलो के समूह में से प्रगट होनेवाली और पुदगलो के ग्रहण-परिणमन होने में हेतुभूत शक्ति का नाम है पर्याप्ति ।

शरीर से मन तक की पाचो वस्तुओ का निर्माण पुदगलो से होता है। उन-उन पुदगलो का ग्रहण करना होता है और उन उन पुदगलो से शरीर इत्यादि का निर्माण करना होता है। इस कार्य का करने की आत्मा की शक्ति [औदयिक] का नाम है पर्याप्ति। ये पर्याप्तिया छह प्रकार की है

१ आहार पर्याप्ति
२ शरीर पर्याप्ति
३ इद्रिय पर्याप्ति
४ श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति
५ भाषा पर्याप्ति
६ मन पर्याप्ति

(१) आहार पर्याप्ति

उत्पत्ति के प्रथम समय में ही जीव शरीर के लिये योग्य उपयुक्त, इद्रिया के लिये उपयुक्त, श्वासोच्छ्वास के लिये उपयोगी, भाषा के लिये योग्य एव मन के लिये उपयुक्त पुद्गलो का ग्रहण करता है। जिस शक्ति के सहारे पुद्गल ग्रहण करता है उस शक्ति का नाम है आहार पर्याप्ति ।

(२) शरीर पर्याप्ति

शरीर के लिये योग्य पुद्गलो का ग्रहण कर के रचना करता है। जिस शक्ति से शरीर रचना करता है, उस शक्ति का नाम है शरीर-पर्याप्ति'

(३) इद्रिय पर्याप्ति

इद्रिय के लिये योग्य ग्रहण किये हुए पुदगलो से स्पर्श रसन घ्राण-चक्षु एव श्रोत्र इन पाच इद्रियो की रचना करता है। जिस शक्ति से इद्रिया की रचना करता है, उस शक्ति का नाम है 'इद्रिय पर्याप्ति ।

(४) श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति

श्वासोच्छ्वास के योग्य ग्रहण किये हुए पुदगलो से श्वास(सास) लेने छोडने की शक्ति का निर्माण करता है जिस शक्ति से यह निर्माण करता है उस शक्ति का नाम है 'श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति ।'

(५) भाषा पर्याप्ति :

भाषा के लिये योग्य ग्रहण किये हुए पुद्‌गलो से, भाषावर्गणा के पुद्‌गलो को लेने-छोडने का जो सामर्थ्य उत्पन्न करता है। जिस शक्ति से यह सामर्थ्य पैदा होता है....उस शक्ति का नाम है भाषा पर्याप्ति।

(६) मनः पर्याप्ति :

मन के लिये योग्य ग्रहण किये हुए पुद्‌गलो से, मनोवर्गणा के पुद्‌गलो को लेने-छोड़ने रूप सामर्थ्य उत्पन्न करता है...जिस शक्ति के जरिये यह सामर्थ्य प्रगट होता है...उस शक्ति का नाम है मनःपर्याप्ति।

इन शरीर वगैरह छहो पदार्थो का निर्माण साथ साथ ही होता है, परन्तु समाप्ति क्रमिकरूप मे होती है। चूंकि, आहार वगैरह क्रमशः सूक्ष्म-सूक्ष्म है। स्थूल वस्तु के निर्माण मे कम समय लगता है जबकि सूक्ष्म वस्तु को बनाने मे ज्यादा समय लगता है। आहार सब से स्थूल है, उससे शरीर सूक्ष्म है...शरीर से इन्द्रियां सूक्ष्म है, इन्द्रियो से भी श्वासोच्छ्‌वास सूक्ष्म है। श्वासोच्छ्‌वास से भाषा कही ज्यादा सूक्ष्म है...भाषा से भी सूक्ष्म है मन। इसलिए औदारिक शरीरवाले जीव की आहार-पर्याप्ति एक ही समय मे पूरी हो जाती है। इसके पश्चात् की हर एक पर्याप्ति को पूरा होने मे अन्तर्मुहूर्त [अन्तर्मुहूर्त का समय] लगता है।

दो महिलाए हैं। दोनो को सूत कातना है। दोनो साथसाथ कातने का प्रारंभ करते हैं। परन्तु जिस महिला को मोटा सूत कातना है वह जल्दी जल्दी कात लेगी....पर जिसे बारीक कातना है उसे देर लगती है। इसी भांति, दो शिल्पी है। दोनो को पत्थर तराशना है। दोनो साथ-साथ ही तराशने का कार्य चालू करते हैं। परन्तु जिसे खंभा बनाना है वह जल्दी बना देगा, जबकि जिसे कलात्मक पूतली बनाना है...उसे तराशने मे ज्यादा समय लगेगा। यही नियम शरीर इत्यादि के निर्माण मे लागु होगा।

वैक्रिय शरीर को एवं आहारक शरीर को प्रथम 'आहार पर्याप्ति' एक समय मे पूरी होती है। दूसरी 'शरीर पर्याप्ति' को पूरी होने मे अन्तर्मुहूर्त लगता है। बाद की पर्याप्तिया एक-एक समय मे पूरी होती हैं।

—कुछ एक प्राचीन आचार्यों ने मन को इन्द्रियो के अन्तर्गत समाविष्ट कर के पर्याप्ति की संख्या पाच बतलायी है। 'आगम' मे भी एक स्थल पर मन को भाषा मे समाविष्ट कर के पर्याप्ति की संख्या पाँच बतायी गयी है, पर प्रचलित मान्यता तो 'छह पर्याप्ति' की ही है।

—प्रत्यक जीव को छह की छह पर्याप्तिया नही होती हैं, इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते ह

❀ एकेन्द्रिय जीव को १ से ४ पर्याप्तियाँ होती हैं।

❀ बेईन्द्रिय, तेईन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और असज्ञी [मन वगैरह के] पचेन्द्रिय जीवो का १ से ५ होती हैं।

❀ सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो को १ से ६ होती ह।

— ऐसा कोई नियम नही है कि सभी जीव अपनी तमाम पर्याप्तिया पूरी करते ही हैं। पर्याप्ति पूरी किये बगर भी जीव मर सकता है।

प्रश्न ऐसा क्या होता है ? कोई जीव अपनी सभी पर्याप्तियाँ पूरी करता है और कोई अपने लिये योग्य पर्याप्तियाँ पूरी किये बगर मर जाता है ?

उत्तर इस मे नियामक है उस जीव का अपना अपना कम। नामकम की एक प्रकृति का नाम है 'पर्याप्त'। इस 'पर्याप्त' नाम कम का उदय होता है तो जीव अपनी योग्य पर्याप्ति पूरी कर ही लेता है पर यदि अपर्याप्त नामकम' का उदय होता है तो वह पूरी नही कर सकता और मर जाता है।

प्रश्न अपने लिये योग्य पर्याप्तियो को भी पूरी नही कर पाने वाले जीवो की पहचान किस नाम से दी गई है ?

उत्तर उन जीवो को अपर्याप्त' कहा जाता है। पर्याप्ति पूरी करनेवाले 'पर्याप्त' कहे जाते हैं। 'अपर्याप्त' जीवो मे दो भेद होते हैं

(१) लब्धि अपर्याप्त (२) करण अपर्याप्त

जो जीव अपने लिये योग्य पर्याप्ति पूरी किये बगर मर जाता है उसे लब्धि अपर्याप्त कहते हैं।

जिन जीवो ने अभी अपने लिये योग्य पर्याप्तिया पूरी न की हो [पूर्ण करने का काय चल रहा हो] परन्तु पूर्ण करनेवाले हो, तो उस

समय तक वे 'करण-अपर्याप्त' कहे जाते हैं। हालाकि वे जीव तो 'करण अपर्याप्त' ही होते हैं। उन्हें 'पर्याप्त नामकर्म' का उदय होता है।

इस तरह संक्षेपरूप मे पर्याप्ति का विषय स्पष्ट किया गया है। इस विषय को ज्यादा विस्तार से समझने की जिज्ञासावालो को 'पंचसग्रह', 'तत्त्वार्थभाष्य टीका' वगैरह ग्रन्थो का अध्ययन करना चाहिए।

१४. परावर्तमान प्रकृति

कर्मों के फल की अपेक्षया, कर्मों के कार्य की अपेक्षया, कर्मों के बंध की अपेक्षया, कर्मों के उदय की अपेक्षया, कर्मों के अलग अलग भेद बतलाये गये हैं। जैसे कि शुभ-अशुभ, घाती-अघाती, सर्वघाती-देशघाती, ध्रुवबंधी-अध्रुवबंधी, ध्रुवोदयी-अध्रुवोदयी।

इसी तरह बंध और उदय की अपेक्षया कर्मप्रकृति के दो प्रकार बतलाये गये हैं

१ परावर्तमान, २. अपरावर्तमान।

[1]'जो कर्मप्रकृति अन्य कर्मप्रकृति के बंध या उदय को रोक कर स्वयं बंधे या उदय मे आये, उस कर्मप्रकृति को 'परावर्तमान' प्रकृति कहा जाता है। ऐसी परावर्तमान कर्मप्रकृतियां बंध की अपेक्षया ९१ हैं। और उदय की अपेक्षया ९३ हैं।

निद्रा ५, गति ४, कषाय १६, वेद ३, आयुष्य ४, जाति ५, संघयण ६, संस्थान ६, औदारिक २, वैक्रिय २, आहारक २, आनुपूर्वी ४, विहायोगगति २, त्रस[दशक] १०, स्थावर[दशक] १०, गोत्र २, हास्य १, रति १, अरति १, शोक १, आतप १, उद्योत १

— १६ कषाय + ५ निद्रा = २१ कर्मप्रकृतियां साथ ही बंधती हैं, अर्थात् ये २१ प्रकृतियां बंध की अपेक्षया परावर्तमान नहीं है, परन्तु उदय की अपेक्षया परावर्तमान है। सजातीय अन्य कर्मप्रकृति का उदय रोक कर—हटा कर उदय मे आती है।

*कारिका २२२/२२३

1 विणिवारिय जा गच्छइ बंधं उदयं वा अन्नपगईए।
सा हु परियत्तमाणी अणिवारेंति अपरियत्ता ॥४३॥ —पंचसग्रहे/द्वार-३

—नामकर्म की चार प्रकृतियां स्थिर, शुभ अस्थिर और अशुभ, बंध की अपेक्षया परावर्तमान हैं। अर्थात अस्थिर और अशुभ के बंध को रोक कर स्थिर और शुभ बंधता हैं। इसी तरह स्थिर और शुभ जब बंध रहे हो तब उसे रोक कर अस्थिर-अशुभ बंध सकता है।

इन ७१ [७१+४] के अलावा की ६६ कर्मप्रकृतियां बंध एवं उदय-दोनों की अपेक्षया परावर्तमान है।

—उदय की अपेक्षया मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय ये दो गिनने से ९३ प्रकृतियां परावर्तमान होती हैं।

—जो कर्मप्रकृतियां बंध रही हो, उदय में आ रही हो, तब दूसरी कोई अन्य बंध रही या उदय में आई हुई प्रकृति को रोक न सके उसे **'अपरावर्तमान कर्मप्रकृति'** कहा जाता है। ऐसी २९ कर्मप्रकृतियां हैं। उनके नाम निम्न हैं

[1]ज्ञानावरण ५, अन्तराय ५, दर्शनावरण ४ मिथ्यात्व मोह १, भय मोह १, जुगुप्सा मोह १, पराघात १, तीर्थंकर १, उच्छ्वास १ अगुरुलघु १ निर्माण १ तैजस १, उपघात १, वर्णादि ४ कार्मणशरीर १

१५ पल्योपम*

पल्य यानी प्याला।

प्याले की उपमावाला [तुलनावाला] संख्या का नाप उसका नाम पल्योपम [पल्य + उपमा = पल्योपम]

काल, आयुष्य, भवस्थिति, द्वीप समुद्र पृथ्वीकायादि जीव वगैरह की संख्या नाप वगैरह समझने के लिये 'पल्योपम' के नाप की जरूरत पड़ती है। जहां गणित के आंकड़े नहीं पहुंच सकते हैं वहां इस पल्योपम से [आगे बढ़कर सागरोपम से] संख्या का निर्णय किया जाता है। प्रस्तुत में लोकप्रकाश' ग्रंथ के आधार पर पल्योपम की समझ दी जा रही है।

1 नाणंतरायदसगंदंसणनव पयडि परघायतित्थउस्सासं।
मिच्छभयकुच्छ धुववंधिणीउ नामस्स अपरियत्ता ॥२०॥ —पंचसंग्रह द्वार-३

*कालिका ९ २/७७३

तीन प्रकार के पल्योपम :

[१] उद्धार पल्योपम [सूक्ष्म और बादर]
[२] अद्धा पल्योपम [,, ,, ,,]
[३] क्षेत्र पल्योपम [,, ,, ,,]

उद्धार पल्योपम

[1]एक योजन गहरे, एक योजन चौडे और एक योजन लबे प्याले की कल्पना करे। यानी कि एक विराट कुए की कल्पना करे।

इस कुए मे कल्पना से ही, [2]उत्तर-कुरुक्षेत्र मे जन्मे हुए युगलिक मनुष्य के सर के सात दिन मे उगे हुए बाल, कुए के किनारे तक दबा दबा कर भरो।

[इन बालो के बारे मे पूर्वाचार्यों के अलग अलग मतव्य जानने को मिलते हैं। उपर्युक्त मतव्य 'क्षेत्रसमास बृहद्वृत्ति' ग्रंथ का एव जंबूद्वीप पन्नत्ति ग्रथ का है। 'प्रवचनसारोद्धार' मे एव 'संग्रहणी-बृहद्वृत्ति' में केवल बाल भरने का विधान है। उत्तर कुरुक्षेत्र के युगलिक मनुष्य के बाल भरने का नही कहा गया है। जबकि 'क्षेत्रविचार' की स्वोपज्ञ टीका मे कहा गया है कि . देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्रो मे जन्मे हुए सात दिन के भेड के बच्चे के बाल के सात टुकडे करना . हर एक टुकडे के २० लाख ९७ हजार एकसो बावन टुकडे कर के कुए मे भरना]

—कुए मे इस तरह ठूंस ठूंस कर बाल भरे जायें कि जिससे न तो आग उन बालो को जला सके, न ही पानी उसमे प्रविष्ट हो सके। और चक्रवर्ती राजा की सेना उस कुए पर से गुजर जाये फिर भी एक तिनके जितना भी वह दबे नही...

---

1 उत्सेध अगुल के नाप मे योजन का नाप समझना है। आगम ग्रन्थो मे तीन प्रकार के अगुल बताये गये हैं · १. उत्सेध-अगुल, २. प्रमाण-अंगुल और ३. आत्म-अंगुल।

इन तीन प्रकार के अगुल के प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार है . सूचिअगुल, प्रतरअंगुल और घनागुल।

इनका सविस्तर विवेचन 'द्रव्यलोकप्रकाश' ग्रन्थ मे मिलता है।

2 'उत्तरकुरुक्षेत्र' का वर्णन 'क्षेत्रलोकप्रकाश' ग्रन्थ मे मिलता है।

—इस तरह भरे हुए कुए मे से समय समय पर एक एक बाल के टुकडे को निकाला जाय और इस तरह उस कुए का खाली होने में जितना समय लगे उतने समय को पल्योपम कहते हैं।

—बाल को निकालने [उद्धार करना यानी निकालना] की प्रक्रिया [कल्पना से] करने की होने से उसे 'उद्धार-पल्योपम' कहा जाता है। यह वर्णन बादर-उद्धार पल्योपम का है।

सूक्ष्म-उद्धार-पल्योपम का स्वरुप अब बताया जा रहा है

—जो बाल कुए मे भरने के हैं, उस प्रत्येक बाल के असंख्य टुकडे करें। उन टुकडो से कुए को ठूस ठूस कर भरो। फिर समय समय पर एक एक टुकडा बाहर निकालो। जितने समय मे कुआ खाली हो उतने समय को सूक्ष्मउद्धार पल्योपम कहा जाता है। संख्यातें करोड बरस होते हैं।

अद्धापल्योपम

—पहले की तरह कुए को बालो से भरो। पर उसमे से हर सौ बरस के बाद एक बाल बाहर निकालना। इस तरह सभी बाल कुए से बाहर निकालने के। उसमे जितना समय लगे उस समय का अद्धा पल्योपम कहा जाता है। यह बादर अद्धापल्योपम है।

—बाल के असंख्य टुकडे कर के कुए मे भरा उसम से हर सौ बरस मे एक एक बाल के टुकडे को बाहर निकालो। इसे निकालने में जितना समय लगे उस समय को सूक्ष्म अद्धापल्योपम कहा जाता है।

[1]क्षेत्रपल्योपम

—पहले की भांति ही बाल [अखंड] कुए मे भरो। बालो को बाहर नही निकालना है, पर बाल जिन आकाशप्रदेशो को छूकर रहे हों उन आकाशप्रदेशों को कल्पना से बाहर निकालना है। समय समय पर एक एक आकाशप्रदेश को निकाल कर कुए का खाली करना है। कुआ खाली होने मे जितना समय लगे [असंख्य कालचक्र बीत जायें] उस समय को कहते हैं 'बादर क्षेत्र पल्योपम।'

---

1 दृष्टिवाद के द्रव्य प्रमाण मे सम्मिलित विचार करने के प्रसंग पर कभी यह क्षेत्रपल्योपम उपयोग में आता है।

—बाल के असख्य टुकडे कर के कुए मे भरो। फिर वे बाल के टुकडे जिन आकाशप्रदेशो को छूकर रहे हो और आकाशप्रदेश अनछुए हो, उन सब को बाहर निकालने मे [समय-समय पर] जितना समय लगे उसे 'सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम' कहते हैं।

[1]नाप

- सूक्ष्म उद्धार पल्योपम से द्वीप-समुद्र वगैरह नापे जाते हैं।
- सूक्ष्म अद्धा पल्योपम से काल, आयुष्य, भवस्थिति वगैरह नापा जाता है।
- सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम से पृथ्वीकाय वगैरह जीव नापे जाते हैं।

विशेष जानकारी

१० कोडाकोडी पल्योपम = एक सागरोपम होता है।

१० कोडाकोडी सागरोपम = छह आरे होते हैं।

छह आरा = एक उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी होता है।

उत्सर्पिणी [छह आरा] अवसर्पिणी [छह आरा] = एक कालचक्र होता है।

१६. भव्य-अभव्य

[2]मडित ने श्रमण भगवान महावीरस्वामी से पूछा

जीवत्ते सामण्णे भव्वोऽभव्वोत्ति को भेओ? जीवो मे जीवत्व तो समान है...फिर भव्य-अभव्य का भेद किस लिए?

भगवत ने कहा

'मडित, जीव और आकाश मे द्रव्यत्व, ज्ञेयत्व, प्रमेयत्व समान होते है ना? फिर भी जीव मे जीवत्व, आकाश मे अजीवत्व अलग अलग होते है ना? उसी तरह जीवो मे जीवत्व समान होने पर भी भव्यत्व और अभव्यत्व अलग अलग हो सकते हैं। मोक्षगमन की अपेक्षया ये भेद है। जिस जीव मे मोक्ष जाने की योग्यता होती है वह भव्य कहा

1 यह वर्णन 'कालसप्ततिका' प्रकरण पर आधारित है।

2 श्रमण भगवान महावीरस्वामी के छठे गणधर।

जाता है और जिस जीव मे मोक्ष जाने की योग्यता ही नही हो उसे अभव्य कहा जाता है।

[1]यह भव्य-अभव्य का भेद कर्मजनित नही है, परतु स्वाभाविक है। फिर भी वह भव्यत्व जीवत्व की भाति नित्य अविनाशी नही है। अनादि सात है। चूकि मोक्ष मे गये हुए जीव मे भव्यत्व होता नही है। सिद्ध आत्मा न तो भव्य होते हैं, न ही अभव्य होते हैं।

भव्य जीव के लिये कर्म का सयोग 'अनादि सान्त' होता है, जैसे कि सुवर्ण और मिट्टी का सयोग होता है वैसा। अनादिकालीन सयोग होता है जरूर, पर उसका अत आ सकता है, यह सयोग टूट सकता है।

अभव्य जीव के लिये कर्म का सयोग अनादि अनत होता है। जैसे जीव और आकाश का सयोग होता है वैसा। सयोग अनादिकालीन होता है और अनतकाल तक रहता है। कभी वह सयोग टूटता नही है।

प्रश्न यदि सभी भव्य जीव मोक्ष जानेवाले होगे तो कालक्रम से यह ससार भव्य जीवो से रहित नही हो जायेगा क्या? ससार मे फिर अकेले अभव्य जीव ही रह जायेंगे क्या? जैसे कि अनाज का कोठार भरा हुआ हो, उसमे से थोडा थोडा अनाज कम होता रहे तो कालक्रम से सारा कोठार खाली हो जाता है, वैसे ही क्रम से कम, छह महीने मे तो एक जीवात्मा मोक्ष मे जाता ही है ऐसा नियम है ना? काल अनत है, अत ससार मे भव्य जीव रहेंगे ही नही।

उत्तर ऐसी कल्पना करने की आवश्यकता नही है। जिस तरह भविष्यकाल अनत है और आकाश अनत है उसी तरह भव्य जीव भी अनत है। भूतकाल और भविष्यकाल समान है। भूतकाल मे एक निगोद के अनतवे भाग के भव्य जीव मोक्ष मे गये हैं और भविष्यकाल मे भी उतने ही मोक्ष मे जायेंगे। इसलिये कभी भी यह ससार भव्य जीवो से खाली होनेवाला नही है। याद रखना कि भव्य जीव भी काल और आकाश की तरह अनत हैं।

दूसरी बात [2]जितने भव्य जीव है, जिन मे मोक्ष मे जाने की योग्यता

---

1 भव्वाऽभव्वा सभावओ —विशेषावश्यक भाष्य

2 भण्णइ भव्वा जोग्गो न य जोगत्तेण सिज्झइ सव्वो।
जह जोग्गम्मि वि दलिए सव्वत्थ न कीरए पडिमा॥ —विशेषावश्यक भाष्य

है, वे सभी जीव मोक्ष में जायेंगे ही — वैसा कोई नियम नही है । मोक्ष-गमन की योग्यता हो, परंतु योग्य सामग्री मिले तो ही मोक्ष मे जाया जा सकता है । जैसे सुवर्ण-पाषाण या लकडी—इन सब मे मूर्ति बनने की योग्यता है, परन्तु सब मूर्तियाँ बनती नही हैं । सभी पाषाण मे या सभी काष्ठ मे मूर्तिया नही तराशी जाती है । जिसे योग्य सामग्री मिलती है, उसकी ही मूर्ति बनती है ।

या फिर : अनादि-सयुक्त सुवर्ण और मिट्टी, योग्य सामग्री मिलने पर ही अलग होते हैं । सामग्री नही मिलने पर तो अनत अनत काल तक भी अलग नही होते हैं । अर्थात् योग्यता हो पर योग्य सामग्री मिलती है तब ही कार्य होता है, नही मिले तो कार्य नही होता है । अयोग्यतावाले को योग्य सामग्री मिलने पर भी कार्यसिद्धि नही होती है ।

— [1]भव्य जीव को, योग्य सामग्री मिले तब ही मोक्ष जा सकता है ।
— अभव्य जीव को योग्य-सामग्री मिलने पर भी वह मोक्ष मे जायेगा ही नही !
— भावो की अपेक्षया 'भव्यत्व' और 'अभव्यत्व' को 'पारिणामिक' भाव मे समाविष्ट किया गया है । अर्थात् भव्यत्व-अभव्यत्व के भाव, कर्म के उदय से या उपशम से या क्षय अथवा क्षयोपशम से पैदा नही होते हैं । वह अनादि सिद्ध आत्मद्रव्य के अस्तित्व से ही सिद्ध है ।

१७. निर्ग्रन्थ, स्नातक

सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र की शुद्धि-अशुद्धि की अपेक्षया श्रमणो के पाँच प्रकार बतलाये गये है । सभी श्रमणो का चारित्रपालन एक सा नही होता है । शारीरिक बल और मानसिक बल का तारतम्य और कर्मो के उदय की विचित्रता के कारण चारित्रपालन मे भी तारतम्य बना रहता है ।

श्रमणो के ५ प्रकार :

१. पुलाक, २ बकुश, ३ कुशील, ४ निर्ग्रन्थ, ५ स्नातक

इस विषमकाल मे पुलाक, निर्ग्रन्थ और स्नातक कक्षा के श्रमण नही हो सकते हैं । अभी तो बकुश और कुशील कक्षा के श्रमण होते हैं ।

1 तह जो मोक्खो नियमा सो भव्वाणं न इयरेसिं ।। — विशेषावश्यक भाष्ये

विशुद्धि का तारतम्य

- अध्यवसायों की सबसे कम विशुद्धि पुलाक की होती है।
- उससे ज्यादा विशुद्धि बकुश की होती है।
- उससे ज्यादा विशुद्धि कुशील की होती है।
- उससे ज्यादा विशुद्धि निर्ग्रन्थ की होती है।
- उससे ज्यादा विशुद्धि स्नातक की होती है।

प्रस्तुत में निर्ग्रन्थ और स्नातक — इन दो कक्षा के श्रमणों के बारे में विस्तृत जानकारी देना है। इनके अलावा के अन्य श्रमणों के बारे में 'पंचनिर्ग्रन्थी' नामक प्रकरण में से जानकारी मिल जायेगी।

निर्ग्रन्थ

ग्रन्थ यानी गांठ। ग्रन्थ यानी बंधन। जो ग्रन्थरहित बनते हैं उन्हें निर्ग्रन्थ कहा जाता है। ग्रन्थ-गांठ दो प्रकार की होती है

१ द्रव्य गांठ और २ भाव गांठ।

धन, धान्य, जौहरात, सोना, जमीन, पशु, मनुष्य वगैरह को द्रव्यगांठ कहा जाता है।

मिथ्यात्व, कषाय, नोकषाय को भाव गाँठ कहा जाता है।

इन दोनों प्रकार की गांठों का त्याग करनेवाले निर्ग्रन्थ कहे जाते हैं। ये श्रमण निर्ग्रन्थ १ उपशामक और २ क्षपक दो प्रकार के होते हैं। अर्थात् कर्मों का उपशांत करनेवाले और कर्मों का नाश करनेवाले होते हैं।

स्नातक

घातीकर्म रूप मल को शुक्लध्यान रूप पानी से धोकर शुद्ध बने हुए ये स्नातक श्रमण होते हैं। ये श्रमण वीतराग-सर्वज्ञ होते हैं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानक पर ही होते हैं। अनंतज्ञान अनंतदर्शन के धारक होते हैं।

इन दो श्रमणों की इतनी प्राथमिक जानकारी देने के पश्चात् अब संक्षेप में, पर सूक्ष्म बातों से भरपूर जानकारी दी जा रही है।

द्वार	निर्ग्रन्थ	स्नातक
१ वेद	उपशांत/क्षीणवेदी	क्षीणवेदी
२. राग	उपशात/क्षीणरागी	क्षीणरागी
३ कल्प	कल्पातीत	कल्पातीत
४. सयम	यथाख्यात	यथाख्यात
५ प्रतिसेवना	नही	नही
६ ज्ञान	प्रथम के चार	केवलज्ञान
७. तीर्थ	तीर्थ मे/अतीर्थ मे	तीर्थ मे/अतीर्थ मे
८ वेश	जैन साधु का अन्य साधु का गृहस्थ का भाव मे जैन का ही ।	जैन साधु का अन्य साधु का गृहस्थ का भाव मे जैन का ही ।
९ शरीर	औदारिक/तैजस/कार्मण	औदारिक/तैजस/कार्मण
१०. क्षेत्र	कर्मभूमि/अकर्मभूमि	कर्मभूमि/अकर्मभूमि
११ काल	सभी काल मे	सभी काल मे
१२. गति	अनुत्तर देव	मोक्ष
१३ सयमस्थान	एक	एक
१४ सनिकर्ष	स्नातक के जितने	निर्ग्रन्थ के जितने
१५. योग	तीनो योग	योगी/अयोगी
१६. उपयोग	साकार/निराकार	साकार/निराकार
१७ कषाय	उपशात/क्षीण	अकषायी
१८ लेश्या	शुक्ल लेश्या	शुक्ल लेश्या
१९ परिणाम	वर्धमान/अवस्थित	अवस्थित
२० बधन	शाता वेदनीय	शाता/अबधक
२१ उपसपदहान	कषाय कुशील हो, स्नातक हो या अविरत हो ।	सिद्ध हो ।
२२ सज्ञा	सज्ञावश नही हो	सज्ञावश नही हो
२३. आहार	आहारी	आहारी/अणाहारी
२४ उदय	मोहनीय के बिना ७	अघाती
२५. उदीरणा	वेद आयु मोह. बिना ५	नाम गोत्र/१४ वे पर नही

द्वार	निर्ग्रन्थ	स्नातक
२६ भव	जघन्य से १ उत्कृष्ट मे ३	ज उ १ ही
२७ आकर्ष	जघन्य मे १ उत्कृष्ट मे ३	जघन्य/उत्कृष्ट १ ही
२८ काल	जघन्य १ समय उत्कृष्ट अन्तमुहूर्त	जघन्य १ समय उत्कृष्ट देशोन पूर्व कोटि
२६ समुदघात	एक भी नही	केवलि समुदघात
३० अतर	जघन्य १ समय उत्कृष्ट ६ महीना	नही होता ।
३१ क्षेत्र	लोक का असख्यातवा हिस्सा	लोक के असख्यातवे हिस्से मे/समग्र लोक म
३२ स्पर्शना	क्षेत्र से कुछ अधिक	क्षेत्र स कुछ अधिक
३३ भाव	उपशम/क्षायिक	क्षायिक
३४ परिमाण	१ मे १६२ तक	१०८ कोटि पृथक्त्व
३५ अल्पबहुत्व	सब मे थोडे	पुलाक स सख्यात गुन

और ज्यादा स्पष्ट एव विस्तृत जानकारी क लिय 'पचनिर्ग्रन्था प्रकरण' का अध्ययन करना चाहिए ।

१८ केवलज्ञान

[1]इन चार स्थानो स निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो को केवलज्ञान केवल दर्शन उत्पन्न होता ह (१) जो स्त्रीकथा भोजनकथा, देशकथा और राजकथा नही करते ह (२) जो विवेक स अशुद्धि का त्याग कर के

*गाथा २६८

1 चउहि ठाणेहि णिग्गथाण वा णिग्गथीण वा अतिसेसे नाणदसणे समुप्पज्जिउकामे ... इत्थिकह भत्तकह देसकह रायकह णो कहेत्ता भवइ । विवेगेण विउस्सग्गेण सम्ममप्पाण भावेत्ता भवइ । पुव्वरत्तावरत्तकालसमयसि धम्मजागरिय जागरित्ता भवइ । फासुयस्स एसणिज्जस्स उछस्स सामुदाणियस्स सम्म गवेसइत्ता भवइ ।
—ठाणागसूत्रे / स्थान-४

आत्मा को सम्यगरूप मे भावित करते हैं, (३) जो रात्रि के पूर्व भाग मे और पिछले हिस्से मे धर्मजागरिका करते रहते हैं... (४) जो प्रासुक-एषणीय भिक्षा की गवेषणा करते हैं । ऐसे निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी यदि केवलज्ञान-केवलदर्शन की इच्छावाले होते हैं तो उन्हे वह उत्पन्न होता है ।

'केवल' शब्द का अर्थनिरूपण

'केवलमेग सुद्ध सगलमसाहारण अणंत च ।'

- 'एकम् – सहायता बगैर का । केवलज्ञान को किसी भी इन्द्रिय की सहायता अपेक्षित नही होती ।
- शुद्धम् – निमल । कर्मों के आवरणरूप मल-मैल का सपूर्णतया नाश होने से उत्पन्न होने के कारण ।
- सकलम् – परिपूर्ण-सपूर्ण ज्ञेय पदार्थों का यह ज्ञान ग्राहक होने से ।
- असाधारणम् – अनन्यसदृश । इससे बढकर और कोई ज्ञान है ही नही ।
- अनन्तम् – अन्त बगैर का । इस ज्ञान का अत कभी भी नहीं आता है ।

केवलज्ञान के और भी दो अर्थ दिये गये हैं

सासयमप्पडिवाई :

- शाश्वतम् – हमेशा उपयोगयुक्त ।
- अप्रतिपाती – सदा अवस्थायी [रहनेवाला]

प्रश्न : जो शाश्वत् होता है वह अप्रतिपाती तो होता ही है, फिर 'अप्रतिपाती' अलग विशेषण क्यो ?

उत्तर : **'शश्वद् भवं शाश्वतम्'** इस व्युपत्ति अर्थ के मुताबिक 'जो अनवरत होता है वह 'शाश्वत्' वैसा अर्थ होता है । परतु इस अर्थ मे से 'अप्रतिपाती' का अर्थ स्फुट नही होता है । 'अनवरत होनेवाला ज्ञान कितने समय तक रहेगा ?' इस प्रश्न को अवकाश रहता है । उसका जवाब है : अप्रतिपाती । यानी कि अनवरत-निरतर उपयोगवाला वह ज्ञान सदाकालीन होता है ।

केवलज्ञान का लक्षण

⊙ सकलवस्तु प्रकाशस्वभाव केवलज्ञानम अथवा

⊙ निखिल द्रव्य पर्यायसाक्षात्कारिस्वरुप केवलज्ञानम ।

— जिसका स्वभाव समस्त वस्तुओ का प्रकाशित करने का हो उसे केवलज्ञान कहते हैं। अर्थात समस्त द्रव्यो का, उनके तमाम पर्याय सहित साक्षात्कार करवाने के स्वभाव वाला यह केवलज्ञान है ।

केवलज्ञान आत्मा का स्वभाव

आत्मान स्वभाव एतत केवलज्ञानम ।

केवलज्ञान यह आत्मा का स्वभाव है ।

प्रश्न केवलज्ञान यदि आत्मा का स्वभाव है तो वह सदा क्यों नही रहता है ?

उत्तर ज्ञानावरणादिक रुप जो अनादि मल है उससे वह आवृत्त है, आच्छादित है, इसलिये वह सदा उपलब्ध नही होता है। उस अनादि कर्ममल का क्षय होने पर केवलज्ञान उपलब्ध होता है ।

प्रश्न कर्ममल अनादि होने से उसका क्षय सभव नही होगा न ? आकाश और आत्मा का सयोग अनादि है । अत जसे उसका वियोग नही होता है वसे कर्म और आत्मा का सयोग अनादि होने से उसका वियोग नही हो सकता ।

उत्तर आत्मा और कर्म का सयोग, आकाश आत्मा की तरह नही, परतु सुवर्ण मिट्टी की भाति है । ज्यो मिट्टी का क्षय होने पर सुवर्ण-सोना शुद्ध होता है वसे कर्मों का नाश होने पर आत्मा शुद्ध होती है और केवलज्ञान कि जो आत्मा का शुद्ध स्वभाव है वह प्रगट होता है ।

केवलज्ञान आत्मस्वभाव होने पर भी केवलज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसा कहा जाता है, वह इस ज्ञानावरणादिरुप मल के नाश की अपेक्षया कहा जाता है । 'केवलज्ञान प्रगट होता है,' इसी अर्थ में 'उत्पन्न होता है' यो कहा जाता है । इस तरह केवलज्ञान को सादि-अनत कहा गया है। आत्मा की सत्ता में रहे हुए केवलज्ञान को जीव की भाति अनादि अनत भी कहा जा सकता है ।

केवलज्ञान लोकालोक-प्रकाशक कैसे ?

'केवलज्ञान द्रव्य नहीं है... अद्रव्य है, इसका अर्थ 'केवलज्ञान नहीं है' वैसा नहीं करना है, परन्तु 'केवलज्ञान द्रव्याश्रित गुण है,' वैसा करना है। केवलज्ञान आत्मगुणरूप है, इसीलिये वह आत्मस्थ ही होता है।

प्रश्न : धर्मास्तिकायादि की सहाय से आत्मा लोकान्त तक तो जा सकती है, इससे आत्मा को लोकव्यापी तो मानी जा सकती है और केवलज्ञान को भी लोकव्यापी मान सकते हैं, परन्तु आत्मा अलोक में तो जाती नहीं, तो फिर आत्मा में रहे हुए केवलज्ञान अलोक-प्रकाशक कैसे बनेगा ? अतः आत्मा को सर्वव्यापी-विभु माननी चाहिए तब ही आत्मस्थ केवलज्ञान लोकालोक-प्रकाशी बन सकता है।

उत्तर : नहीं, चैतन्य की उपलब्धि शरीर में ही होती है और इसलिये आत्मा की अवगाहना शरीर के प्रमाण जितनी ही होती है। शरीरप्रमाण अवगाहना वाली आत्मा है। उस आत्मा में रहा हुआ केवलज्ञान लोकालोकप्रकाशक है। केवलज्ञान की गति-अगति नहीं होती है। आत्मा से अलग केवलज्ञान हो नहीं सकता। लोक में या लोकान्त पर रही हुई आत्मा का केवलज्ञान लोकालोकप्रकाशक बन सकता है।

— आत्मा सर्वव्यापी नहीं है। [द्रव्य की अपेक्षया] परन्तु उसका गुण केवलज्ञान सर्वव्यापी है।

— एक अपेक्षया ज्ञान और ज्ञानी अभिन्न हैं, इस अपेक्षया आत्मा को भी सर्वव्यापी कहा जा सकता है।

— ज्ञान वह आत्मा का पर्याय है। इस पर्याय की अपेक्षया आत्मा को सर्वव्यापी कहा जा सकता है।

केवलज्ञानी की देशना :

'केवलज्ञान प्रगट होने के बाद, यदि वह आत्मा तीर्थंकर होती है [या तिर्थंकर नहीं भी होती है] तो वह सकल जीवसृष्टि के अनुग्रह के लिये देशना देती है, जैसे कि सूर्य प्रकाश देता है। उस देशना का ध्वनि द्रव्यश्रुतरूप होता है और द्रव्यश्रुत भावश्रुत के बिना हो नहीं सकता ! तो क्या केवलज्ञानी को श्रुतज्ञान होता है ?

'कयनज्ञान होने के पश्चात मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान नहीं होते हैं।' इस सिद्धांत को मद्दनजर रखते हुए यह जिज्ञासा उठायी गयी है। इस जिज्ञासा का समाधान नंदीसूत्र में बड़ा युक्तियुक्त किया गया है।

मूत अमूर्त, अभिलाप्य अनभिलाप्य आदि सभी द्रव्यों को, सभी पर्यायों को केवलज्ञान से ही तीर्थंकर वगैरह जानते हैं। श्रुतज्ञान से नहीं जानते हैं। क्योंकि श्रुतज्ञान क्षायोपशमिक होता है। केवलज्ञानी को तो चारों ही घाती कर्मों का सर्वथा क्षय हो गया होने से क्षयोपशम भाव होता ही नहीं है।

केवलज्ञानी जिन अर्थों को जानते हैं, उसमें जिन्हें प्ररुपित करना शक्य हो [कहे जा सकें] वैसे भाव होते हैं वे ही कहते हैं। प्ररुपित नहीं हो सकते हों उस भाव कहते नहीं हैं।

प्रश्न क्या केवलज्ञानी प्रज्ञापनीय प्ररूपणीय सभी अर्थ कहते हैं?

उत्तर नहीं सभी प्रज्ञापनीय अर्थ नहीं कह सकते हैं। चूंकि आयुष्य तो परिमित सीमित होता है, जबकि कथनीय भाव अपरिमित होते हैं। इसलिये, ग्रहण करने की क्षमता को आंक कर वे कथनीय भाव कहते हैं।

प्रश्न उस अर्थकथन के लिये जिस शब्दसमूह का उपयोग होता है वह द्रव्यश्रुत कहा जायेगा या नहीं?

उत्तर नहीं, वह 'वचनयोग' होता है। केवलज्ञानी का वचनयोग होता है। वचनयोग कर्मोदयजन्य होता है। श्रुतज्ञान तो क्षायोपशमिक होता है। केवलज्ञानी को वह होता नहीं। उन्हें तो क्षायिकज्ञान ही होता है।

प्रश्न वचनयोग चाहे नामकर्म के उदय से हो परन्तु बोले जाने वाले पुद्गलात्मक शब्दों का क्या?

उत्तर वे पुद्गलात्मक शब्द, श्रोताओं के भावश्रुत का कारण बन सकते हैं, उस अपेक्षा उसे 'द्रव्यश्रुत' कहा जा सकता है परन्तु भावश्रुत नहीं कहा जा सकता।

[1]श्री इन्द्रभूति गौतम भगवान महावीर से पूछते हैं :

'हे भदंत, समुद्घात कितने हैं और कौन कौन से हैं ?'

'हे गौतम, समुद्घात सात प्रकार के हैं, वे इस तरह :

१ वेदना समुद्घात, २ कषाय समुद्घात, ३ मरणान्तिक समुद्घात ४ वैक्रिय समुद्घात, ५ तैजस समुद्घात, ६. आहारक समुद्घात, ७ केवली समुद्घात

* एक से छह तक के समुद्घात छद्मस्थ जीव को होते हैं, अतः इन्हें छाद्मस्थिक समुद्घात कहा जाता है।
* सातवाँ समुद्घात सर्वज्ञों को होता है, अतः इसे केवली समुद्घात कहा जाता है।

वेदना–समुद्घात

वेदना से दुःखी हुई आत्मा, अनंत कर्मों से आवरित आत्मा के आत्मप्रदेशों को शरीर में से बाहर निकाले और शरीर के मुँह वगैरह जो पोले [खाली] हिस्से हैं उन्हें आत्मप्रदेशों से भर देती है। शरीर-प्रमाण आत्मा व्यापक बनकर अन्तर्मुहूर्त तक रहती है। उस अन्तर्मुहूर्त में अशाता-वेदनीय कर्म के बहुत से अंश नष्ट हो जाते हैं। इस तरह एक अन्तर्मुहूर्त तक का समय 'वेदना-समुद्घात' का होता है।

कषाय समुद्घात :

कषायों से व्याकुल जीवात्मा, शरीर के पोले [खाली] हिस्सों को आत्मप्रदेशों से भर कर, शरीरव्यापी बनाकर, एक अन्तर्मुहूर्तकाल में कषाय-मोहनीय कर्म के काफी अंशों को नष्ट कर देता है।

मरणान्तिक समुद्घात :

मृत्यु के भय से व्याकुल बना हुआ जीव, जब एक अन्तर्मुहूर्त का आयुष्य बाकी रहा हो तब शरीर के पोले हिस्सों को आत्मप्रदेशों से भर कर, शरीर जितनी मोटाई-चौड़ाईवाला बन जाता है। परंतु लंबाई

1 कति णं भंते, समुग्घाया पण्णत्ता? गोयमा, सत्तसमुग्घाया पण्णत्ता, तं जहा वेदणासमु. कसायसमु. मारणंतियसमु. तेयासमु. आहारसमु. केवलिसमुग्घाते।

— प्रज्ञापनासूत्रे / पद–३६

म जघन्य म अंगुल के असंख्यातवें भाग जितना और उत्कृष्ट में एक दिशा में उत्पत्तिस्थान तक असंख्य योजन के जितना बनता है। फिर बाद म, अंतर्मुहूर्त-काल में आयुष्य कर्म के बहुत से दलिकों का नाश कर के मृत्यु प्राप्त करता है।

वैक्रिय समुद्घात

वैक्रिय शक्तिवाला जीव, शरीर म स आत्मप्रदेशों को बाहर निकाल कर शरीर के पोले [खाली] हिस्सों को आत्मप्रदेशों से भरता है। मोटाई-चौड़ाई म शरीरप्रमाण हो जाता है। परंतु लंबाई में संख्यात योजन की दंडाकृति बनाता है। अंतर्मुहूर्त काल इस तरह रहकर 'वैक्रिय शरीर नामकर्म' के बहुत से दलिकों को नष्ट कर देता है।

तैजस समुद्घात

'तेजोलेश्या' नामक शक्ति का धारक जीव, वैक्रिय समुद्घात की तरह ही अपने शरीर प्रमाण मोटा-दुबला बनता है और संख्यात योजन के जितनी दंडाकृति बनाकर अंतर्मुहूर्त बाद म तैजस क अंशों का नाश करता है।

आहारक समुद्घात

आहारक लब्धिवान चौदह पूर्वधर आहारक शरीर बनाते हैं। उस शरीर को बनाकर विसर्जित करते समय यह समुद्घात करते हैं। वे भी शरीर में से आत्मप्रदेश बाहर निकाल कर शरीर के जितनी मोटाई-चौड़ाई करते हैं। संख्यात योजन के जितनी दंडाकृति बनाते हैं, और अंतर्मुहूर्त काल में काफी पुराने एवं सारे आहारक पुद्गलों को नष्ट करते हैं।

केवली समुद्घात

यह समुद्घात मात्र सर्वज्ञ वीतराग ही करते हैं। इस समुद्घात का समय केवल आठ समय का ही होता है। [इस समुद्घात का विस्तृत वर्णन प्रस्ताव न. २६४-२६५ में कर दिया गया है अतः यहाँ पर नहीं लिखा गया है।]

छाद्मस्थिक समुद्घात के बारे में विशेष :

- [1]१ से ५ [वेदना, कषाय, मरण, वैक्रिय, तैजस] समुद्घातो का सभी जीवो ने सभी जातिओ मे [एकेन्द्रिय वगैरह] अनत बार अनुभव किया हुआ होता है ।
- कुछ एक लघुकर्मी जीवो को एक भी समुद्घात का अनुभव नही हुआ हो, वैसा भी हो सकता है । कुछ को एक-दो समुद्घात का ही अनुभव हो, वैसा भी हो सकता है। कुछ भारीकर्मी जीव सख्यात, असख्यात और अनत समुद्घातो का अनुभव भी करते है ।

सूक्ष्म अनादि निगोद के जीव निगोद मे दो-तीन समुद्घात का ही अनुभव करते हैं पर अनतवार ।

एक जीव की अपेक्षया समग्र ससारकाल मे आहारक समुद्घात चार बार ही हो सकता है । [2]चौथा आहारक समुद्घात करनेवाली आत्मा उसी भव मे सिद्ध हो जाती है ।

[3]समुद्घात के आश्रयभूत कर्म .

वेदना	अशाता—वेदनीय कर्म
कषाय	चारित्र मोहनीय कर्म
मरण	आयुष्यकर्म

1 आद्या पञ्च समुद्घात सर्वेषामपि देहिनाम् ।
अनुभूता अनन्ता स्युर्यथास्व सर्वजातिषु ॥ —द्रव्यलोकप्रकाशे

2 इह यश्चतुर्थवेलमाहारक करोति स नियमाद् तद्भव एव मुक्तिमासादयति ।
—प्रज्ञापना-टीकायाम्

3 असद्वेद्यादिश्रितश्चाद्यो मोहनीयाश्रित परम् ।
अन्तमुहूर्तशेषायु सश्रित स्यात्तृतीयक ॥२७५॥
तुर्यपञ्चमषष्ठाश्च नामकर्म समाश्रिता ।
नामगोत्रवेद्यकर्मसश्रित सप्तमो भवेत् ॥२७६॥ —द्रव्यलोकप्रकाशे

वेयणकसायमारण-वेउव्वियतेउहारकेवलिया ।
सग पण चउ तिन्नि कमा मणुसुरनेरइयतिरियाणं ॥ —पचसग्रहे

वैक्रिय	नामकर्म
तैजस	नामकर्म
आहारक	नामकर्म
केवली	नाम, गोत्र वेदनीयकर्म

अजीव समुद्घात

ऊपर जो समुद्घात बताये गये हैं, उन सात समुद्घातों को जीव अनुभव करते हैं। जबकि अजीव-समुद्घात अनुभवरूप नहीं है। चूंकि अजीव को अनुभूति हो ही नहीं सकती। स्वभाव से उत्पन्न हुए पुद्गल परिणाम से 'अचित्त महास्कंध' रूप समुद्घात होता है। उसका काल आठ समय [काल का सूक्ष्म अंश] का होता है।

चार गति मे समुद्घात

- मनुष्यगति में — सात
- देवगति में — पाँच
- नरकगति में — चार
- तिर्यंचगति में — तीन
- मनुष्यगति में सातों समुद्घात का सेवन है। क्योंकि मनुष्य में सभी भाव संभवित है।
- देवगति में १ से ५ समुद्घात ही होते हैं। देव को चौदह पूर्व का ज्ञान नहीं होता। इसलिए आहारक समुद्घात नहीं होता और देव मरते तो हो नहीं सकते अतः केवली समुद्घात भी नहीं होता।
- नरकगति में १ से ४ समुद्घात ही होते हैं। आहारक और केवली समुद्घात तो ऊपर के कारणों से नहीं होते, जबकि नरक के जीव को तेजोलेश्या की लब्धि नहीं होती, अतः तैजस समुद्घात भी नहीं होता।
- तिर्यचगति में [वैक्रिय लब्धिवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय और वायुकाय के अलावा] १ से ३ समुद्घात ही होते हैं। चूंकि तिर्यंचों को वैक्रिय लब्धि नहीं होने से वैक्रिय समुद्घात उनके नहीं होता है।

२० योग*

मन-वचन-काया की क्रिया वह है 'योग' ।

मन के चार, वचन के चार, और काया के सात योग है। जैन-दर्शन मे कुल पंद्रह योग बतलाये गये है।

मनोयोग के चार प्रकार :

१. सत्य मनोयोग **३. सत्यासत्य मनोयोग**

२. असत्य मनोयोग **४. असत्यामृषा मनोयोग**

१ सत्य के दो अर्थ है : पदार्थ का यथावस्थित चिंतन वह है सत्य। मोक्षमार्ग के आराधको के लिये जो हितकारी है वह है सत्य। किसी भी बात या वस्तु के बारे मे सर्वज्ञ के वचन अनुसार चिंतन करना वह सत्य मनोयोग है। जैसे कि : 'जीव है, नित्यानित्य है, काय-प्रमाण है, कर्म बांधता है. .कर्म भुगतता है...' वगैरह ।

२ किसी भी बात या वस्तु के बारे मे सर्वज्ञवचन की परवाह किये बिना विचार करना, उसका नाम है असत्य मनोयोग । जैसे कि 'जीव नही है ' या 'जीव नित्य ही है. अकर्ता है.. निर्गुणी है.. स्वकर्म को भोक्ता नही है ..!'

३ जिस विचार मे—चिंतन मे कुछ सत्य हो और कुछ असत्य हो, उसे सत्यासत्य मनोयोग कहा जाता है । जैसे कि किसी जंगल मे कुछ आम्रवृक्ष हो, कुछ पीपल के पेड हो, कुछ बबूल के वृक्ष हो, और बहुत से अशोक वृक्ष हो.. उस जंगल को देखकर सोचे कि 'यह अशोक वृक्षो का वन है,' तो वह सत्यासत्य मनोयोग बनेगा । अशोक वृक्ष है, इसलिये सत्य और दूसरे वृक्ष भी होने से असत्य ! यह योग व्यवहार-नय की अपेक्षया है । निश्चयनय की दृष्टि से तो यह भी असत्य मनोयोग ही है ।

४ जिस चिंतन मे सत्य भी नही हो. असत्य भी नही हो, केवल स्वरूप का ही चिंतन हो, उसे असत्यामृषा मनोयोग कहा जाता है । जैसे कि 'मुझे देवदत्त के पास से गाय लानी है, या उसे सुवर्ण का घडा देना है ।' इस विचार मे सत्य-असत्य जैसा कुछ भी नही है...., इसलिये इसे असत्यामृषा मनोयोग कहा जायेगा ।

*कारिका २७३

वचनयोग के चार प्रकार

१ सत्य वचनयोग	३ सत्यामृषा वचनयोग
२ असत्य वचनयोग	४ असत्यामृषा वचनयोग

वचन में ये चारों योग मनोयोग के चार प्रकारों की तरह ही है। केवल विचार या चिंतन की जगह यहाँ पर वचन (भाषा-व्यवहार) ऐसा समझना है। मनोयोग में मानस की क्रिया है, वचनयोग में वाचन की क्रिया है।

सत्य और असत्य मनोयोग एवं वचनयोग व्यवहार नय की अपेक्षा है। निश्चयनय की दृष्टि से सम्यक् दृष्टि (जिनवचन में श्रद्धा) वाला हो वह ज्ञान और वचन सत्य है। और अज्ञानादि से दूषित आत्मा वाला हो वह सब ज्ञान और वचन असत्य है। अर्थात् निश्चय से दो ही प्रकार का मन व वचन है—सत्य और असत्य।

भाषा और वचनयोग में भेद

प्रश्न : आगम में भाषा का वर्णन वचनयोग से अलग किया गया है तो इन दोनों में भेद क्या है?

उत्तर : वचनयोग भाषा का प्रवर्तक बनता है। आत्मा काययोग से भाषावर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करता है और वचनयोग से उन पुद्गलों को छोड़ता है। छोड़ते समय भाषा [illegible] होता है। [आवश्यक-बृहद्वृत्ति में इस तरह का कथन है]

इसीलिए [illegible] बात तो अलग ही है। मनोयोग और वचनयोग—दोनों एक प्रकार से काययोग ही है। यदि किन्हीं जीवों का काययोग नहीं होता है उन मनोयोग या वचनयोग भी नहीं होता। जिस तरह परमात्मा को काययोग नहीं होता तो दूसरे भी योग नहीं होते हैं।

आत्मा का [illegible] होता है [illegible] होता है। वचनयोग में [illegible] और मनोयोग में [illegible] होता है। [illegible] का [illegible] है।

जीव उत्पत्ति के प्रथम समय मे, तेजस-कार्मण शरीर के द्वारा जो निरन्तर आहार करता है और फिर शरीररचना पूरी हो वहा तक मिश्र शरीर से जो आहार करता है वह 'ओज आहार' है । वक्रगति-मे जो आहार करता है वह ओज आहार है, शरीर के आधाररूप पुद्गलो को स्पर्शन वगैरह इन्द्रियो के स्पर्श से जो आहार ग्रहण होता है उसे 'लोमाहार' कहते है ।

एकवक्रा, द्विवक्रा, त्रिवक्रा और चतुर्वक्रा गतियो मे बीच का समय निराहार-अनाहार होता है और पहला-अन्तिम समय आहारयुक्त होता है ।

■ **एकवक्रा गति** . जब जीव उर्ध्वलोक की पूर्वदिशा मे से अधो-लोक की पश्चिम दिशा मे जाता है तब वह वक्रगति 'एकवक्रा' कहलाती है । यह वक्रगति दो समय की होती है । प्रथम समय मे जीव सीधा अधोलोक मे जाता है, दूसरे समय मे तिरछा अपने उत्पत्ति स्थल मे पहुँच जाता है ।

❀ **द्विवक्रा गति** उर्ध्वलोक के अग्निकोण मे अधोलोक के वायव्य-कोण मे जीव जाता है तो 'द्विवक्रा' गति कहा जाता है । इस गति मे तीन समय लगता है । पहले समय मे समश्रेणि से नीचे जाता है । दूसरे समय मे तिरछा पश्चिम दिशा मे जाता है और तीसरे समय मे तिरछा वायव्यकोण मे जाता है ।

❀ त्रस जीवो की वक्रगति इन दो प्रकार की ही होती है । स्थावर जीवो की वक्रगति चार-पॉच समय की भी होती है । प्रथम समय मे त्रस नाडी के बाहर अधोलोक की विदिशा मे से दिशा मे जाता है । दूसरे समय मे त्रसनाड़ी मे प्रविष्ट होता है । तीसरे समय मे उपर जाता है और चौथे समय मे त्रसनाड़ी मे से बाहर निकल कर, अपना उत्पत्तिस्थल जिस दिशा मे होता है वहा जाता है ।

❀ **त्रिवक्रा गति** जीव को दिशा मे से विदिशा मे जाना हो तो पहले समय मे त्रसनाड़ी मे प्रवेश कर के, तीसरे समय मे उपर जाता है, चौथे समय मे नीचे जाता है और पॉचवे समय मे त्रसनाडी के बाहर विदिशा मे अपनी उत्पत्ति की जगह पर चला जाता है ।

- मुँह में कौर भरना प्रक्षेप करना उसका नाम है प्रक्षेप आहार। यह प्रक्षेपाहार एकेन्द्रिय जीवों को, देवों को और नारकी के जीवों को नहीं होता है।

- अपर्याप्त जीवों को ओज आहार होता है। [ओज आहार अनाभोग से ही होता है] सर्वपर्याप्ति से अपर्याप्त जीवों को ओज आहार होता है।

- पर्याप्त जीवों को लोमाहार और प्रक्षेपाहार होता है। पर्याप्तियाँ पूरी होने पर गर्भस्थ जीव को लोमाहार होता है। प्रक्षेपाहार तो वह तब करता है जब मुँह में कौर डालता है।

- एकेन्द्रिय जीव, देव और नारक को प्रक्षेपाहार नहीं होता है परन्तु पर्याप्ति पूरी करने के बाद स्पर्शनेन्द्रिय से 'लोमाहार' करता है।

- देव मन में शुभ पुद्गलों का चिंतन करते हैं तब समग्र शरीर में पुद्गल आहाररूप में परिणत होते हैं। ये शुभ पुद्गल होते हैं। नारक अशुभ पुद्गलों का चिंतन करते हैं तब समग्र शरीर में अशुभ पुद्गल आहाररूप में परिणत होते हैं।

- औदारिक शरीरवाले बेइन्द्रिय आदि तिर्यंचों को एवं मनुष्यों को प्रक्षेपाहार होता है।

[1]कुछ एक आचार्यों का कहना अलग है

वे कहते हैं
— जिह्वेन्द्रिय से स्थूल शरीर में जो आहार का प्रवेश होता है वह प्रक्षेपाहार,
— घ्राणेन्द्रिय से, चक्षुरिन्द्रिय से और श्रवणेन्द्रिय से जो आहार ग्रहण होता है और धातुरूप में परिणत होता है वह है ओज आहार।
— जो आहार स्पर्शनेन्द्रिय से ग्रहण हो और धातुरूप में परिणत होता है वह लोमाहार है।

---
1 सूत्रकृतांग श्रुतस्कंध–२/अध्ययन–

न्द्रियादि जीवो मे भी सज्ञाओ का होना स्वीकार किया गया है। मन विना के जीवो को 'ओघसज्ञा' होती है।

- सज्ञा के मुख्य दो प्रकार है

  १ ज्ञानरुप और २ अनुभवरुप

- ज्ञानरुप सज्ञा मे पाँच प्रकार के ज्ञान को समाविष्ट किया गया है। इस अपेक्षया केवलज्ञानी को भी 'सज्ञी' कहा जा सकता है।

- अनुभवरुप सज्ञा, अशातावेदनीय कर्म के एव मोहनीय कर्म के उदय से होती है। उनके चार प्रकार हैं .

१ आहार संज्ञा	[अशातावेदनीय के उदय मे]
२ भय सज्ञा	[मोहनीय कर्म के उदय से]
३ मैथुन सज्ञा	[,,]
४. परिग्रह सज्ञा	[,,]

भगवतीसूत्र के सातवे शतक के आठवे उद्देशक मे दस सज्ञाएँ बतायी गयी है और ये दस सज्ञाए सभी जीवो मे होती हैं, ऐसा कहा गया है।

दस सज्ञाओं के नाम :

१. आहार	६. मान
२ भय	७ माया
३ मैथुन	८ लोभ
४ परिग्रह	९ लोक
५ क्रोध	१० ओघ

एकेन्द्रिय जीवो मे भी ये दस सज्ञाए होती है, इस बात को पेड का उदाहरण देकर सिद्ध की गई है।

१, पेड जल का आहार करता है।

२ पेड को भय भी होता है. .भय के बिना वह सकुचित नही हो।

३ वेल पेड से लिपटती है..यह परिग्रह सज्ञा है।

४ 'कुरवक' नामक पेड से स्त्री जब लिपटती है तब वह फल देता है। यह मैथुन सज्ञा का सूचक है।

५ रक्त जलकमल हुँकार करता है, वह क्रोध संज्ञा का सूचक है।

६ 'रुदती' नामक बेल करती है, यह मान संज्ञा का सूचक है।

७ लताएं अपने फल ढक रखती है, यह माया संज्ञा का सूचक है।

८ पृथ्वी पर किसी स्थान पर निधान खजाना गड़ा हुआ होता है वहां पर भी कुछ पौधे नील पलाश वगैरह उग आते हैं, यह लोभ संज्ञा का सूचक है।

९ रात पड़ती है तो कमलपुष्प संकुचित हो जाता है, यह लोक संज्ञा का सूचक है।

१० पेड़ पर लता चढ़ती है, यह ओघसंज्ञा का सूचक है।

- मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से शब्दार्थविषयक सामान्य बोध होता है, उसका नाम है ओघ संज्ञा और विशेष बोध प्राप्त होता है वह कहलाती है लोकसंज्ञा।
- 'आचारांग सूत्र' की टीका में कहा गया है बेल जो पेड़ से लिपटती हुई ऊपर चढ़ती है वह अव्यक्त संज्ञा है। इसी तरह जिसका उपयोग अव्यक्त हो उसका नाम है ओघ संज्ञा। और लोगों में अपनी अपनी कल्पना के अनुसार जो विकल्प रचे हों [जैसे कि श्वान यक्षरूप है, ब्राह्मण देवरूप है, कौए पितृरूप हैं, पक्ष की हवा से गर्भ रहता है वगैरह] इन सब को लोकसंज्ञा कहा जायेगा।

'आचारांगसूत्र' में सोलह संज्ञाएं भी बतायी गयी हैं। उपर्युक्त दस संज्ञाएं उपरांत अन्य छह संज्ञाएं निम्न हैं

१ मोह, २ धर्म, ३ सुख, ४ दुःख ५ शोक और ६ जुगुप्सा।

- अन्य ढंग से भी तीन प्रकार की संज्ञाएं बतायी गयी हैं।

१ दीर्घकालिकी २ हेतुवादी ३ दृष्टिवादी।

- काफी समय पहले बनी हुई घटनाओं की स्मृति में ताजा होना और भविष्य में क्या करना है इस बात का चिंतन होना उसका नाम है दीर्घकालिकी संज्ञा।
- अपने सुख के लिए जीव अपने को इष्ट हो इसमें प्रवृत्त होता है और अनिष्ट से निवृत्त होता है, उसका नाम है हेतुवादी संज्ञा।

- सम्यग्दृष्टि जीव जो उपदेश देते हैं, वह दृष्टिवाद सज्ञा कही जाती हे ।

चार गतियों मे सज्ञाओ का अल्प–बहुत्व

नरक मे मैथुन सज्ञावाले जीव सब से थोड़े । आहार-सज्ञावाले सख्यातगुने, परिग्रह सज्ञावाले सख्यातगुने, भय सज्ञावाले उससे भी सख्यातगुने हैं ।

तिर्यंच मे : परिग्रह सज्ञावाले सब से थोड़े, उससे मैथुन सज्ञावाले सख्यातगुने । उससे भय सज्ञावाले सख्यातगुने और आहार सज्ञावाले उनसे भी सख्यातगुने हैं ।

मनुष्य मे : भय सज्ञावाले सब से थोड़े । उससे आहार सज्ञावाले सख्यातगुने । उससे परिग्रहसज्ञा वाले सख्यातगुने और मैथुन सज्ञावाले उससे भी सख्यातगुने हैं ।

देव में आहार सज्ञावाले सब से थोड़े, उससे भय सज्ञावाले सख्यातगुने, उससे मैथुनसज्ञावाले सख्यातगुने और उससे भी परिग्रह सज्ञावाले सख्यातगुने ।

इस तरह 'सज्ञाओ' का जो वर्णन आगमग्रन्थों में किया गया है वह यहा पर प्रस्तुत किया है ।

श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट मेहसाना के

स्थायी सहयोगी

१	श्री सपतराज एम. महेता	भीवंडी
२	,, लालचन्द, मनोहरमल, हुकमीचंद बद	सोलापुर
३	,, लक्ष्मीलाल सपतलाल लुंकड	,,
४	मोहनलाल भेरुलाल कोठारी	,,
५	,, समीरमल विजयचंद निमाणी	,
६	,, केशवजीभाई (फशन कानर)	,,
७	, मूलचन्द वेलाजी	,,
८	,, चुनीलाल मूलचन्द संघवी	,
९	,, वाडीलाल जीवन देसाई	,,
१०	,, मोतीलाल गुलाबचन्द शाह	,,
११	, विजयकुमार हरखचंद एण्ड कंपनी	,,
१२	,, जनता रेडिमेड क्लॉथ स्टोअर्स	,,
१३	,, विजय आईल मील	,
१४	बंबी डॉल ड्रेस मेन्यु कंपनी	,,
१५	सौ पद्मावेन रमणिकलाल शाह	,
१६	श्री एन. शंकरलाल एण्ड सन्स	
१७	, कोठारी ब्रदर्स	,,
१८	,, एम. भंडारिया	,,
१९	,, फुटरमल जेठमल शाह	,,
२०	,, मामराज फकीरचन्द बंब	,
२१	, गुमानमलजी दोशी	(विले पारले, बम्बई)
२२	,, शांतिलालजी संघवी	मालपुर
२३	, मीठालालजी चोधरी	,,
२४	श्री चान्दमलजी लूणिया	मालपुर
२५	, पुखालालजी कोचर	,
२६	, वलाम हाजियरी माट	
२७	पुनमचन्द शिवलाल शाह	
२८	,, पन्नालाल दामोदरदास पटणी	
२९	,, अशोककुमार शांतिलाल	,,

३०	,,	चादमल जवानमल मुणोत	,,
३१	,,	सीरेमल खेमचन्द	,,
३२	,,	महावीर टी सेन्टर	,,
३३	,,	रीखवचन्दजी लखमाजी	,,
३४	,,	मूलशकर जयशकर वोरा	,,
३५	,,	वाफणा ब्रदर्स	,,
३६	,,	लालचन्द अम्बालाल	,,
३७	डॉ	वामतीवेन एन मुनोत	,,
३८	श्री	जगदीश हीरजी राभिया	,
३९	,,	वेवी वेअर (छगनलालजी कवाड)	,,
४०	,,	भीमराज रतनचन्द	,,
४१	,,	जैन श्राविका सघ	,,
४२	,,	गिरिधर गोपाल मोनी	,,
४३	श्रीमती	विमलादेवी एन जोटा	वम्बई
४४	श्री	पी सी वरडीया	,,
४५	,,	वावुलालजी चदनमलजी	थाणा [ववई]
४६	,,	हीराचन्दजी वैद	जयपुर
४७	,,	मानमलजी लूणिया	डोडवालापुर
४८	श्रीमति	कमलावाई हीराचन्दजी गुलेच्छा	मद्राम
४९	श्री	नागोतरा टेक्सटाईल्स	,,
५०	,,	नाकोडा टेक्सटाईल्स	,,
५१	,,	भीखमचन्दजी वैद	,,
५२	श्री	जैन श्राविका सघ	,,
५३	श्रीमति	मूलीवाई आर जैन	,,
५४	श्रीमति	मछीवाई पुनमचन्दजी	,,
५५	श्रीमति	मोहिनीवाई जुगराजजी मूथा	,,
५६	श्री	निहालचन्दजी रूपराजजी भडारी	,,
५७		राका मेटल कोर्पोरेशन	,,
५८	श्रीमति	कुसुमवहन माणकचन्दजी वेताला	,,
५९	श्री	एस देवराजजी जैन	,,
६०	,,	कोचर टेक्सटाईल्स	,,
६१	सुश्री	जसकुवर रमणिकलालजी	,,
६२	श्री	वच्छराजजी कवराडावाले	,,

६३ ,, श्री विजयराज जैन ,,
६४ ,, बॉम्बे स्टील हाउस
६५ मनोहरमल शांतिमलजी नाहर ,
६६ ,, ज दीपचन्दजी सचेती ,
६७ , रीखबदासजी चौमनाजी (पाल्टी-मिशरीवाले),मद्रास
६८ श्रीमति नवुतनाबाई शेषमलजी पडया
६९ श्री अभयकरणजी तेजराजजी कोठारी मद्रास
७० स्वदेशी ग्लास हाउस कोयम्बतूर
७१ श्री सुगनराज चन्नालाल
७२ लक्ष्मी हाल ऊटी
७३ श्री चंदनमलजी गालचन्दजी बाफना
७४ ,, फतेहमल माहनलाल सियाल
७५ पारस मुथा एन्ड कंपनी बेंगलोर
७६ श्रीमति पवनकंवर छगनलालजी [पामावावारा]
७७ श्री के एम गान्धिया
७८ , एम कपूरचन्द एन्ड कंपनी ,
७९ , मिश्रीमलजी प्रतापमलजी श्रीश्रीमाल
८० ,, जैन नाविना संघ
८१ ,, धनराजजी जुगराजजी महता ,
८२ , मागीलाल धनराज जिदाणिया गदग
८३ ,, धनरूपचन्दजी ग्रट ...यावर



श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट

कम्बोई नगर के पास, मेहसाना–३८४००२

श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट : मेहसाना

द्वारा प्रस्तुत

आजीवन सदस्य योजना

क्या आप ऐसा साहित्य खोज रहे है

- जो आपके व्यक्तिगत जीवन को पवित्रता से भर दे !
- जो आपके पारिवारिक जीवन को प्रसन्नता से भर दे !
- जो आपके आसपास को आनंद एवं उल्लास से भर दे !

तो आप एक काम कीजिये !

१००१/– रु भरकर ट्रस्ट के आजीवन सदस्य बन जाईये !

हम आपको हमारे उपलब्ध हिंदी-अंग्रेजी तमाम प्रकाशन भेज देंगे, सदस्य बनते ही ३००/– रु की किताबे आपको प्राप्त हो जायगी। उपरांत प्रतिवर्ष ४–५ नयी पुस्तकें नियमित भेजते रहेंगे।

अध्यात्मिक विकास के लिये तत्वचिंतन, स्वस्थ जीवन के लिए मौलिक चिंतन, अंतरंग समस्याओं को सुलझानेवाला पत्र-साहित्य, जीवन के शाश्वत मूल्यों को उजागर करनेवाला कथा-साहित्य, बच्चों के लिए प्रेरणापद सचित्र रंगीन साहित्य, यह सब प्राप्त करने के लिए सदस्यता फार्म मँगवाकर भरें। अथवा श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट मेहसाना इस नाम का ड्राफ्ट निम्न पते से भेजें।

पत्र व्यवहार —

श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट
कम्बोइनगर के पास मेहसाना–३८४००२ (Gujarat)

श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट मेहसाना द्वारा प्रकाशित

हिन्दी साहित्य

- धम्मं सरणं पवज्जामि भाग १/२/३/४ ८०-००
- प्रशमरति भा १ २०-००
- प्रशमरति भा २ २०-००
- प्रीत किये दुख होय २०-००
- न म्रियते १०-००
- नैन बहे दिन रैन १०-००
- सबसे ऊंची प्रेम सगाई १०-००
- तीन पुरुषार्थ ७-००
- जैन धर्म ७-००
- राग-विराग ६-००
- पथ के प्रदिप ३-००
- मांगलिक ३-००
- चैत्यवंदन सूत्र ३-००
- प्रार्थना १-००
- संस्कार गीत १-००
- बच्चो की सुवास २-००
- बच्चो का जीवन २-००
- बच्चो का चिंतन २-००
- बच्चो का धर्मविज्ञान ४-००
- बच्चो का कर्मविज्ञान ४-००
- बच्चो का आत्म विज्ञान ४-००

कथा संपुट

- कथा दीप
- सूरज की पहली किरण
- कमल कोमल
- श्रद्धा के प्रतीक
- वीणा की झंकार
- मंगल मंदिर
- फूल पत्ती
- गुलमोहर
- समर्पण
- धूप सुगंध

[कीमत १०-५०]

मिनि पुस्तिका सेट

- मनोमंथन
- मन प्रसन्नता
- प्रेरणा पीयुष
- विचार दीप
- स्वस्थ जीवन
- चिंतन दीप
- सहज जीवन
- गुण दृष्टि
- स्वच्छ जीवन
- परमात्म श्रद्धा
- विचार कण
- हंसा तो मोती चुगे
- पाथेय
- जीवन धर्म [१-५०]

[प्रत्येक ३२ पेज, जेबी साईज कीमत १-००]

निकट भविष्य मे :-

- ज्ञानसार (संपूर्ण)
- जिन्दगी इम्तिहान लेती हैं
- यही है जिंदगी
- मारग साचा कौन बतावे ?
- जिन दर्शन
- Way Of Life Part 2/3/4
- Chaityavandan sutras in English

अंग्रेजी साहित्य

- A code of conduct 6-00
- Treasure of mind 5-00
- Guidelins of jainism 10-00
- Science of Children [3 Books] 12-00
- 3 Books for children 6-00
- Way of life (part-1) 30
- 13 Mini Booklets (each-1-50